CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्री शिवाष्टोत्तरशतनाम

9.3

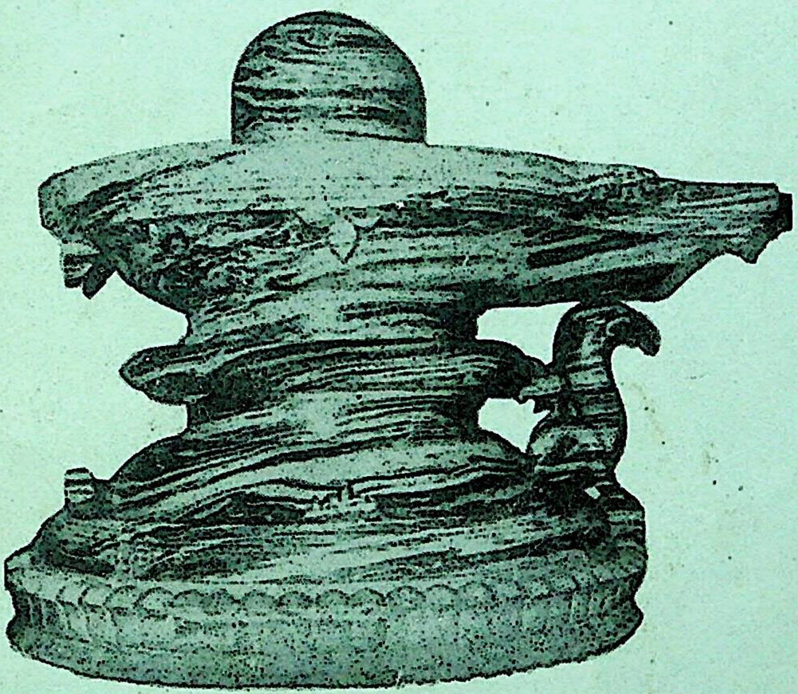

व्याख्याकार

श्री स्वामी स्वयं प्रकाशगिरि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शिवाष्टोत्तरशतनाम

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजक श्री १०८
स्वामी स्वयम्प्रकाशगिरि
द्वारा व्याख्यात

—: प्रकाशक :—
श्री दक्षिणामूर्त्ति मठ, प्रकाशन
वाराणसी

विक्रम संवत् २०५५
पुत्रदा एकादशी

संख्या ५००

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुस्तक-प्राप्ति स्थान

१. श्री दक्षिणामूर्त्ति मठ, डी ४९/९, मिश्रपोखरा, वाराणसी

२. श्री विश्वनाथ संन्यास आश्रम, श्रीराम रोड, दिल्ली

३. श्री शंकर मठ, आबू पर्वत

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण

द्वितीय मुद्रण

—: मुद्रक :—

निर्मल चित्रण, ५/१६१, सौंठ की मण्डी, आगरा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषय-सूची

प्राक्कथन v

अर्बुदेश्वरसुप्रभातम् viii

अर्बुदेश्वरमङ्गलम् व्याख्यान सहित ix

अष्टोत्तरशतनामावली स्तोत्रम्

अष्टोत्तरशतनामस्तोत्र व्याख्या

१०८ नामावली पूजा के लिये २०८

छन्द सूची २१२

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्राक्कथन

संसार में सभी ईश्वरवादियों में ईश्वर के नामों का आवर्त्तन साधना का प्रधान अंग होता है। मुसलमानों में अल्लाह के निन्यानबे नामों का महत्त्व सर्वाधिक माना गया है। ईसाइयों में भी यह प्रथा है। आर्यसमाज में भी स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने वैदिक नामों का संग्रह सत्यार्थप्रकाश में आवर्त्तनार्थ बखाना है। सन्त मत में एवं उसी की शाखा नानक के सिख पन्थ में भी नाम माहात्म्य वर्णित है। जो ईश्वर के निराकार उपासक हैं वे भी नाम उपाधि को तो स्वीकारते ही हैं। देवतारूप से अनेक रूपों को अस्वीकारते हुये भी अनेक नामों से किसी का विरोध नहीं है।

नाम संग्रहों में प्रधान व सर्वप्रथम संग्रह यजुर्वेद का नमकाध्याय निर्विवाद है जिसमें शिव के सैकड़ों नामों का ग्रहण है। इसीलिये महाभारत, पुराण, आगम आदियों में करीब दस नामावली शिव के १००८ नामों की मिलती है। इतने अधिक नामसंग्रह अन्य किसी देवता के नहीं हैं। विष्णुसहस्रनाम वैष्णवों में व ललिता सहस्रनाम शाक्तों में सर्वाधिक प्रचलित संग्रह हैं। गणेशजी के १२ नाम सभी कार्यों के आरंभ में लेना हिन्दू परम्परा का अभिन्न अंग है। सूर्य के भी इसी प्रकार सूर्य नमस्कार में प्रसिद्ध १२ नाम हैं क्योंकि नमस्कारप्रियः सूर्यः होने से उस रूप में ही नाम ग्रहण प्रचलित है।

यद्यपि एक मंत्र का आवर्त्तन भी किया जाता है। परन्तु आदमी प्रायः कुछ भिन्नता होने पर कार्य को रुचि से करता है। अतः गुणों का, क्रियाओं का, आभूषणों का, परिवार देवताओं का, वाहनों का, चरित्रों का, स्वरूपों का अंगोपांगसहित वर्णन इन नामों में होने से रुचिवर्द्धन के साथ ज्ञानवर्द्धन व मनन का अवसर भी सहस्रनामों में हो जाता है। अतः इनका महत्त्व स्पष्ट है। शिव के नामों में यहाँ प्रकटित १०८ नाम विशेष महत्त्व के हैं। आज के व्यस्त युग में १००८ नामों का आवर्त्तन कई लोगों को दुष्कर लगने लगा है। इसीलिये प्राचीन आचार्यों ने पहले से ही संक्षेप में १०८ नामों का महत्त्वपूर्ण संग्रह कर दिया था। यद्यपि इन नामों का शब्द से उच्चारण, नमः के साथ फूल, अक्षत, फल, दक्षिणाद्रव्य आदि चढ़ाना तथा स्वाहा के साथ हवन करना हमेशा अनेक कामनाओं की पूर्त्ति के लिये प्रचलित रहता आया है, फिर भी निष्काम वेदान्ती साधकों के लिये अर्थज्ञानपूर्वक मनन अधिक लाभकारी होने से इस पर संस्कृत टीकाएँ लिखी गईं। पर हिन्दी में अभी ऐसा कोई प्रयत्न नहीं हुआ। श्री दक्षिणामूर्त्ति मठ के श्रीमत्परमहंस स्वामी स्वयम्प्रकाशगिरि जी महाराज ने इस कमी को दूर करके हिन्दी शैव जगत् का अभूतपूर्व उपकार किया है। आप वेदान्त के मूर्धन्यविद्वान तो हैं ही वर्तमान ग्रंथ देखने से आपका व्याकरण, साहित्य, छन्द, अलंकार, मीमांसा, पुराण, इतिहास व आगमों के अगाध ज्ञान का परिचय मिलता है। आपने इस ग्रन्थ के बहाने शैव उपासकों को शिवसम्बन्धी ज्ञान का ऐसा संग्रह दिया है जो दीर्घकाल तक साधकों का सर्वस्व बना रहेगा। हमें तो इस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ग्रन्थ को शैवसर्वस्व कहना समीचीन लगता है। प्रत्येक नाम को इसमें जिस विस्तार से समझाया है किसी भी प्राचीन संस्कृत टीकाकार ने भी नहीं समझाया है। भास्करराय का व्याख्यान उनका पाथेय अवश्य है परन्तु उसका व़िस्तार अद्भुत विद्वान् आचार्य ने किया है। हमें पूर्ण विश्वास है कि वे वेदान्त साधकों का ऐसा उपकार करते रहेंगे। भगवान् दक्षिणामूर्त्ति उन्हें दीर्घ जीवन एवं सर्वविध सफलता देवें यही हमारा नित्य उनके प्रति आशीर्वाद है।

आगरा के श्री निर्मल चित्रण ने इसका मुद्रण अल्पकाल में एवं अति सुन्दर रूप से निष्काम भाव से किया है एतदर्थ उनको भी हमारा आशीर्वाद है।

पुत्रदा एकादशी
२०४८ वि.

भगवत्पादीयो
महेशानन्दगिरिः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

अर्बुदेश्वरमङ्गलम्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्बुदेशसुप्रभातम्

गौरीमुखेऽञ्जनमिव प्रसृतं तमः खे
निद्रेव ते नयनयो रजनी प्रयाता ।
श्रान्तेरिवाङ्गमपहाय जगाम चन्द्रः
सूषां च ते सुदिनमर्बुदविश्वनाथ ॥ १ ॥

सत्कर्मणाऽऽत हि कषायमिव त्रियामा
वैराग्यतोऽजनि मुमुक्षिततेव सूतः ।
भास्वानुदेष्यति यथा श्रवणेन बोधः
सूषा च ते सुदिनमर्बुदविश्वनाथ ॥ २ ॥

म्लानं न लज्जितमुमामुखपङ्कजं स्यात्
सन्ध्यां द्विधा हि विदधौ विधिरादरेण ।
पूर्वा तयोरुपगता तदु दर्शनीयं
सूषा च ते सुदिनमर्बुदविश्वनाथ ॥ ३ ॥

सिस्नासवो मुनिवरा मयि किन्नु कुर्याम्
स्त्रीजातिरेव चपलेति वदिष्यतीशः ।
यास्यामि चेदिति विमुह्यति जह्नुकन्या
सूषा च ते सुदिनमर्बुदविश्वनाथ ॥ ४ ॥

स्मृत्त्वा महद्भयमुमेश बिभेति भानुः
सम्मीलिते कथमहं नयने ह्युदेमि ।
आख्याति मन्त्रमभयं कृणुहीति भक्त्या
सूषा च ते सुदिनमर्बुदविश्वनाथ ॥ ५ ॥

उद्गीथमोमथ च हाइ पठन्ति विप्रा
गायन्ति गीतिनिपुणा मृदु भैरवादिम् ।
उक्त्वा गुणानि प्रमथाः स्ववचः पुनन्ति
सूषा च ते सुदिनमर्बुदविश्वनाथ ॥ ६ ॥

अर्बुदेशसुप्रभातषट्कं श्रीगुरुपादयोः ।
अर्प्यते भक्तितः शान्तिं भिक्षमाणेन भिक्षुणा ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

अर्बुदेश्वरमङ्गलम्

अथार्बुदेश्वरविश्वनाथमङ्गलाशंसनम् । नन्वप्राप्तस्य तथात्त्वेनाभिमतस्य वाशा समस्ति, भगवांस्तु मङ्गलविग्रहः 'ते रूपं कल्याणतममि' ति श्रुतेः (ईश. १६), तत्कुतस्तस्य तदाशंसनमिति चेत् ? तत्रेदं वक्तव्यम्–

श्रीमदर्बुदेश्वरोऽसि मङ्गलं ब्रूमहे कथं समर्थता न हि ।
दीक्षितैस्त्वयैव नेति वाक्यतो- ऽमङ्गलत्त्वमेव ते निषिद्ध्यते ॥ १ ॥

श्रीमदिति । सत्यं, शिवोस्ति मंगलं, परं 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्ये' (२.९.१ तै.) त्यादि श्रुतेरेवमसाववाच्य इति तद्विषये मूकीभावे प्राप्तेऽतद्व्यावृत्त्या श्रुतिर्यथा तमाचष्टे तथान्येऽपि किमिति न कथयेयुः ? असामर्थ्यं शब्दस्यास्माकं च द्रष्टव्यम् । आद्यस्य तु परस्य जात्याद्यभावादस्माकं च चित्तचांचल्यादिदोषात् । तत्र कुतो मंगलं शम्भुरित्याह– श्रीमदित्यादिना । श्रीमांश्चार्बुदश्चेश्वरश्चेति समासः । श्रीर्माया । तद्वान् सृष्टिकर्तेत्यर्थः । मायया हि जनयति जगत् 'मायाभिः पुरुरूपमीयते' (बृ. २.५.१९) इति श्रुतेः । अर्ब हिंसायामपि प्रसिद्धः । कर्तरि विच्, 'विजुपे छन्दसी' त्यारभ्य 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्त' इत्युक्तेः (३.२.७३–७५) अर्बति हिनस्तीत्यर्ब्, तस्मा उदेतीत्यर्बुदो (रोगादिः) । एतेन स्थितिकर्तोच्यते तदा हि सर्वान् हिनस्ति कर्मशृंखलयाऽऽबध्य । ईश्वरेति संहर्त्रोक्तिः । संहारेणैवैश्वर्यख्यापनमीश्वरस्य, मृत्योरपि मृत्युस्तदा स दृश्यते । तस्माज्जगज्जन्मस्थितिभंग-करत्वान्मंगलम् । यद्वा, अर्बुदनिवारण ईश्वर इति मध्यमपदलोपः । संसाररोगनिवर्तकः पर एव । सूर्यकान्तमुपारूढं न्यायं सर्वत्र योजयेदिति वृद्धोक्तेः । दैव्योभिषक्, भिषजां भिषक्तममित्यादिश्रुतेश्च । श्रीमांश्चासावर्बुदेश्वरः श्रीमदर्बुदेश्वरः । अतएव मंगलम् । एव निषिध्यतइत्येवकारो न मंगलस्वरूप व्यावर्तक उपक्रमविरोधात्, किन्तर्हि ? स्वव्यापारस्येयत्ताद्योतनार्थः । अस्माकं व्यापारोऽमंगलनिषेधमात्रं करोति, मांगल्यं तु स्वप्रकाशेनैव भासत इति । लक्ष्यव्यक्तिरपि ब्रह्म सत्यत्वं न जहाति न इति कल्पद्रुमोक्तेः । यद्वा निषिद्ध्यतएवेत्यन्वयः । शिवोऽमंगलमिति पापिष्ठानां भ्रमो व्युदस्यत इत्यर्थः । तइत्यपादानार्थे षष्ठी त्वत्त इत्यर्थः । अमांगल्यं भगवति नेत्यमांगल्यात्यन्ताभाव उक्तेऽमंगलभेदोऽर्थसिद्धः स च मंगलरूप एवेतीष्टसिद्धिः । अत्र स्तोत्रे श्येनीवृत्तम् । 'श्येनी र्जौ र्लौग्' इति पैंगलसूत्रम् । प्रतिचरणं रगणो जगणो रगणो लघुर्गुरुश्चेत्येतद्वृत्तं श्येन्याख्यं स्यादिति सूत्रार्थः ॥१॥

मङ्गलशब्दार्थं वदन्नीशस्य तत्त्वं साधयन्नुक्तमेव व्यनक्ति–

मङ्गति प्रभो हिताय सर्वदा मङ्गति व्यथा प्रसादमात्रतः ।
मङ्गलं भवानथाप्यवाच्यतो - ऽमङ्गलेतरत्त्वमर्थये तव ॥ २ ॥

मंगतीति । मगि गतौ भौवादिकः । 'मंगेरलच्' (उण. ५.७०) इति सिद्धिः । मंगति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हितार्थं सर्पति, मंगति दुरदृष्टमतइति वा व्युत्पत्तिः । आद्यपादाभ्यामुभयथा भगवतो मांगल्यमुक्तम् । ननु पूर्वमर्बुदत्वमवोच इह च सर्वदा हितायेति विरोधो ? मैवम्, 'तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाये' (बृ. २.५.१९) ति श्रुतेरर्बुदरूपताऽपि हितायैव । सर्वदेति सर्वेषामुपलक्षणम् । न कस्यचनाहिताय महेश्वरः, समेषां तन्मात्रत्वात् प्रेक्षापूर्वकारिणश्च स्वाऽहितासंभवात् । हितायेति हितप्राप्तय इत्यर्थः । हितं प्रापयत्येव भगवांस्तत्र समर्थत्वादित्याह–प्रभो ! अप्रभुर्हीच्छति न च कर्तुं शक्नोति । अयं न तथा । नन्वहितलाभो दृश्यते ? न, उक्तोत्तरत्वात् । दुःखनिवृत्तये शिवकृपैवालं ततोऽपि मंगलं स इति द्वितीय पादार्थः । शिवकृपा नाम केत्यतआह–प्रसादेति । अचंचलचित्ततामात्रतः शिवबोधाविर्भावो गीताष्टादशे भाष्य उक्तः । तत एव व्यथानिवृत्तिः । सर्वदेत्यत्रापि सम्बद्ध्यते । त्रैकालिकनिवृत्तेरिष्टत्वात् । मनः प्रसादश्च सौम्यत्वादेरुपलक्षणम् । विनेशकृपां प्रसादादेरसंभवः । तत्सम्पत्त्यैव प्रसादलाभो निश्चीयते । न केवलमुक्तरूपतः, यद्यल्लोके मंगलत्वेनाभिमतं तदपि शंभुरेव 'यद्यद्विभूतिम' दित्यादि स्मृतेरित्याह–मंगलं भवानिति । न हि नाम दध्यादि मंगलमपि तर्हि तथावस्थितो महादेव एव । अथशब्दो यद्यप्यर्थोऽपिशब्दस्तथाप्यर्थः । ननु दध्यादि शंभुश्चेत्कृतं साधनया तस्यायत्नलभ्यत्वादित्याशंक्य मंगलपदं लौकिकमंगले व्युत्पन्नमपि परपरतायां लौकिकाशं त्यजत्यतो लक्षणैव परमाहेत्याह–अवाच्यतइति । तदेतत्सर्वज्ञगुरुभि र्निपुणतरमुपपादितम् । अवाच्यतइति भावप्रधाननिर्देशः । अर्थये ज्ञातुं कामय इत्यर्थः । नहि स्वरूपसन्मांगल्यं पुरुषार्थः किन्त्वज्ञाननिवृत्त्युपलक्षितं तथेति भावः ॥ २ ॥

नन्वात्मा शिवोऽस्मदादिवदेव जन्मादिमान्, न चेदनात्मैवासौ, तस्य तथा व्याप्तेरित्याशङ्क्यानुकूलतर्काभावे व्याप्तेरग्रहान्नैवमित्याह–

अन्तरा जनिं स्थिताय शंभवे षड्विकारगोचरातिशायिने ।
लिङ्गजातिगोत्रवर्जिताय ते श्रीमदर्बुदेश्वराय मङ्गलम् ॥ ३ ॥

अन्तरेति । शिवो जन्मवानात्मत्वादस्मदादिवदिति वोऽनुमानम् । हेतुरस्तु मा च साध्यं भूदिति शंकायां किमुत्तरम् ? देवदत्तो जातइत्याद्यनुभव इति चेत्तन्न, न ह्यात्मजन्म ततः सिद्ध्यति । किन्तर्हि ? तस्य देहविशेषसम्बन्धमात्रम् । न च तदेव जन्म; जन्म कस्येति वाच्यं, नात्मदेहयोः, सम्बन्धात्प्रागेव सम्बन्धिसिद्धेरावश्यकत्वात्, सम्बन्धस्य चेत्, तर्हि नात्मनो जन्मेति दृष्टान्ताऽसिद्धिः । किञ्चात्मनो जन्मांगीकारे तदात्मनः स्यादनात्मनो वा ? नाद्योऽनवस्थानान्नान्त्योऽसम्भवात् । न च प्रवाहतयाऽपि सिद्धिः । व्यक्तिः किं सती जायतेऽसती वा ? नाद्यो जन्मायोगाद् असतएव सत्त्वापत्ति र्जन्म । न द्वितीयः, शशशृंगादेरपि तत्प्रसंगात् । तस्मादात्मत्वं जन्मराहित्यमेव साधयतीत्यर्थः । ननु यन्न जातं तन्नास्ति यथा नृशृंगमित्यतआह–स्थितायेति । स्थितिरिति गतिनिवृत्तिमात्रमुच्यते न तु कश्चिद्धर्मोऽधर्मकस्य तथाऽवाच्यत्त्वात् । गतिव्यावृत्त्या पुनः स्थिरः स्थाणुर्लभ्यतेऽसत्त्वनिवृत्त्या सत्यवदिति । अनेनाऽविषयत्वेपि संशयाद्ययोग्यस्वरूपकत्त्वलक्षणं स्वप्रकाशत्त्वमुक्तम् ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वरूपकत्त्वेति तुच्छव्यावृत्तिरिति दिक् । स्थिते र्जन्युत्तरत्त्वस्य यास्कादिभिः स्मरणाज्जनिमन्तरेत्यनुपपन्नामित्याशंक्याह–षड्विकारेत्यादि । षड्विकाराश्च गोचरश्च तावतिशेतइत्यर्थः । गोचरशब्दो भावप्रधानः । षड्विकारवान्न भवति, तत्र हेतुः – गोचरेति । विषयत्त्वव्याप्यं विकारवत्त्वमिति व्यापकनिवृत्त्या व्याप्यासम्भवः । यावद्विकारो विभागइत्यादिना बादरायणाचार्या अपि परमविकारिणमाहुः । एवं चेदसावप्रामाणिको, नेत्याह–शम्भव इति । शं कल्याणं भवत्यस्मादिति शंभुः । मात्रामुपजीवन्ति, यदेष आकाश आनन्दो न स्यादित्यादिना श्रुत्युक्तविधिनाऽनुमानानि सूचितानि । विस्तरोऽक्षरब्राह्मणे दर्शनीयः । जगद्धेतुरिति निशम्य शाक्ता वैष्णवा हिरण्यगर्भानुसारिणश्च तां तां देवतां तथात्त्वेनानुमिमते, तान्प्रत्याह–लिंगेत्यादिना । 'त्वं स्त्री त्वं पुमा' नित्यादिश्वेताश्वतरोक्तपरदेवतैवेह विवक्षितेत्यर्थः । अतएव 'सेयं देवतैक्षत' 'तत्सत्यं' 'स आत्मेति लिंगत्रयस्थितैः पदैर्जगद्धेतुमद्वयं प्रतिपादयति । लिंगविभागो व्यापकस्ततो जातिविभागः संकीर्णस्ततोपि गोत्रविभागः । ननु लिंगपरिवर्तनं दरीदृश्यते यथार्जुनो नपुंसकत्वमाप, परस्य च चंचलगुणाधरत्वायोगाल्लिंगं मास्तु वर्णः किं न स्यात्तत्राह–जातीति । तस्या देहिनिष्ठत्वादस्य चाऽतथात्त्वान्न साप्यमुष्येत्यर्थः । उभयत्र हेतुः –गोत्रेति । गोत्रहीनो न वर्णी पुमान् न वा तादृशी स्त्रीत्यर्थः । ऋषिवंश्यानामेव गोत्रमस्यातथात्वात्तदभावः । ननु मनुष्यादेरेव लिंगादिः, परस्य तद्वत्त्वाऽप्रसक्ते स्तन्निषेधायोगः ? इत्याशंक्य 'एष त आत्मे' त्यादिना तस्यैव मनुष्यादित्वात्प्रसंगोस्त्येव, विवेकेन पुनस्तेषामभावो गमनीय इत्याह–तइति । त्वम्पदार्थस्येत्यर्थः ॥ ३ ॥

लिंगादिराहित्त्यं चेत्कथं प्रतीतिरित्याशंक्य तस्यास्ततएव मिथ्यात्त्वात्सर्ववर्जितस्यैव लीलादर्शनेन लिंगादिभेदस्य मिथ्यात्त्वं वक्तुं ताः कीर्तयति । उक्तं ह्याचार्यैः 'स्यात्परमेश्वरस्यापि इच्छावशान्मायामयं रूपं साधकानुग्रहार्थम्', 'सर्वगतस्यापि ब्रह्मणः उपासनार्थः प्रदेशविशेषपरिग्रहो न विरुद्ध्यत' इत्यादि । 'उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पने' ति च । कल्पनेति नास्मदादीनां, कस्य तर्हीश्वरस्यैव तस्य हीच्छावशादित्युक्तम् । भगवल्लीलानुचिन्तनं चित्तशोधनमस्ति साधनमित्यत्र पुराणादिमानानि सन्त्येव ।

दक्षजाकलत्र दक्षशिक्षक भूधराधिराड्दुहितृजानये ।
स्कन्दतात विघ्नराजपुत्रक श्रीमदर्बुदेश्वराय मङ्गलम् ॥ ४ ॥

अक्षरार्थः स्पष्टः । दक्षः कर्मप्रतीकं ततो जिज्ञासा जायते 'यज्ञेन विविदिषन्ती' ति श्रुतेः । ततः परं कर्म एव शिक्षाविषयस्त्याज्यइत्यर्थः । भूरिति क्षमादिसाधनानि । साधनसम्पन्नो भूत्त्वा ज्ञानं शिवविषयं लभेतेत्यर्थः । ततः सर्वासु दिक्षु षड्भिरपीन्द्रियैः शिवं पश्यति । शिवसंकल्पं च प्रारब्धं नावरुणद्धीति भावः ॥ ४ ॥

तत्र कर्मवैभवमाह–

पापकारिसोमभीतिहारिणे पुण्यतोप्यलभ्यसद्गतिप्रद ।
सोमनेत्र सोमशेखराय ते श्रीमदर्बुदेश्वराय मङ्गलम् ॥ ५ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भगवच्छरणमेवाभयहेतुर्नान्यः । शरणगतः पुनस्तपस्तप्यात् । अतएव 'भजते मामन्यभाक् साधुरेवे' त्युक्त्वा झटित्याह 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मे'ति । न हि कर्ममात्रं बहुफलाय, तत्र तत्र निन्दितत्त्वात्किन्तु सप्रेम । अत आह–पुण्यत इति । न वा प्रेममात्रं फलति 'ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रता' इत्युक्तेरित्याह–अपीति । प्रेम्णा सह कर्म कार्यमिति भावः । जीवतया प्रविष्टस्य शिवस्य पूर्वं सोमनेत्रत्वं नेत्रयोरेव सोमस्स्यान्न बुद्धौ, पश्चात्तु बुद्धावपीति क्रमः । नेत्रयोरपि न चेत्, शिवदर्शनादि शैवं कर्मापि न चेत्कुर्यात्, नतरां बुद्धौ स्थास्यतीति भावः ॥ ५ ॥

दीर्घकालनैरन्तर्यादि सधैर्यमत्रापेक्षितमित्याह–

भक्तसागराभिलाषसिद्धये जाह्नवीं जटाञ्जलीकराय ते ।
चूर्णितामरापगामदप्रभो श्रीमदर्बुदेश्वराय मङ्गलम् ॥ ६ ॥

जटामेवाञ्जलीकरोतीति जटाञ्जलीकरस्तस्मै । भक्तिफलं जाह्नवी तत्र मदसंभवः भक्तेरपि कर्मत्वात् कर्मणश्चाहंकारपोषकस्वाभाव्यात्, परं प्रेमविषयः सन् भगवान् मदं हन्ति । अतोपि केवलं कर्म हेयम् ॥ ६ ॥

भक्तो न लौकिकं सुखमिच्छेद्भगवतैवेदं दर्शितं सर्वैरसह्यमपि मया सोढव्यमिति । ततश्च दुःखभिया साधनाध्वपरित्यागो मा कृथा इत्याह–

कृष्णतामवाप पद्मजापतिः बिभ्यति स्म निर्जराश्च दानवाः ।
यं विलोक्य तं पपौ पपीक्षणः श्रीमदर्बुदेश्वराय मङ्गलम् ॥ ७ ॥

कष्टसहनोपायमाह–पपीक्षणइति । समदृष्टिताभ्यासेन पक्षपातराहित्येन तादृक्षमायाति सामर्थ्यमित्यर्थः ॥ ७ ॥

लौकिकशास्त्रीयाभ्यामेव बोधाभ्यां नैतत्संभवि, स्वयं विवेकिना भाव्यमित्याह–

लीलयाप्यधद्रुमाक्षिणी यदाऽलोकिनोऽभवन्नशेषलोकिनः ।
लोकलोकनार्थमक्षि मूर्ध्नि ते श्रीमदर्बुदेश्वराय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

सुखदुःखयोरोघे सामान्यं शास्त्रीयं च ज्ञानं विस्मर्यते, तदैव विवेकस्थापेक्षाऽन्यथा लोकतः परमार्थतश्च भ्रंशः । विवेको भेदज्ञानमतो व्यावहारिकएव न पारमार्थिक इत्याह–लोकलोकनेति । एतेन–अयं पारमार्थिको विचारो व्यवहारस्त्वेवमेव भविष्यतीति पामरकथा प्रत्युक्ता ॥ ८ ॥

विवेकमात्रमपर्याप्तमभेदधियोऽपेक्षणादिति सांख्यवैलक्षण्यमाह–

ये बिभेदमाययौ स्वरूपतः जाटयन्नमी जटां बिभर्ति यः ।
सर्वकाशपातृवर्णरञ्जितां श्रीमदर्बुदेश्वराय मङ्गलम् ॥ ९ ॥

जट संघाते धातो र्जटाशब्दः । आययावित्यनादिरेव जीवेशविभाग उच्यत इति स्मर्तव्यम् । शिवश्च सदा जानाति न भेद इत्यतो जटाधरः । कृष्णवर्णः सर्वं प्रकाशं पिबतीति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizaqtion by eGangotri
प्रकाशपरीक्षकाः । एतेनैकायनप्रक्रियया समस्तभेदविलयः कथं जटाद्वारा सूच्यतइति सूचितम् ॥ ९ ॥

अभेदे विषयविषयिताद्यभावोनुभवश्च विषयिणि विषयारोपमात्रतइत्याह—

भ्रान्तमेव यं विभात्ययं भवः स्यादुदाहृतिस्तु तत्र केति चेत् ?
उत्तराय ते विभावसो र्वपुः श्रीमदर्बुदेश्वराय मङ्गलम् ॥ १० ॥

इतोष्टमूर्तिवर्णनम् । श्रुतिरेवेहानूदिता । रूपाणि यस्यायतनं स आदित्य इत्यादिशाकल्यसंवादादादित्यमयत्वं रूपाणांमादित्ये तानि कल्पितानीति कल्पनीयम् । आदित्यो रूपप्रकाशकः सर्वेषु रूपप्रकाशेष्वादित्यः प्रकाशत एवेत्यनुवृत्तत्त्वाद्व्यावृत्तानि रूपाण्यस्मिन्कल्पितानीति दिक् ॥ १० ॥

'यत्र यदध्यासंस्तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापि स न सम्बद्ध्यत' इत्यध्यासभाष्यं स्मृत्त्वा परस्य प्रपञ्चप्रकृतित्त्वेपि वर्ततेऽतीतत्त्वमित्याह वह्निमूर्तिव्याजेन—

सर्वदोषसङ्गति र्न दूषणं शुद्धरूपतां विबोध्य भूषणम् ।
अत्र पावकं तनु र्निदर्शनं श्रीमदर्बुदेश्वराय मङ्गलम् ॥ ११ ॥

यः सर्वरूपस्तस्य न किमपि रूपं संभवत्येवं सर्वशब्दत्वादौ बोध्यम् । सरूपत्वादावन्यरूपत्वायोग इति भावः ॥ ११ ॥

फलितंमम्भोमूर्त्याह—

लब्धनामरूपभेदमीश्वरे कल्पितं जगन्न जातु वास्तवम् ।
वक्ति वारिवीचिवद्वपुस्तव श्रीमदर्बुदेश्वराय मङ्गलम् ॥ १२ ॥

वारिं—इति पृथक्पदम् । वार्शब्दो रेफान्तो जलवाची, 'आपः स्त्री भूम्नि वार् वारि सलिलं कमलं जल' मित्यमरः । जले वीचिवज्जगत्कल्पितमित्येकोन्वयोऽत्र वारिशब्दः सप्तम्यन्तः । पुन र्वारीति प्रथमान्तपदमुक्तकोशे वारिशब्दस्यापि दर्शितत्त्वात् । वारि वपुर्वक्तीत्यन्वयः । नामरूपाभ्यां भेदो लब्धो येन तज्जगत्परस्मिन्नध्यस्तमित्याद्यपादार्थः । ईश्वरो निर्विशेषस्तस्यैव जगज्जन्मादिकारणतया लक्षितत्वान्मायायाश्च जगत्वात्तत्रैव कल्पितत्त्वादिति । कल्पितं चेदर्थक्रियाकारि न स्यात्तत्राह-वीचिवदिति । दृश्यते हि समुंद्रादौ वीचीनां वह्वर्थ क्रियाकारिता (अनर्थक्रियाकारिता !) ॥ १२ ॥

शिवएव कारणमित्युक्ते प्रत्यवतिष्ठमानं प्रत्याह क्ष्मादेहतः —

प्राकृतं च कारणं निमित्तकं स्यात्कथं विभेदितस्य निर्द्वयः ।
भूमिरूपतो भवेन बोधितं श्रीमदर्बुदेश्वराय मंगलम् ॥ १३॥

भूमेर्वनस्पत्यादिं प्रति प्राकृतत्त्वं स्पष्टमधिकरणतया निमित्तत्त्वं च विरोधिकार्याणि प्रति ज्ञेयम् । अस्त्यस्माद्विश्वमित्यपादानेऽप्प्रत्ययः (३.३.५७) प्रकृतेश्च भ्वादेश एवं च भवशब्दः सिद्धः । अनेनोपादानत्त्वं स्पष्टम् । करणाधिकरणयोरित्यधिकृत्य पुंसि संज्ञायां

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

घः प्रायेणेत्यसूत्रयत् (३.३.११८) पुल्लिंगयोस्तयोर्वाच्ययोर्धातोर्थः, समुदायः संज्ञां चेद्गमयेदिति सूत्रार्थः । भूधातोरनेन घेऽपि भवशब्दो भवत्यनेनेति तथाच निमित्तत्त्वलाभइति दिक् । येन भवेन बोधितं तस्मै मंगलमाशास्मह इति योज्यमेवं सर्वत्र ॥१३॥

किन्तदुभयविधं कारणमिति वायुवपुषाह—

येन जातमत्र जीवति प्रभुः ज्ञापनीयमत्र कः स निश्चितम् ।
वायुमूर्तिमान् भवानभूदिति श्रीमदर्बुदेश्वराय मङ्गलम् ॥ १४ ॥

येनेत्यादि स प्रभुरित्युक्ते कोसाविति ज्ञापनीयमिति योजना । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासीत्यादिश्रुतिरिहानुसन्धेया । ननु वायुना जीवन्नपि न वायोर्जायतइति चेन्मैवम्, प्रजननं नाम कर्म तन्नान्तरा वायुं स्यात् ततश्च ततएव जायतेऽपि । यद्वा कर्मफलं वायुः 'वायुमेव प्रशशंस' (३.३.२) इत्यादौ लाह्यायनिप्रश्ने पुण्यपरिपाकत्वेन तस्य गम्यमानत्वात्कर्मणश्चोत्पत्त्यंगीकारादिति ॥ १४ ॥

वायुरेव शिवइति मा कश्चिन्निश्चैषीदित्याकाशरूपतामाह—

खं परायणं गतिं परां धियं व्योमनि प्रतिष्ठितां श्रुति र्जगौ ।
शक्तितश्च लिंगतो नभो भवान् श्रीमदर्बुदेश्वराय मङ्गलम् ॥ १५ ॥

आकाशः परायणम् (छां. १.९.१) 'अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति' (तत्रैव), 'विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता' (तै. ३.६.१), 'प्रसिद्धेश्च' (ब्र.सू. १.३.१७), 'आकाशस्तल्लिंगादि' (ब्र. सू. १.१.२२) ति क्रमशो वचांस्यत्र द्रष्टव्यानि ॥ १५ ॥

जगत्कारणत्वादिना पारोक्ष्यप्रतीतिं यजमानमूर्तिमादर्श्य प्रत्याचष्टे—

तत्त्वमस्यसावहं स आविशत् आदितोप्यबोध्यमर्थमर्पयेत् ।
याजमानरूपमार्जवेन ते श्रीमदर्बुदेश्वराय मङ्गलम् ॥ १६ ॥

'तत्त्वमसि' (छां. ६.८.७), 'असौ पुरुषः सोहम्' (ईश. १६), 'तदेवानुप्राविशत्' (तै. २.६) 'पुरः पुरुष आविशत्' (बृ. २.५.१८) इत्याद्याः श्रुतयः प्रसिद्धाः । कर्ताशास्त्रार्थवत्वादित्यादिना यजमानत्वं सिद्धमथापि तदवास्तवमिति ततउत्तरस्मिन्नधिकरणे 'यथा च तक्षोभयथे' त्यत्र (२.३.१४.३३; १५.४०) स्पष्टम् ॥१७॥

ननु बद्धोऽहमिति दृढापरोक्षाद्बद्धोऽन्यएव न परमेश्वर इत्याशंक्य भेदस्वीकारे परस्य परिच्छिन्नत्त्वस्य दुर्वारत्त्वात्परिच्छिन्नस्य पुनर्घटादिवदनीश्वरत्त्वादास्तिकेन चेतनव्यापकेश्वररक्षायै स्वीकार्यएवाभेद इति शशितनुषा सूचितमर्थमाह—

एक एष मोहतः क्षयं व्रजेद् वर्धते स एव मोहहानतः ।
दर्श्यते निशीथनाथविग्रह श्रीमदर्बुदेश्वराय मङ्गलम् ॥ १७ ॥

तदुक्तं 'स्वाविद्यया हि परएव स जीवभावमागत्त्य संसरति लिंगसमागमेने'तिं (सं. शा. ३.६) । अतएव 'यः प्राणेन प्राणिती' त्यादिनोक्तमेवात्मानं 'योऽशनायापिपासे अत्येती'ति (बृ. ३.४–५) श्रुतिरगादीत् । आचार्या अपि तत्राशनायादिमद्ब्रह्मेत्युक्त्वामुमर्थं स्फोरयामासुः ॥ १७ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

'पश्चिमे तु मुखः सद्यो वामदेवस्तथोत्तरे । पूर्वे तत्पुरुषं विद्यादघोरं चापि दक्षिणे ॥ ईशानः पंचमो मध्ये सर्वेषामुपरि स्थितः । एते पञ्च मुखा वत्स पापघ्ना ग्रहनाशनाः ॥' इति देवीपुराणोक्तिमवलम्ब्य पञ्च मुखानि वर्णयति–

वामतां भजन् भवान् प्रदीव्यति ह्यावृति र्निसर्गतस्ततो मुखम् ।
उत्तरं प्रतिप्रचक्षणाय ते श्रीमदर्बुदेश्वराय मङ्गलम् ॥ १८ ॥

मायारूपं धृत्त्वैव भगवान् क्रीडति स्वयं तु कूटस्थोऽजः । अतएव 'अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणमज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यत' इत्यचूचुदन्नाचार्याः । आवरणं नैसर्गिकमनादितयाऽज्ञानस्य । ततश्च वामदेवमुखमावरणशक्तिमाह । आवरणमपि केन हेतुना तिष्ठति ? तत्राह–प्रतीति । तदस्म रूपं प्रतिचक्षणायेति श्रुतिः ॥ १८ ॥

विक्षेपमादर्शयति–

त्वां जहाति नूलता कदापि नो द्वेषरागवर्जितोऽस्यजो भवान् ।
पश्चिमं मुखं विभेदभानकृत् श्रीमदर्बुदेश्वराय मङ्गलम् ॥ १९ ॥

सद्योजातेति पश्चिममुखस्य नाम । सदैव सद्य उत्पन्नवन्नवीनत्वं भगवतः सृष्टिरूपस्य । तत्कारणस्य च तथात्त्वमेव तदुपाधे र्मायायाअप्येवंरूपत्त्वात् । सद्योजातबालवद्भगवानित्याह–द्वेषेति । 'न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रिय' इति हि स्मृतम् । यद्वा सद्यः अजातेति नामच्छेदः । सद्यः समानेऽहनि । कस्यचनापि जन्मदिने न शिवस्य जन्म जन्मरहितत्त्वात्तस्य । जन्मोपाधीनामेव । ततउपधेयोपि जातइव लक्ष्यते न तु जायतइति तत्त्वम् । निरन्तरं नवीनतां प्रदर्शयन्निदंमुखं विक्षेपशक्तिं द्योतयति तदाह–पश्चिममिति । भेदधीः पुनरनर्थायेति युक्तं पश्चिमेन तत्प्रतिपादनमिति ॥१९॥

आवरणविक्षेपयोर्निवृत्त्युपायस्त्रिभिरास्यैरादशर्यत इत्याह–

पूर्वमत्र कर्म चित्तशोधनं विद्यया करोतु निःस्पृहं जनः ।
ब्रूत ईशनामकेन शङ्करः श्रीमदर्बुदेश्वराय मङ्गलम् ॥२०॥

न कर्मणामनारम्भादित्यादि शास्त्रमनुसन्धेयम् । उपासनासाहित्यस्येष्टत्त्वं प्रतिजानीते–विद्ययेति । विद्यया वीर्यवत्तरमिति श्रुतेः सोपासनं कर्म शीघ्रं चित्तं शोधयेत् । यद्वा विद्यया हेतुभूतयेत्यर्थः । विद्या मे जायतामिति वांछया कर्म कार्यं ततएव तद्विविदिषाफलं स्याद्यथा स्वर्गो मे भूयादिति वांछया कृतो ज्योतिष्टोमादिस्तत्फलाय । विद्येच्छेतरेच्छाभावभावश्य कइत्याह–निःस्पृहमिति । इदं कर्मविशेषणं क्रियाविशेषणं वा । ईशान इत्यूर्ध्वमुख-समाख्या ॥२०॥

कर्मेव भक्तिरपि साधनमित्यनुब्रूते–

तस्य पुंस एव भक्तिरादराद् अस्त्युपाय आत्मनः समृद्धये ।
तत्पुमानुपादिशत्युमापते श्रीमदर्बुदेश्वराय मङ्गलम् ॥ २१ ॥

पूर्वस्यां दिशि भगवतस्तत्पुरुषमुखम् । आदौ तस्यान्यत्त्वेनाभिमतस्य पुंस उत्तमस्य पुरुषस्य भक्तिं कुर्यात् 'तस्यैवाहं ममैवासाविति' क्रमशः । ततः 'स एवाह' मिति भजेत् । तदा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुमानिति प्रत्यगात्मोक्तिः । तत्पदार्थः पुमानेव नात्मनोऽन्यइत्यर्थः । भक्तिश्च वायुसंहितायामुत्तरभागे (२२.३४–४०) निरूपिता 'सांगानंगा च या सेवा सा भक्तिरिति कथ्यते । सा पुनर्भिद्यते त्रेधा मनोवाक्कायसाधनैः ॥ शिवरूपादिचिन्ता या सा सैव मानसी स्मृता । जपादि वाचिकी सेवा कर्म पूजादि कायिकी ॥' इत्यादिना । शिवरूपादिचिन्तेति परस्मात्स्वस्याभेदचिन्तनपर्यन्तं बोध्यम् । तत्रैव 'नाशिवस्तु शिवं ध्यायेदि' त्युक्त्वा 'शिवोऽहमिति संचिन्त्ये' त्युक्तत्त्वात् (श्लो. ४२–४४) । ननु भक्तिः प्रेमेति प्रसिद्धिः ? सत्त्यं, भक्तिफलं प्रेमा परमः, साधनं तु सप्रेम सेवैवेत्यन्यत्र विस्तरः । भक्तिरिहाभेदानुसन्धीतिरेव मुख्यतया विवक्षिता । तत्पुरुषपदमपि परस्य स्वामिन्नमाहरूपमिति सूतसंहिताटीकायां माधवगुरवः 'तस्य तस्य पूर्षु शरीरेषु वसतीति तत्पुरुषाभिधेय इत्यर्थस्तदुक्तम्–तस्य तस्य वपु र्या पूस्तस्यामुषति येन सः इति' (४ पूर्व. १४.३) इति । पुंस एवेति भेदभक्तिव्यावृत्त्यर्थम् । रूपं तु यत्किंचिच्छास्त्रोक्तं तदेवेह ज्ञेयं तज्जलानिति शान्त उपासीतेत्यादि । दहरविद्या चच्छान्दोग्यादिगता । प्रणवसाहाय्येन वा । ईश्वरएवात्मधियं कुर्यान्न गुणमूर्तिष्वित्यन्यत्र प्रतिपादितम् । ततइहेश्वरोपासनैवेति दिक् ॥ २१ ॥

अखण्डबुद्धिरेव मोक्षहेतुरिति दक्षिणाशामुखोपदेशं दिशति–

> **घोरतो ग्रहादतिग्रहादपि स्यादघोर मोचनं धिया तव ।**
> **दक्षिणं त्वितिप्रमुक्ति बोधयेत् श्रीमदर्बुदेश्वराय मङ्गलम् ॥ २२ ॥**

ग्रहातिग्रहशब्दौ बार्हदारण्यकौ (३.२) । तव मोचनं तव धियेति तवशब्दस्य तन्त्रेणोक्तिः । शिवस्यैव संसरणमपीति चन्द्रविग्रहेण प्रतिपादितत्त्वात् । तव वा त्वमर्थस्य । धिया स्यान्नान्यः पन्था विद्यतइति श्रुतेः । मुक्तेः प्रकाश इतिमुक्ति । अव्ययीभावोयम् । मुक्तेर्विषय एतदेव तव दक्षिणमुखस्यकथनमित्यर्थः ॥ २२ ॥

फलं वदन् कर्तव्यमाह–

> **प्रातरेवमर्बुदेशमङ्गलम् श्रद्धया पठेन्महेशसन्निधौ ।**
> **प्राप्य शङ्करप्रसादमञ्जसा भक्तिभाग्भवेद्भवे भवे न हि ॥ २३ ॥**

अर्बुदेशेत्यर्बुदाचलाख्यपर्वते शिवनाम–अर्बुदेश्वरविश्वनाथ इति । पठेदिति कथितसाधनानुष्ठानोपलक्षणम् । अर्बुदेशमंगलं प्राप्येत्यप्यन्वयः । अर्बुदेशाल्लभ्यं मङ्गलमर्बुदेशमंगलमिति ज्ञेयम् । प्रसादमवाप्य भक्तिभाग्भवेत् । तदुक्तं वायुसंहितायाम् 'प्रसादादेव सा भक्तिः प्रसादो भक्तिसंभवः । यथा चांकुरतो बीजं बीजतो वा यथाङ्कुरः ॥' (पूर्व. ३.३०) इति । आद्यो भवशब्दो भगवत्परो द्वितीयः संसारपरः । संसारे भक्तिं त्यक्त्वा शिवे स्थापयेदिति साधककर्तव्यम् । तदुक्तमाचार्यैः 'एतावान् हि सर्वेषां शास्त्राणां रहस्यभूतोऽर्थः यद्विषयाकारतानिराकरणपूर्वकं चित्तस्य भगवदाकारतासम्पादनं, सर्वेषामपि शास्त्राणामत्रैव व्यापारभेदेन पर्यवसानाद्' (भक्तिरसायने १.३१) इति ॥२३॥

परिपूर्णमिदं मङ्गलाशंसनम्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

शिवाष्टोत्तरशतनाम-स्तोत्रम्

शिवनामकल्पलताऽऽलवालः च

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्री शिवाष्टोत्तरशतनाम स्तोत्रम्

ॐ ।अस्य श्रीपरमशिवाष्टोत्तरशतनामकल्पलतास्तोत्रमहामन्त्रस्य नारायण ऋषिः, अनुष्टुप् छन्दः श्रीसदाशिवो देवता, श्रीसाम्बसदाशिवप्रीत्त्यर्थे जपे विनियोगः ।

अथध्यानम्

धवलवपुषमिन्दोर्मण्डले संनिविष्टं
भुजगवलयहारं भस्मदिग्धाङ्गमीशम् ।
हरिणपरशुपाणिं चारुचन्द्रार्धमौलिं
हृदयकमलमध्ये सन्ततं चिन्तयामि ॥

अथ स्तोत्रम्

शिवो महेश्वरः शम्भुः पिनाकी शशिशेखरः ।
वामदेवो विरूपाक्षः कपर्दी नीललोहितः ॥ १॥
शङ्करः शूलपाणिश्च खट्वाङ्गी विष्णुवल्लभः ।
शिपिविष्टोऽम्बिकानाथः श्रीकण्ठो भक्तवत्सलः ॥ २॥
भवः शर्वस्त्रिलोकेशः शितिकण्ठः शिवाप्रियः ।
उग्रः कपाली कामारिरन्धकासुरसूदनः ॥ ३ ॥
गङ्गाधरो ललाटाक्षः कालकालः कृपानिधिः ।
भीमः परशुहस्तश्च मृगपाणिर्जटाधरः ॥ ४ ॥
कैलासवासी कवची कठोरस्त्रिपुरान्तकः ।
वृषाङ्को वृषभारूढो भस्मोद्धूलितविग्रहः ॥ ५ ॥
सामप्रियः स्वरमयस्त्रयीमूर्त्तिरनीश्वरः ।
सर्वज्ञः परमात्मा च सोमसूर्याग्निलोचनः ॥ ६ ॥
हविर्यज्ञमयः सोमः पञ्चवक्त्रः सदाशिवः ।
विश्वेश्वरो वीरभद्रो गणनाथः प्रजापतिः ॥ ७ ॥
हिरण्यरेता दुर्धर्षो गिरीशो गिरिशोऽनघः ।
भुजङ्गभूषणो भर्गो गिरिधन्वा गिरिप्रियः ॥ ८ ॥
कृत्तिवासा पुरारातिर्भगवान् प्रमथाधिपः ।
मृत्युञ्जयः सूक्ष्मतनुर्जगद्व्यापी जगद्गुरुः ॥ ९ ॥
व्योमकेशो महासेनजनकश्चारुविक्रमः ।
रुद्रो भूतपतिः स्थाणुरहिर्बुध्न्यो दिगम्बरः ॥ १० ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अष्टमूर्त्तिरनेकात्मा सात्त्विकः शुद्धविग्रहः ।
शाश्वतः खण्डपरशुरजः पाशविमोचनः ॥ ११ ॥
मृडः पशुपतिर्देवो महादेवोऽव्ययो हरिः ।
पूषदन्तभिदव्यग्रो दक्षाध्वरहरो हरः ॥ १२ ॥
भगनेत्रभिदव्यक्तः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
अपवर्गप्रदोऽनन्तस्तारकः परमेश्वरः ॥ १३ ॥

अथ महत्त्ववचनम्

इमानि दिव्यनामानि जप्यन्ते सर्वदा मया ।
नामकल्पलतेयं मे सर्वाभीष्ट प्रदायिनी ॥१४॥
नामान्येतानि सुभगे शिवदानि न संशयः ।
वेदसर्वस्वभूतानि नामान्येतानि वस्तुतः ॥१५॥
एतानि यानि नामानि तानि सर्वार्थदान्यतः ।
जप्यन्ते सादरं नित्यं मया नियमपूर्वकम् ॥१६॥
वेदेषु शिवनामानि श्रेष्ठान्यघहराणि च ।
सन्त्यनन्तानि सुभगे वेदेषु विविधेष्वपि ॥१७॥
तेभ्यो नामानि संगृह्य कुमाराय महेश्वरः ।
अष्टोत्तरसहस्रं तु नाम्नामुपदिशत् पुरा ॥
ततोऽपि सारमुद्धृत्याऽब्रवीदष्टोत्तरं शतम् ॥१८॥
तानि नामानि जप्यन्ते मया प्रत्यहमादरात् ।
इत्युक्त्वा प्रणिपत्याम्बां सम्पूज्य च जनार्दनः ॥
ततो जगाम वैकुण्ठं प्रेषितो जगदम्बया ॥१९॥
शिवमाराधयन्ती सा गिरिजाऽपि ततः शिवम् ।
संप्राप्ता शिवरूपं सा भूयः प्राप्तशिवाऽपि सा ॥२०॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये सप्तमेऽंशे त्रयोदशाध्याये
शिवाष्टोत्तरशतनामकल्पलतास्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीशिवाष्टोत्तरशतनामस्तोत्र
तथा
शिवनामकल्पलतालवाल

निर्मले मानसिद्धेऽपि ह्यधिष्ठाने शिवे न चे ।
पापाः श्रद्धां करिष्यन्ति गन्तारो निरयं हि ते ॥
'कृत्स्न एव हि वेदोऽयं परमेश्वरगोचरः ।
स्वार्थद्वारैव तात्पर्यं तस्य स्वर्गादिवद्विधौ ॥
इत्येवं श्रुतिनीतिसम्प्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः ।
किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः
काले कारुणिक ! त्वयैव कृपया ते तारणीया नराः ॥'[1]

शिवरहस्य में वर्णन है कि कण्व महर्षि ने महर्षि कश्यप से जिज्ञासा की–

संसारदावखिन्नानां मर्त्यानामकृतात्मनाम् ।
घोरसंसारविच्छेदः कथं भवति सत्त्वरम् ॥

अर्थात् संसारतापतप्त, अप्राप्तपुरुषार्थ मनुष्यों की घोर संसार से शीघ्र निवृत्ति कैसे हो ? कश्यप ने इसका सूत्रभूत उत्तर दिया–

शिवाभिधं महः सेव्यं सर्ववेदान्तसंश्रुतम् ॥

अर्थात् समग्र वेदान्तों में तात्पर्येण प्रतिपादित शिवनामक चित्तेज उक्त फल के लिये सेवन करने योग्य है । अधिकारिभेद से सेवा भी विभिन्न होती है । भस्म-रुद्राक्षधारण, पूजन, नमस्कार, स्तुति, भक्तसन्तुष्टि आदि सेवाप्रकारों की तरह नामसंकीर्तन भी परमेश्वर सेवा का एक ढंग है । **'कीर्तयन्तो माम्'** (गी.९.१४) आदि स्मृति इसमें प्रमाण है । काशीखण्ड में स्वयं भगवान् विष्णु कहते हैं–

तव नामानुरक्ता वाक् पुंसो यस्य जगत्पते !
अप्यद्रिकूटतुलितं नैनस्तमनु बाधते ॥

अर्थात् हे जगदीश ! जिस व्यक्ति की वाणी आपके नाम में अनुराग वाली हो चुकी उसे पूर्वार्जित अत्यधिक पाप भी बाधा नहीं पहुँचाते । सौरपुराण में कहा है–

कर्म पूजा जपो होमः शम्भोर्नामानुकीर्तनम् ।
कर्मयोगाः समाख्याता एतैः पूज्यो महेश्वरः ॥

---

१. न्यायकुसुमाञ्जलिः ५.१६, १८ ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तन्नामजापी तत्कर्मरतिस्तद्गतमानसः ।
निष्कामः पुरुषो विप्राः ! स रुद्रपदमश्नुते ॥४६.६०, ६२॥

अर्थात् भगवदर्पित स्ववर्णाश्रम धर्मानुष्ठान, पूजा, जप, होम व शिवनामों का कीर्तन– ये कर्मयोग कहे गये हैं, इनसे महेश्वर की आराधना करनी चाहिये । हे विप्रों ! जो निष्काम व्यक्ति शिवनामों का जप करता है, शिवार्थकर्मों में प्रेम रखता है, शिव में ही जिसका मन लगा रहता है, वह रुद्रपद पाता है । अतः इस सुलभ साधन को बताने के लिये कश्यप ने वह प्रसंग बताया जिसमें भगवान् विष्णु ने भगवती शिवा को शिव के एक सौ आठ नामों का उपदेश दिया । उमा के यह पूछने पर–

शरीरार्धमहं शम्भोर्येन प्राप्स्यामि केशव !
तदिदानीं समाचक्ष्व स्तोत्रं शीघ्रफलप्रदम् ॥

कि हे केशव ! शीघ्र फल देने वाला वह स्तोत्र मुझे बताओ जिसके पाठ से मैं भगवान् शम्भु के शरीर का आधा भाग बन जाऊँ, विष्णु भगवान् ने यह कहकर–

शरीरार्द्धं महेशस्य प्राप्तमेव त्वया शिवे !
तथापि पृच्छसे देवि ततो वात्सल्यभावतः ॥

कि हे कल्याणरूपिणि ! शिव का आधा शरीर तो आप हैं ही, फिर भी मुझ पर वात्सल्य के कारण जो आप ऐसा पूछ रही हैं वह मैं आपको बताता हूँ; इस प्रकार शिवाष्टोत्तरशतनामस्तोत्र की प्रस्तावना की–

रत्नराशौ मनोज्ञानि रत्नानीव मया पुरा ।
वेदराशौ गृहीतानि शिवनामानि शोभने ॥
सन्त्यनन्तानि नामानि महादेवस्य शोभने ।
तानि सर्वाणि नामानि पावनानि न संशयः ॥
तानि दिव्यानि नामानि प्रसिद्धानि वरानने ।
बहून्यपि ततस्तेषामावृत्तिरतिदुर्लभा ।
अस्ति गुह्यतमं देवि नाम्नामष्टोत्तरं शतम् ।
शम्भोरहं प्रवक्ष्यामि पठतां शीघ्रकामदम् ॥

अर्थात् हे शोभावाली महादेवि ! जैसे रत्नों के ढेर से मनमोहक रत्न ढूँढकर इकट्ठे किये जाते हैं वैसे समस्त वेद से मैंने शिवनामों को एकत्र किया था । हे शोभने ! इसमें संशय नहीं कि महादेव के अनन्त नाम हैं और वे सब उच्चारण करने वाले को पवित्र करते हैं किन्तु हे सुमुखि ! वे दिव्य व प्रसिद्ध नाम संख्या में अत्यधिक हैं जिससे उनकी आवृत्ति कर पाना अत्यन्त कठिन है । हे देवि ! शम्भु के एक सौ आठ नाम अत्यन्त रहस्यभूत हैं और उनका पाठ करने वालों की शीघ्र कामनापूर्ति करते हैं, वे नाम मैं आपको बताता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
हूँ । इस प्रस्तावना के अनन्तर प्रकृत अष्टोत्तरशतनामों का उपदेश दिया जिसे शिवाष्टोत्तरशतनामस्तोत्र या नामकल्पलतास्तोत्र कहते हैं । स्मर्तव्य है कि शिवसहस्त्रनामों के उपदेष्टा भी विष्णु भगवान् ही हैं । महाभारत में भीष्म ने कहा कि वासुदेव श्रीकृष्ण क्योंकि रुद्रभक्तिवशाद् जगद्व्यापक हैं इसलिये शिवभक्तोत्तम कृष्ण ही शिवसहस्रनाम बताने में समर्थ हैं–

रुद्रभक्त्या तु कृष्णेन जगद्व्याप्तं महात्मना ॥
......व्याख्यातुं देवदेवस्य शक्तो नामान्यशेषतः ॥
एष शक्तो महाबाहुर्वक्तुं भगवतो गुणान्
विभूतिं चैव कात्स्न्येंन सत्त्यां माहेश्वरीं नृप ॥

इस प्रकार श्रद्धापूर्वक प्रार्थित होने पर भगवान् ने नाम बताना प्रारंभ किया–

शुश्रूषद्ध्वं ब्राह्मणेन्द्रास्त्वं च तात युधिष्ठिर ।
त्वं चापगेय नामानि शृणुष्वेह कपर्दिनः ॥ (अनुशा. दान. अध्याय १४)

सौरपुराणान्तर्गत 'भवः शिवः' इत्यादि सहस्रनाम भी विष्णुप्रोक्त है–

नाम्नां सहस्रं यद्दिव्यं विष्णुना समुदीरितम् ।
यः पठेच्छृणुयाद्वापि सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ (सौ. पु. ४१.१५८)

इसी तरह पद्मपुराण में आया वेदसार नामक शिवसहस्रनाम मार्कण्डेयादि ऋषियों को कृष्णभगवान् ने सुनाया है । अतएव महामाहेश्वर श्रीविष्णु को 'पूज्यात्पूज्यतरः' आचार्यों ने कहा है । उन्हीं ने प्रकृत अष्टोत्तरशतनाम का भी उपदेश दिया है ।

इस स्तोत्र की पद्यबद्ध व्याख्या तन्त्र आदि नाना शास्त्र प्रवीण आचार्य भास्कर राय ने 'शिवनामकल्पलतालवाल' नाम वाली रची । वेदान्त, मीमांसा, व्याकरण, न्याय, छन्दःशास्त्र, काव्य, धर्मशास्त्र, स्तोत्र, मन्त्रशास्त्र, तन्त्रशास्त्र आदि विभिन्न विषयों पर चालीस से अधिक ग्रन्थों के अठारहवीं सदी के इन लेखक के इस आलवाल (क्यारी को) अमृत से भरने के लिये वेङ्कटाचल नामक किसी विद्वान् ने इस पर 'सुधापूर' नामक टीका लिखी ।[1] आलवाल ग्रन्थ में प्रत्येक नाम को एक श्लोक में समझाया है व नामव्याख्यात्मक प्रत्येक श्लोक अलग-अलग छन्द में रचित हैं । पहले छह श्लोकों द्वारा भास्करराय मंगलाचरण करते हैं–

मोक्षस्यैकनिदानमब्जनयनब्रह्मेन्द्रचन्द्रादिभि-
र्दैवैः प्राणपदीकृतं कलिमलप्रध्वंसि धर्माङ्कुरः ।

---

१. प्राच्यविद्यासंशोधनालय मैसूर से प्रकाशित । ग्रंथ संख्या ४४६ ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भारत्यापि सुदुर्निरूपमहिम त्र्यन्तरे गोपितं
वक्तुर्मङ्गलदं शिवेति विमलं नामैव नस्तारकम् ॥१॥

मोक्ष का मुख्य कारण, विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्र आदि देवताओं द्वारा परम प्रेम का विषय बनाया गया, कलिकाल में सुलभता से इकट्ठे किये मल का ध्वंस करने वाला, धर्म का उत्पादक, वेदों में सुरक्षित, वक्ता को मंगल देने वाला 'शिव' यह निर्मल नाम ही हमें भवसागर से पार ले जाने वाला है, जिस नाम की महिमा का सरस्वती द्वारा भी निरूपण करना कठिन है ।

आनन्त्यौदार्यसत्यादृतिमृतिहृतिभिः स्वल्पसेवातितोषात्
सङ्कष्टोच्छित्त्युपेक्षाभयहितवचनैरुत्तमत्त्वाच्च शम्भु ः ।
सेव्यो विष्णूपमन्युद्रुहिणमुनिसुतश्रीदमन्थेच्छुदेवै-
र्दक्षश्रीरामवेदैरशिशुपशुवधूराक्षसैः साक्षिभिर्नः ॥२॥

शिशु, पशु, स्त्री व राक्षसों से भिन्न विष्णु, उपमन्यु, ब्रह्मा, मुनिकुमार मार्कण्डेय, कुबेर, समुद्र-मंथन के इच्छुक देवताओं, दक्ष, श्रीरामचन्द्र तथा वेद रूप साक्षियों से क्रमशः सत्यापित अनन्तता, उदारता, सत्य का आदर, मृत्यु का हरण, थोड़ी सेवा से अत्यधिक सन्तुष्टि, बड़े कष्ट को निवृत्त करना, उपेक्षा किये जाने पर भयभीत करना, हित का उपदेश देना और उत्तमता रूप हेतुओं से शम्भु ही हमारे सेव्य हैं ।

ध्रुव, गजेन्द्र, द्रौपदी, अहल्या, विभीषण व प्रह्लाद द्वारा सत्यापित वात्सल्यादि छह कारणों से श्रीपति ही अकेले सेव्य हैं ऐसा कुछ लोगों ने कहा है ।[1] उस पर कवि कहते हैं कि यदि साक्षियों की बात है तो शम्भुसेव्यता में हम नौ साक्षी उपस्थित करते हैं, और जहाँ तुम्हारे साक्षी शिशु, पशु आदि हैं जो नीति आदि में साक्षी होने के अयोग्य बताये हैं, वहीं हमारे साक्षी वैसे न होने से उत्तम साक्षी हैं । जो एक-दो बालक हमारी साक्षिसूची में हैं, वह भी कोई दोष नहीं क्योंकि हमारी साक्षिसंख्या अधिक है । (१) शिव की अनन्तता में साक्षी हैं भगवान् विष्णु जिन्होंने ज्योतिर्लिंग के प्राकट्य पर उसका अन्त पाने की पूरी कोशिश कर अन्त न पाकर यह निर्णय किया–

आद्यन्तहीनवपुषि त्वयि मोहबुद्ध्या भूयाद्विमर्श इह नावतिकामनोत्थः ।
स त्वं प्रसीद करुणाकर ! कश्मलं नौ मृष्टं क्षमस्व विहितं भवतैव केल्या ॥
शि. पु. वि. ७.३० ॥

अर्थात् हे करुणाकर ! अनादि-अनन्त शरीर वाले आपके विषय में, अपना-अपना बड़प्पन जतलाने की कामना से अज्ञानवशात् ब्रह्मा और मेरा यह विचार हुआ कि आपका अन्त

१. वात्सल्यादभयप्रदान समयादार्तार्तिनिर्वापणादौदार्यादघशोषणादगणितश्रेयःपदप्रापणात् ।
सेव्यः श्रीपतिरेक एव जगतामेते च षट् साक्षिणः प्रह्लादश्च विभीषणश्च करिराट् पाञ्चाल्यहल्या ध्रुवः ॥
(सप्तर्षिस्तोत्रम्)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कौन शीघ्र जान सकता है। वस्तुतः यह आपकी ही क्रीड़ा थी। आप हमारे इस पाप को क्षमा करें। इस प्रकार परमेश्वर की अनन्तता में विष्णु को प्रमाण जानना चाहिये। (२) भगवान् शंकर की उदरता में उपमन्यु प्रमाण है। अपने पीने लायक दूध की प्राप्ति के लिये उपमन्यु ने तप किया था पर भगवान् ने बन्धु-बान्धवों सहित कल्पान्त तक क्षीरसागर ही उपलब्ध करा दिया—

क्षीरोदः सागरश्चैव यत्रयत्रेच्छसि प्रियम् ॥ तत्र ते भविता कामं सांनिध्यं पयसोनिधेः।
क्षीरोदनं च भुङ्क्ष्व त्वममृतेन समन्वितम् ॥ बन्धुभिः सहितः कल्पं ततो मामुपयास्यसि।
(महा. अनु.दान. १४. ३५८–३५९)

(३) सत्य का आदर भगवान् शंकर करते हैं इसमें ब्रह्माजी प्रमाण हैं। ज्योतिर्लिंग का अन्त जान लिया ऐसा असत्य-भाषण करने के फलस्वरूप ही उनका पाँचवाँ सिर कट गया और लोक में उनका आदर व उनके निमित्त से उत्सवों का होना न रहा—

स वै गृहीत्त्वैककरेणकेशं तत्पञ्चमं दृप्तमसत्यभाषणं, छित्त्वा ...... ॥
ब्रह्मंस्त्वमर्हणाकांक्षी शठमीशत्वमास्थितः। नातस्ते सत्कृतिर्लोके भूयात् स्थानोत्सवादिकम् ॥
(शि. पु. वि. ८.४, ९)

(४) भगवान् पिनाकधारी मृत्यु का हरण करते हैं इसमें चिरजीवी मार्कण्डेय प्रमाण हैं। शिवकृपा से मार्कण्डेय की मृत्यु टल गयी थी यह सर्वलोक प्रसिद्ध है ही। (५) थोड़ी सेवा से ही शंकर भगवान् अत्यन्त सन्तुष्ट हो जाते हैं इसमें कुबेर प्रमाण है। काशीखण्ड में वर्णित है कि एक ब्राह्मण युवक धनाहरणार्थ शिवालय में गया और बुझते दीपक को अपने वस्त्र से बनायी बत्ती द्वारा उज्ज्वलित किया। इतनी सी सेवा से भगवान् ने प्रसन्न होकर उसे कुबेर पद दे दिया। (६) बड़े कष्ट को महादेव जी निवृत्त करते हैं इसमें समुद्र मंथन करने वाले देवता प्रमाण हैं ही। कालकूट विष को भगवान् ने न धारण किया होता तो देवता बच न पाते। जैसा कि महाभारत में (१.१८.४३) कहा है—

त्रैलोक्यं मोहितं यस्य गन्धमाघ्राय तद्विषम्। प्राग्रसल्लोकरक्षार्थं ब्रह्मणो वचनाच्छिवः ॥

(७) यदि उनकी उपेक्षा की जाये तो भयभीत किंवा नष्ट भी करने में भगवान् समर्थ हैं इसमें अजकन्धर दक्ष प्रमाण हैं। शिवपुराण की रुद्रसंहिता के सतीखण्ड में (अध्याय २७–४३) इसका विस्तृत वर्णन है (८) हितोपदेष्टा भगवान् हैं इसमें शिवगीता के श्रोता श्रीरामचन्द्र को प्रमाण जानना चाहिये। (९) शम्भु की उत्तमता में प्रमाण तो साक्षात् वेद है—

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः। (श्वे. ३.२)
यः परः स महेश्वरः (महाना. १२.३)

आदि शतशः श्रुतियाँ यह प्रतिपादित करती हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नाथ ! त्वच्छक्तितत्त्वाव्ययचरितभगव्यूहमूर्त्यङ्गसाङ्ग-
प्रत्यङ्गोपाङ्गकृत्यागमभजनकलांशादिनिष्कर्षमूढाः ।
त्वन्नामापि त्यजामो यदि दुरितहरं सान्ववायाः कृतार्थाः
केनोपायेन जायेमहि कलिहतके जन्मभाजो वयं हि ॥३॥

हे नाथ ! आपकी शक्तियों के, तत्त्वों के, अव्ययों के, चरितों के, भगों के, व्यूहों के, मूर्त्तियों के, अंगों के, सांगों के, प्रत्यंगों के, उपाङ्गों के, कृत्यों के, आगमों के, भजनों के, कलाओं के, अंशादि के विषय में विविक्त ज्ञान वाले न होते हुए यदि हम पापनिवारक आपका नाम भी छोड़ दें तो पाप कराने वाले कलियुग में उत्पन्न हम लोग अपने कुल समेत किस उपाय से कृतार्थ होंगे ? अर्थात् सवंश हमारी कृतार्थता का एकमात्र उपाय आपका नाम स्मरण है ।

भगवान् की इच्छा, ज्ञान आदि नानाविध शक्तियाँ हैं । चौबीस, छत्तीस आदि भेद से विभिन्न मतों के अनुसार तत्त्व हैं । ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तप, सत्य, क्षमा, धैर्य, सृष्टिकर्त्तृत्त्व, आत्मावबोध और अधिष्ठातृता—ये दस अव्यय शंकर में सदा रहने वाले बताये गये हैं । चरित तो नाना लीलाओं के रूप में अनन्त ही हैं । भग छह हैं—समग्र ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य । भव, हर, मृड आदि व्यूह (शरीर) माने गये हैं । वृषभारूढ, नटराज, अर्धनारीश्वर आदि बहुतसी मूर्त्तियाँ हैं । सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादिबोध, स्वतन्त्रता, सदा अलुप्तशक्ति तथा अनन्तशक्तिमत्ता—ये छह अंग महेश्वर के कहे गये हैं । मूर्त्तियों के शक्ति, प्रताप, अनुग्रह आदि गुणों का पारिभाषिक नाम सांग है । वक्ष, कण्ठ, स्तन आदि का प्रत्यंग नाम है । इनके अवान्तर उपाङ्ग हैं । सृष्टि आदि पाँच कृत्य है । कामिक आदि अट्ठाइस आगम हैं । शिवप्रोक्त तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थविशेष आगम कहलाते हैं । इनमें पूजा-पद्धति, ध्यान आदि का विस्तृत विवेचन है । भजन का अर्थ है सेवा के विविध ढंग । परमेश्वर की ये पाँच कलायें हैं—निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यतीत । शरभ, वीरभद्र आदि अंशावतार ही अंश कहे गये हैं । इन सबका यथायथ ज्ञान दुर्लभ है तो ज्ञान पाकर साधना करना असंभव ही है । अतः सरलतम उपलब्ध उपाय नामस्मरण का अनुष्ठान कर लेना चाहिये ।

शिवेति द्वौ वर्णौ परपदपतद्धंसगरुतौ
तटौ संसाराब्धेः स्वविषयकबोधाङ्कुरदले ।
श्रुतेरन्तर्गोपायिततररहस्यन्नुवचरौ
घरट्टग्रावाणौ भवविटपिबीजौघदलने ॥४॥

'शिव' ये दो अक्षर परम पद की प्राप्ति के लिये चेष्टा करने वालों के पंख हैं, संसार-समुद्र की मर्यादारूप तट हैं, आत्मज्ञान के अंकुर हैं, श्रुति में स्थित रहस्य तत्त्व को बताने वाले गुप्तचर हैं तथा संसारवृक्ष के बीजसमूह का चूरा करने वाले चक्की के पाट हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'शि' और 'व' इन अक्षरों के सहारे ही मोक्षोपाय का अनुष्ठान होने से ये पंख कहे गये हैं। संसार का आदि व अन्त दोनों शिव से ही होता है–शिवाज्ञान से आदि और शिवज्ञान से अन्त–अतः वे ही तट हैं। आत्मज्ञानरूप बीज के अंकुरित होने पर सब शिवमय होता ही है। श्रुति में जिस परमात्मतत्त्व को छिपाकर रखा है उसे ही साक्षात् उपस्थित करने वाला शब्द शिव है। संसार का बीज है वासना-सहित अज्ञान। वासनाबाहुल्य से समूहरूपता है। नाना अनन्त वासनाओं समेत अज्ञान को पीसकर निष्फल करना इन दो अक्षरों का सहज कार्य है।

स्वामिन्! कर्मणि कायिके न जरसा शक्तोऽस्मि नो मानसे
चाञ्चल्यान्मनसो न निर्धनतया पूर्तेष्टदानादिके।
तस्माद्वाचिकमेव कर्म विदुषां साध्यं विदित्त्वा भव–
न्नाम्नामष्टशतं निरुच्य जनुषः साफल्यमीहेतमाम् ॥५॥

हे स्वामिन्! बुढ़ापे के कारण मैं शारीरिक कर्म नहीं कर सकता, मन की चंचलता के कारण मानस कर्म नहीं कर सकता, निर्धन होने से पूर्त, इष्ट, दान आदि करने में भी असमर्थ हूँ। अतः यह समझकर कि जानकार लोगों के लिये वाचिक कर्म ही सुसाध्य है, मैं आपके एक सौ आठ नामों का व्याख्यान कर ही अपने जन्म की सफलता पूरी तरह चाहता हूँ।

शिवनामकल्पवल्ल्याः शिवचरितानन्दकाननभवायाः।
रुचिरं रत्नावालं रचये सत्पद्यरत्नवरैः ॥६॥

शिवचरितरूप आमोदवन में होने वाली शिवनामों की कल्पलता की सुन्दर रत्नमयी क्यारी श्रेष्ठ श्लोकरूप उत्तम रत्नों से बनाता हूँ।

इस प्रस्तावना के अनन्तर नामों का व्याख्यान प्रारंभ होता है।

(१) शिवः—कल्याण स्वरूप। जो सारे प्रपंच के शान्त होने पर एक परममङ्गलमय अधिष्ठान बच जाता है वही शिव है।

भगवन्नामों में सर्वश्रेष्ठ होने से यह प्रथम कहा गया है। शिवरहस्य का उद्घोष है–

सर्वाणि शिवनामानि मोक्षदान्येव सर्वदा। तेष्वप्यत्युत्तमं नाम शिवेति ब्रह्मसंज्ञितम् ॥
शिवेति नाम विमलं येनोच्चारितमादरात्। तेन भूयो न संसारसागरः समवाप्यते ॥

यह वेदप्रसिद्ध नाम है, 'नमः शिवाय'–यह पंचाक्षर मन्त्र वेदों के मध्य में विराजमान है। ऋग्, यजुः, साम आत्मक वेद का मध्यभाग यजुः है, उसके मध्य में चतुर्थ काण्ड है, उसके मध्य में 'नमः सोमाय' अनुवाकं के (कृष्णयजु के अनुसार समझना चाहिये) मध्य में उक्त पंचाक्षर मंत्र है जिसके मध्य में शिव-नाम है। सकलवेदमध्यवर्ती होने से भी यह महान् है। प्रणव का माहात्म्य तो प्रसिद्ध ही है। प्रणव का ही स्थूलरूप पंचाक्षर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मंत्र है, इस कारण से भी इसकी महत्ता है। विद्येश्वरसंहिता में शिवपुराणवचन है–

शिवनाम नमःपूर्वं चतुर्थ्यां पंचतत्त्वकम्। स्थूलप्रणवरूपं हि शिवपञ्चाक्षरं द्विजाः ॥
पञ्चाक्षरजपेनैव सर्वसिद्धिं लभेन्नरः। (१७.३३, ३४)

आलवाल में इस नाम की सारगर्भित व्याख्या है–

प्रकृत्या नैर्मल्यादमलगुणयोगादपि शमा-
ज्जगत्याधारत्वाद्भजदमृतदानाच्च भवतः।
बलादिच्छाशक्तेः प्रथितपुरि भद्रश्रव इति
प्रतीतस्त्वं लिंगे त्रिपुरहर! तस्मादसि शिवः ॥७॥

मलरहित होने से, कल्याणगुणों वाले होने से, प्रशान्त होने से, प्रपंच के आधार होने से, आपका भजन करने वालों को अमृत देने वाले होने से, और इच्छाशक्ति के आश्रय होने से आप स्वभाव से ही शिव हैं। तथा 'भद्रकर्णह्रद' नामक स्थान पर स्थापित लिंग में आप 'शिवेश्वर' नाम से जाने जाते हैं इसलिये भी आप शिव हैं।

जिसके कारण हम जीव हैं वह अनादि अविद्यासम्बन्ध आणवमल है। कर्मवासनायें कार्मणमल और स्वरूप का आवरण मायीयमल है। ये तीनों महादेव में निसर्गतः ही नहीं हैं। अतः कल्याणविरोधी विशेषता के अभाव में स्वतः शिवरूपता है। अतः कहा 'स्वभाव से ही शिव हैं'। किं च शिव अर्थात् शोभन गुण जिनके हों वे शिव हैं। इस निर्वचन में मत्त्वर्थीय अच् प्रत्यय का (अष्ट. ५.२.१०७) प्रयोग है। यद्यपि निर्गुणत्व-सगुणत्व का विरोध नहीं, सर्वगुणाधार होने पर भी उपास्यता की स्पष्टता के लिये कल्याणगुणों की ही गणना की। 'नीलकण्ठं प्रशान्तम्' (कै. ७) आदि श्रुति के अनुरोध से उपशमार्थक शमु धातु से शाम्यतीति व्युत्पत्ति से भी कथंचित् शिवशब्द समझना चाहिये। जगती अर्थात् प्रपंच के आधार हैं इसलिये शेते सर्वमस्मिन्निति व्युत्पत्ति से शीङ् धातु से वन् प्रत्यय (उण.१.१५३) लगाकर शिवशब्द बनता है। अथवा भक्त लोगों के हित की इच्छा करने वाले होने से वष्टि इति व्युत्पत्ति से वश धातु से अच्-प्रत्यय (अष्ट.३.१.१३४) लगाकर वर्णव्यत्यय से शिवशब्द समझना चाहिये। कहा भी है–

हिंसिधातोः सिंहशब्दो वशकान्तौ शिवः स्मृतः।
वर्णव्यत्ययतः सिद्धः पश्यकः कश्यपो यथा ॥

इसी प्रकार इच्छाशक्ति का बल अर्थात् आश्रय होने से भी शिवपरक शिवशब्द है। शक्तियों का आश्रय शिव है इसमें 'महेश्वरं .....अस्य शक्तिः' (श्वे. ६.७-८) आदि श्रुति प्रमाण है। किं च श्यति अशुभम् इस व्युत्पत्ति से अशुभ-निवारक होने से भी शिव शिव कहे जाते हैं।

व्याख्यात्मक श्लोक शिखरिणी छन्द में है। 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी'–यह उसका लक्षण है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(२) महेश्वरः —जो सारे संसार का महान् नियामक तत्त्व सभी शक्तियों का केन्द्र है, वही महेश्वर है । यह नाम 'मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वे ४.१०), 'परमं महेश्वरम्' (श्वे. ६.७) आदि श्रुतियों में प्रसिद्ध है । उपमन्यु ने भी घोषणा की थी–

सत्यं सत्यं हि नः शक्र वाक्यमेतत्सुनिश्चितम् । न यन्महेश्वरं मुक्त्वा कथान्या मम रोचते ॥
(महा. अनु. दान. १४.१७९)

अर्थात् हे इन्द्र ! हमारा यह सुनिश्चित तथा सत्य ही कथन है कि महेश्वर को छोड़कर अन्य कोई बात मुझे अच्छी नहीं लगती । कविकुलगुरु ने भी स्वीकारा है–

हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापरः ॥ रघु. ३.४९ ॥

ब्रह्मवैवर्त पुराण में (प्रकृति खण्ड ५३ अध्याय) महेश्वर शब्द यों समझाया गया है–

विश्वस्थानां च सर्वेषां महतामीश्वरः स्वयम् । महेश्वरं च तेनेमं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥

अर्थात् जगत् में जो भी महान् हैं उनके शासक होने से भगवान् शंकर को विचारक महेश्वर कहते हैं । ध्यान रखना चाहिये कि महेश्वर शब्द महांश्चासावीश्वरश्च इस प्रकार कर्मधारय समास है, न कि महतामीश्वरः इस प्रकार तत्पुरुष । तत्पुरुष होने पर 'आन्महतः समानाधिकरण जातीययोः' (अष्ट. ६.३.४६) से महत् शब्द को आकार अन्तादेश न होगा, क्योंकि महत् शब्द और ईश्वर शब्द भिन्न-भिन्न विषय वाले होने से समानाधिकरण नहीं हैं, एवं च 'महदीश्वर' शब्द बनेगा न कि 'महेश्वर' । अतः उक्त पुराणवचन का तात्पर्य है कि महेश्वर की ईश्वरता की महत्ता यह है कि वह संसार के महान् व्यक्तियों का–इन्द्रादि का–ईश्वर है ।

अथवा, महती महामाया का शासक होने से महेश्वर है–महत्या ईश्वरो महेश्वरः । इस व्युत्पत्ति में भी पूर्वोक्त आपत्ति तो है ही । अतः कर्मधारय मानना ही उचित है । इस नाम का व्याख्याश्लोक है–

तवेश्वरत्वं त्रिजगद्विलक्षणं त्वमीश्वराणां महतामपीश्वरः ।
जगत्तिरोधानकरः श्रुतीरितस्त्वं पञ्चविंशोऽपि परो महेश्वरः ॥८॥

आपकी ईश्वरता तीनों लोकों से न्यारी है, आप महान् शासकों के भी नियामक हैं, आप संसार को समाप्त करने वाले हैं, आप श्रुतियों द्वारा बताये गये हैं, आप चन्द्रशेखरादि पच्चीसों रूप होने पर भी उनसे परे हैं; अतः आप महेश्वर हैं ।

ईश धतु से कर्ता अर्थ में वरच् प्रत्यय (अष्टा.३.२.१७५) कर ईश्वर शब्द बनता है जिसका अर्थ है–शासन करने वाला । तीनों लोकों के शासक स्वयं शासित होते हैं किन्तु इनसे विलक्षण महादेव हैं जो सब पर शासन तो करते हैं पर स्वयं कथमपि शासित नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होते। इसमें 'भीषास्माद्वातः पवते' (तै. ब्र. ८) 'न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके न चेशिता' (श्वे. ६. ८) आदि श्रुतियाँ प्रमाण हैं। इस वैलक्षण्यरूप महत्व को ही व्यक्त किया यह कहकर कि आप महान् शासकों के भी नियामक हैं। अथवा शीघ्र व्याप्त करने वाले होने से, या शीघ्र वर आदि देने वाले होने से महादेव को ईश्वर कहते हैं। व्याप्त्यर्थक अशू धातु से औणादिक वरट् प्रत्यय तथा उपधा के ईत्त्व से यह शब्द सिद्ध होता है 'अश्नोतेराशुकर्मणि वरट् च' (उण. ५. ५७; सि. कौ. ४९४१)। अन्यों की शीघ्रता से भी शिव की शीघ्रता अधिक है इसमें यह यजुर्मन्त्र प्रमाण है—'मनसो जवीयो नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्' (ईश. ४)। प्रलय करने वाले होने से तो शम्भु संसार के समापक हैं ही, विद्याशक्ति से बाधप्रयोजक होने से भी जगत् का तिरोधान करते हैं। 'न सन्न चासच्छिव एव केवलः' (श्वे. ४. १८) 'शिवाय नमः शिवलिंगाय नमः' (महाना. ४. १६) आदि श्रुतियाँ तो बारम्बार महेश्वर का ही प्रतिपादन करती हैं। सोमधारी, उमासमेत आदि पच्चीस शिवमूर्तियाँ आगम-प्रसिद्ध हैं। निराकार होने से उनसे परे होना स्वाभाविक है। यद्वा सांख्यसम्मत पच्चीस तत्त्व भी भगवद्रूप हैं और वे वस्तुतः व्यक्ताव्यक्त उन पच्चीसों से परे भी हैं ही। अथवा पंचज्ञानेन्द्रियाँ, पंचकर्मेन्द्रियाँ, पंचप्राण, पंचक्लेश, अन्तःकरणचतुष्टय और कर्म—ये पच्चीस तथा इनमें अध्यास करने वाला जीव ये अपरा और परा प्रकृतियाँ बाध तथा मुख्य सामानाधिकरण्य से भगवद्रूप हैं यह आशय है।

इस श्लोक का छन्द है वंशस्थ जिसका लक्षण है—जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ।

(३) शम्भुः —आनन्द स्वरूप। भोग काल में विषयरूप धारण करने वाला एवं मोक्ष-साधना में एकाग्रवृत्ति का विषय बनने वाला शम्भु तत्त्व है।

प्रथम तीन नाम संहार, स्थिति व सृष्टि के सूचक होने से परब्रह्म के तटस्थ लक्षण को उपस्थित करते हैं। प्रथम नाम से उपादानता व द्वितीय से निमित्तता स्पष्ट कर चुककर तृतीय से अभिन्न निमित्तोपादान कारणरूपता बताना सरल होने से यह क्रम अनुकूल है। इस तृतीय नाम से भगवान् वेदोक्त हैं ऐसा दीक्षित जी ने भी कहा है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमनिलं पद्मजं विष्णुमीशं प्राहुस्ते ते परमशिव ते मायया मोहितास्त्वाम्।
एतैः सार्धं सकलमपि यच्छक्तिलेशे समाप्तं स त्त्वं देवः श्रुतिषु विदितः शम्भुरित्यादिदेवः ॥

(आत्मार्पणस्तुति ३)

अन्तकाल में भगवत्स्मरण के लिये इस नाम की उपयोगिता शिवभुजंग के इस प्रयोग से सिद्ध है—

यदा दारुणाभाषणा भीषणा मे भविष्यन्त्युपान्ते कृतान्तस्य दूताः।
तदा मन्मनस्त्वत्पदाम्भोरुहस्थं कथं निश्चलं स्यान्नमस्तेस्तु शम्भो ॥२१॥

भास्कर राय शम्भु शब्द की यों व्याख्या करते हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शं भावयसि च भवसे शं च भवसि चेति वा देव ।
त्वं देवदारुविपिने लिङ्गे प्रथितोस्यतः शम्भुः ॥९॥

हे देव ! आप सुख उत्पन्न करते हैं व स्वयं सुख पाते हैं, आप सुखरूप व सद्रूप हैं; देवदारु के जंगल में विराजमान लिंग में आप शम्भुनाम से प्रसिद्ध हैं; इन कारणों से आप शम्भु हैं । 'मितद्र्वादिभ्य उपसंख्यानम्' वार्तिक से (सू. ३.२.१८०) डु प्रत्यय हो प्रयोजकता अर्थ के तात्पर्य से शम्भु शब्द बनता है । जैसाकि भट्टोजी ने कहा है 'अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र भवति' अर्थात् शम्भावयतीति यह व्युत्पत्ति है । एवमपि शम्भवतीति व्युत्पत्ति भी शिष्ट सम्मत है, यतः तत्त्वबोधिनीकार सूचित करते हैं–'शम्भवति सुखस्वरूपो भवतीति शम्भुरित्यन्ये ।' प्रकृत श्लोक में तीन व्युत्पत्तियाँ दिखायी हैं । प्रथम निरुक्ति के अनुसार भगवान् ही सब सुखों के उत्पादक हैं । विषयानन्दादि का कारण भी स्वरूपसुख ही है ऐसा आचार्यों ने विस्तार से स्पष्ट किया है । द्वितीय निर्वचन में प्राप्ति अर्थ वाले भू धातु का प्रयोग है । भू प्राप्तावात्मनेपदी (चुरा. उ. से) । अतः शं भवते सुखं प्राप्नोतीति शम्भुः–यह व्युत्पत्ति है । हमें सुख प्राप्त होता है का इतना ही अर्थ है कि हमारे लिये वह अनावृत होता है । शिव के लिये तो उनका स्वरूपसुख सदा अनावृत होने से यह निःशङ्क कह सकते हैं कि वे नित्य सुख प्राप्त करते हैं । 'विज्ञानमानन्दम्ब्रह्म' (बृ. ३. ९. २८) आदि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं । इस अर्थ में प्राप्तव्य और प्राप्तिकर्त्ता में भेद की शंका हो जाती है अतः तीसरी व्याख्या है शं सन् भवति । वे सुखरूप होते हुए सद्रूप हैं । 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्ब्रह्म' (तै. २. १) आदि श्रुति यहाँ प्रमाण जाननी चाहिये ।

श्लोक में उपगीतनामक छंद का प्रयोग है । प्रथम व तृतीय चरण में बारह और द्वितीय व चतुर्थ चरण में पन्द्रह मात्रा वाला छन्द उपगीति होता है ।

(४) पिनाकी–पिनाक नामक धनुष को धारण करने वाले । प्रणवरूप धनुष ही पिनाक है । अतः भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये नादरूप ॐ बनने वाले पिनाकी हैं ।

रक्षा करने वाला या जिसकी स्तुति की जाती है वह पिनाक कहलाता है–'पातीति, पनाय्यते स्तूयतइति वा पिनाकः' । पन धातु (भ्वा. आ. से.) स्तुत्यर्थक है । पिनाकशब्द उणादिसिद्ध आकप्रत्ययान्त है–'पिनाकादयश्च' (४.१५) । पिनाक जिसका है वह पिनाकी । शिवधनुष तो प्रसिद्ध ही है । भक्तों को अभय और द्रोहियों को भय देने का कार्य पिनाक आदि आयुधों का है । श्रुति भी महादेव के धनुष को नमन करती है–'नमस्ते अस्तु धन्वने', 'अवतत्य धनुः', 'हस्ते बभूव ते धनुः' (नमकाध्याय) आदि । उपनिषत् में रहस्य स्पष्ट किया–'प्रणवो धनुः' (मुं. २. २. ४) । उपनिषत्प्रसिद्ध महान् अस्त्र तो यही है–'धनुर्गृहीत्त्वौपनिषदं महास्त्रम्' (मुं. २.२.३) । प्रणव का शिव से निकट का सम्बन्ध है । उसे उनका नेदिष्ठ नाम तथा वाचक कहा है । अतः प्रणवनाम वाले होने से भी पिनाकी हैं । महेश्वर के तुरन्त बाद पिनाकी कहने से केवल नियमन करने वाला अस्त्र उपस्थित

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होता; वही कल्याण का उपाय भी है यह बताने के लिये मध्य में शम्भु नाम दे दिया। पिनाक की स्तुत्यता में पाददिकेशान्तस्तोत्र प्रमाण है–

यस्य प्राहुः स्वरूपं सकलदिविषदां सारसर्वस्वयोगं
यस्येषुः शार्ङ्गधन्वा समजनि जगतां रक्षणे जागरूकः।
मौर्वी दर्वीकराणामपि च परिवृढः पूस्त्रयी सा च लक्ष्यं
सोव्यादव्याजमस्मानशिवभिदनिशं नाकिनां श्रीपिनाकः ॥२॥

पिनाकी नाम की आलवालीय व्याख्या है–

नाकोऽपि येन पिहितो मुनिकण्वमूर्धवल्मीकवेणुजधनुस्त्रितयाग्रजन्मा।
यः सप्तशीर्षफणिरूप उदारकर्मा चापस्तमावहसि नाथ! ततः पिनाकी ॥ १० ॥

हे नाथ! कण्वमुनि की मूर्धा पर बनी बाँबी में उत्पन्न बाँस से बने तीन धनुषों में प्रथम जिस धनुष द्वारा स्वर्ग भी आच्छादित कर दिया गया, जो (धनुष) सात फणों वाले साँप के आकार का और जगत् के हित के लिये कार्य करता है, उसे आप धारण करते हैं, इसलिये पिनाकी हैं।

पिनाक धारण का कारण स्वयं महेश्वर ने यों बताया है–पूर्वयुग में कण्वमुनि तपस्या कर रहे थे। स्थिर भाव से तपोरत होने से उनके सिर पर बाँवी जम गयी। तप से प्रसन्न हुए ब्रह्माजी वर देने उपस्थित हुए। वर देकर उन्होंने वहाँ (बाँवी में उत्पन्न) बाँस देखा और तपस्विसम्बन्ध से वीर्यवान् उस बाँस का लोकोपकारी विनियोग सोचकर उन्होंने उससे तीन धनुष बनाये–पिनाक, शार्ङ्ग और गाण्डीव। इस प्रकार ब्रह्मा द्वारा बनाये पिनाक को भगवान् धारण करते हैं। उसमें भी हेतु है देवताओं पर कृपा–

देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थं पिनाकं मे करे स्थितम् ॥
(महाभा. अनु. दान. १४१.७ आदि)

महाभारत में ही सर्पाकारता पिनाक की बतायी है–

इन्द्रायुधसवर्णाभं धनुस्तस्य महात्मनः। पिनाकमिति विख्यातमभवत् पन्नगो महान् ॥
सप्तशीर्षो महाकायस्तीक्ष्णदंष्ट्रो विषोल्वणः। महा. अनु. दान. १४. २५६-७ ॥

स्वर्ग पर असुरों का अधिकार होने पर उनके विनाशार्थ इस धनुष से छोड़े बाणों ने स्वर्ग को आच्छादित किया यह संगत ही है।

यह वसन्ततिलकाछन्द में निबद्ध श्लोक है। 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' यह इसका लक्षण है।

(५) **शशिशेखरः** –चन्द्रमा को सिर पर धारण करने वाले। मन ही चन्द्रमा है। शिव के सर्वोत्तम प्रकाश को मन ही ग्रहण करके जीव को मुक्त बनाता है अतः वह शेखर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
है । जैसे चन्द्रमा में कालिमा है, वैसे मन में वासना है । एवमपि वह प्रकट तो आत्मज्योति को करता ही है ।

शशी चन्द्र का नाम है । शेखर कहते हैं शिरोभूषण को । शशी जिसका शिरोभूषण है वह शशिशेखर है । चन्द्र को मनोजात बताया गया है अतः उसे मन का प्रतीक समझा जाता है । मन जीवोपाधि है ही । वह जब भगवज्ज्ञानाकार होता है, तभी शिवशेखर बनता है । क्योंकि वह ज्ञान निर्विशेष है इसलिये मन अतिसूक्ष्म हो—शिव के मस्तक पर द्वितीया का ही चन्द्र हो—यह युक्त है ।

भगवान् ने चन्द्र को शिरःस्थान देकर भक्तों को ढाढस दिया है, क्योंकि—

क्षामो निकामजडिमा कुटिलः कलावान् दोषाकरोयमिति चेत्त्यजसि प्रभो माम् ।
एतादृशैरुपगतोऽपि समस्तदोषैः कस्मात्त्वया शिरसि नाथ ! धृतः शशांकः ॥
(स्तु. कु. ११. ४२)

भट्ट जगद्धर कहते हैं कि क्षाम (= कृश), जड, कुटिल, कलावान् (= ठग), और दोषाकर (दोषों की खान) होने से मेरा परित्याग क्योंकर करेंगे जब क्षाम (= द्वितीया के तनु), जड (= शीतल), कुटिल (= टेढ़े), कलावान् (एक कलायुक्त) और दोषाकर (रात में उगने वाले) शशांक को उन्होंने सिर चढ़ा रखा है !

शशिशेखर नाम की भास्करीय टीका है—

मतिमयोऽखिलजीवसमष्टिरप्यमथि दक्षमखे हिमगुर्वृथा ।
इति धिया दयया विधृतस्त्वया शिरसि तेन भवान् शशिशेखरः ॥११॥

'ज्ञानरूप व सब जीवों का समष्टि-आत्मक होता हुआ भी शीतलरश्मि यह चन्द्र व्यर्थ ही मेरे द्वारा दण्डित किया गया'—इस विचार से दया के कारण आपके द्वारा यह सिर पर धारण किया गया है जिससे आप शशिशेखर हैं ।

केवल प्राकृत चन्द्रबिम्ब को ही भगवद्भूषण नहीं मानना चाहिये, इसके साथ ही उपर्युक्त चन्द्र और उसकी भूषणता भी समझनी चाहिये । जीव की उपाधि के दो भाग हैं—क्रियाभाग व ज्ञानभाग । क्रियाभाग स्वरूप से अध्यस्त और ज्ञानभाग संसर्ग से अध्यस्त है । क्रिया स्वतः मिथ्या है । ज्ञान का केवल उपाधि से अभिन्न हो प्रतीत होना मिथ्या है, ज्ञान स्वतः मिथ्या नहीं । अतः यहाँ मतिमय चन्द्र का उल्लेख हुआ । जीवमात्र की उपाधि की विवक्षा से 'सब जीवों का समष्टि-आत्मक' कहा ।

दक्षयज्ञविध्वंस में वहाँ उपस्थित प्रायः सभी देवता ताडित हुए थे । उनमें चन्द्रमा भी थे । बाद में सामगानपूर्वक नीति से चन्द्रमा ने ८.ज्ञ अपनी निर्दोषता प्रकट की तो भगवान् ने कृपा कर उसे अपना लिया । निरपराध दण्डित न हो, यदि हो भी जाय तो पता लगने पर उसे सन्तुष्ट करना चाहिये यह लोकशिक्षा दी गयी है ।

यह द्रुतविलम्बित छन्दस्क श्लोक है । 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' लक्षण है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(६) वामदेवः —सुन्दर स्वयम्प्रकाश । अन्य सभी परप्रकाश को लेकर ही प्रकाश वाले बनते हैं, एवं तेज होने पर सहन नहीं किये जा सकते । यह सुन्दर इसीलिये है कि इसका तेज सर्वाधिक होने पर भी सर्वाधिक रमणीय लगता है ।

वामशब्द नानार्थक है । कोषकार कहते हैं–

'वामं धने, पुंसि हरे कामदेवे पयोधरे ।
वल्गुप्रतीपसव्येषु त्रिषु, नार्यां स्त्रियामथ ॥' (मेदिनी) ।

अतः वल्गु अर्थात् शोभन-या सुन्दर–यह वामशब्द का अर्थ है । दिव् धातु भी बह्वर्थक है–

'दिवु क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु'

अतः द्युति या प्रकाश भी इसका अर्थ है । प्रकाश की शोभनता यही है कि वह किसी अन्य का न हो । इस प्रकार वामदेव शब्द स्वप्रकाश का वाचक हो गया । शिव ही अकेले स्वप्रकाश आत्मतत्व हैं । जैसा कि स्कान्दवचन है (सूत सं. ४. २८. ३)–

'जडं हि गम्यतेन्येन नाऽजडं मुनिपुंगवाः ।
शिवो नैव जडः साक्षात्स्वप्रकाशैकलक्षणः ॥'

अधिष्ठान होने से वे ही सव को प्रकाशित करते हैं । 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मुं. २. २. ११), 'न तम्पश्यति कश्चन' (वृ ४. ३. १४) आदि श्रुतिवचन अनुसंधेय हैं ।

वामशब्द शिवार्थक होने पर वामएव देवः व्युत्पत्ति होगी । कामदेवार्थक वामशब्द होने पर वामस्य देवः विग्रह होगा । यह नाम श्रुतिसिद्ध है–'वामदेवाय नमः' (महाना. ४. १८) । प्रकाश्य शशिशब्दित मन उपस्थापित करने के अनन्तर स्वप्रकाश शिवतत्त्व का प्रकाशन सुसंगत है ।

आलवाल में इस पर यह श्लोक है–

वामार्धेन क्रीडसि त्वं त्रिलोकीवक्राचारो वल्गुमोदोऽसि तस्मात् ।
विश्वोत्तीर्णः स्रष्टृतामप्यतीतः प्रेयानात्मा कथ्यसे वामदेवः ॥१२॥

आप अपने शक्तिरूप वामार्ध से जगज्जन्मादि क्रीडा करते हैं जिससे आपका परमस्वरूप सर्जकता से अस्पृष्ट ही रहता है, आप तीनों लोकों से उल्टे ही आचार वाले हैं जिससे सारे संसार से विलक्षण हैं, आप अति सुन्दर ढंग से आनन्दित हैं जिससे आप प्रियतर-स्वरूप हैं; इन हेतुओं से आप वामदेव कहे जाते हैं ।

वाम-देव शब्द की तीन व्युत्पत्तियों के अनुसार उक्त तीन हेतु हैं । वामेन वामार्धेन दीव्यति–यह पहली व्युत्पत्ति है । स्त्रीवाचक वामाशब्द शक्तिविषयक है । उसे अधिष्ठित कर ही शिव सारी क्रीडा करते हैं । सौन्दर्यलहरी में कहा है–

'शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्' ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वार्तिकाचार्य ने भी स्पष्ट किया है–

अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम् । अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते ॥

क्योंकि अविद्याशक्ति से कारणता है इसलिये स्वरूप वस्तुतः कारणता से परे है । दूसरी योजना है वामो वक्रो देवो व्यवहर्त्ता । भगवान् की लीला अन्य परम्पराओं से उल्टी ही है । जहर पीना, कपाल रखना, श्मशान में रहना, आधे शरीर में स्त्री रख लेना आदि सब विचित्र हैं । यमराज ने कहा ही है–

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः । (कठ. १.२.२०) ।

भक्तश्रेष्ठ उत्पलदेव ने अन्य ढंग से शिव की लोकोत्तरता बतायी है–

सदसत्त्वेन भावानां युक्ता या द्वितयी स्थितिः ।
तामुल्लंघ्य तृतीयस्मै नमश्चित्राय शम्भवे ॥ स्तो. ३.१ ॥

लौकिकादि मर्यादाओं के प्रयोजक इष्टता व अनिष्टता जिस आप्तकाम निष्काम में नहीं, वह भला मर्यादित रहेगा ? वामदेव शब्द को समझने का तीसरा ढंग है–वामः सुन्दरः स चासौ देवो मुदितः । मोद का सौन्दर्य है अकृत्रिम अतिशयता । जिसके आनन्द के टुकड़े का उपजीवन कर ब्रह्मा, विष्णु आदि आनन्द वाले हैं उस आनंदघन के सौन्दर्य का क्या कहना ? उस आनन्दरूप शिव के न होने पर कुछ और होना संभव नहीं–

को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । (तै. २. ७)

इस प्रमुदित वामदेव का वर्णन आत्मार्पणस्तुति में मिलता है–

आनन्दाब्धेः कमपि च घनीभावमास्थाय रूपं शक्त्या सार्धं परममुमया शाश्वतं भोगमिच्छन् ।
अध्वातीते शुचिदिवसकृत्कोटिदीपे कपर्दिन् आद्ये स्थाने विहरसि सदा सेव्यमानो गणेशैः ॥४॥

अन्य सबकी अपेक्षा सदा अधिक प्रिय बने रहने से यहाँ शिव को 'प्रियतर' कहा ।

प्रकृत श्लोक का शालिनी छंद है जिसका लक्षण है–मगण, दो तगण व दो गुरुवर्णों वाला वह छन्द जिसके चौथे व सातवें अक्षर पर यति हो । 'मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः' ।

(७) विरूपाक्षः –असुन्दर आँख वाले । तीन आँखें होने से शिव को ऐसा कहा जाता है । वस्तुतः अक्ष या इन्द्रियाँ विषय को देखती हैं पर इनकी आँख विषयगत चेतन को ही देखकर मानो विषय को नंगा कर देती है, अतः वे विरूपाक्ष कहे गये हैं ।

वामदेव की वामता–वक्रता, लोकोत्तरता–स्पष्ट करने के लिये ही तदनन्तर यह नाम आया है । वे अतिसुन्दर और विरूपाक्ष एक साथ हैं । वस्तुतः अन्यों के सरूप न

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होने से ही विरूप हैं । इन्द्रियाँ संबको नियंत्रित रखती हैं, आँख से ही देखते हैं, कान से ही सुनते हैं; यहाँ तक कि योगियों के लिये भी विचारकों ने कह दिया है 'न रूपे श्रोत्रवृत्तिता'; पर शिव के लिये देखना आँख पर निर्भर नहीं करता, न सुनना कान पर—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः । (श्वे. ३.१९) ।

इस नाम की श्लोकात्मक व्याख्या है—

विषमाणि विविधशक्तीन्यक्षीणि विलक्षणानि चाक्षाणि ।
हर ! हेमकूटशैले लिंगे व्यक्तोऽस्यतो विरूपाक्षः ॥१३॥

हे हर ! आपकी आँखें विषम और विविध शक्तियों वाली हैं, आपकी इंद्रियाँ विलक्षण हैं, हेमकूट पहाड़ पर स्थित लिंग में आप विरूपाक्ष नाम से प्रसिद्ध भी हैं अतः आप विरूपाक्ष हैं ।

यहाँ भी तीन व्युत्पत्तियाँ हैं । प्रथम दो अक्षिशब्द से हैं व तृतीय अक्षशब्द से । विषमाणि अक्षीणि, विविधशक्तीन्यक्षीणि वा यस्य विग्रह करने पर 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वांगात् षच्' (अष्टा. ५.४.११३) सूत्र से समासान्त षच् प्रत्यय हो विरूपाक्षशब्द सिद्ध होता है । दो, चार आदि समसंख्या व तीन, पाँच आदि विषम संख्या प्रसिद्ध ही है । लोकोपकार के लिये ही तीसरा नेत्र है । देवी ने हँसी में भगवान् की चन्द्र-सूर्यात्मक आँखें बन्द कर दीं तो तुरन्त भगवान् ने तीसरा नेत्र बनाकर लोक-व्यवहार संभव किया—

नेत्रे मे संवृते देवि त्वया बाल्यादनिन्दिते । नष्टालोकस्तदा लोकः क्षणेन समपद्यत ॥
नष्टादित्ये तथा लोके तमोभूते नगात्मजे । तृतीयं लोचनं दीप्तं सृष्टं मे रक्षता प्रजाः ॥
(महाभा. अनु. दान. १४०. ४३-४४)

लोकहितार्थता ही वह रहस्य है कि विरूपाक्षता वामदेवता का विरोध नहीं कर पाती । ज्ञान, इच्छा और क्रिया—इन त्रिविध शक्तियों वाली आँखें भगवान् की हैं । ले जाना नेत्र का काम है । भगवान् को इन तीन रूपों में संसार में उनके तीन नेत्र लाते हैं । ये तीनों आत्मगमक चिह्न हैं । महादेव की सभी इंद्रियाँ विलक्षण हैं कारण कि अन्यों की इन्द्रियाँ तो महाभूतों के सात्त्विक या राजस अंशों से बनती हैं जबकि उनकी इन्द्रियाँ भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये, लिये गये रूप में तत्काल माया से संभव हो जाती हैं । इन्द्रियप्रयुक्त कर्तृत्व-भोक्तृत्व का व्यतिरेक ही वैलक्षण्य जानना चाहिये । यह नाम उपनिषत्-प्रसिद्ध है— 'विरूपाक्षं विश्वरूपाय वै नमो नमः' (महा. ४. २३) । किंपुरुषवर्ष के सीमापर्वत का नाम हेमकूट है । इसे हिमालय के उत्तर में माना गया है । वैसे मध्यकालीन विजयनगर साम्राज्य की राजधानी में—जिसे आजकल हम्पी कहते हैं—विरूपाक्ष का मन्दिर अति प्रसिद्ध है ।

गीति नामक मात्रावृत्त में यह श्लोक है । आर्या के प्रथमार्ध के समान ही द्वितीयार्ध भी हो तो गीति कही जाती है 'आर्याप्रथमार्धसमं, यस्याअपरार्धमाहतां गीतिम्' ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(८) कपर्दी– जटाधारी। आकाशरूप केशों का मेघविन्यास, जिससे गंगारूप नदियाँ भूतल पर आती हैं, कपर्द है। भूतल पर आने के पूर्व आकाश में ही गंगा रहती है। नटराजमूर्ति में जटा आकाश ही है।

जटाजूट को कपर्द कहते हैं। जटिल होने से शम्भु कपर्दी हैं। तपस्वियों के लिये जटाधारण विहित होने से भगवान् का यह रूप तपोनिष्ठापूर्वक आत्मारामता सूचित करता है। इस दुर्धर्ष साधन की उपयोगिता प्रकाशित कर साधकों को प्रेरणा देने के लिये ही महेश्वर जटिल हैं–

जटिलो ब्रह्मचारी च लोकानां हितकाम्यया। (महा. अनु. दान. १४१.७)।

विरूपाक्षताप्राप्ति का साधन जटिलता है, यह क्रम से स्पष्ट है। मन और इन्द्रियों की एकाग्रता परम तप है। देवपूजन, अनुद्वेगकरवाक्योच्चारण, मनः प्रसादादि स्मृतिसिद्ध तप भी समझने चाहिये। ज्ञानाभ्यास तो अन्तिम तप है ही। भगवान् के कपर्द से प्रार्थना है–

देयासु मूर्ध्निराजत्सरससुरसरित्पारपर्यन्तनिर्यत्प्रांशुस्तम्बाः पिशंगास्तुलितपरिणता रक्तशालीलता वः।
दुर्वारापत्तिगर्तश्रितनिखिलजनोत्तारणे रज्जुभूता घोराघोर्वीरुहालीदहनशिखिशिखा शर्म शार्वाः कपर्दाः॥
(केशादिपादान्तस्तोत्र १)

कपर्दशब्द वेदप्रसिद्ध है, भगवान् को नमकाध्याय में कपर्दी कहा है–नमः कपर्दिने। कपर्दशब्द को वैयाकरण यों समझाते हैं–पर्व पूरणे (भ्वा. प. से) धातु से भाव में क्विप् प्रत्यय करने पर 'राल्लोपः' (६.४.२१) सूत्र से वकार-लोप होता है और पूर्तिवाचक पर शब्द बनता है। क्विप् तो सम्पदादिगण में मानकर होता है। क-शब्द जलार्थक है, 'कं शिरोऽम्बुनोः' (अमर.)। अतः केन परं पूर्तिं ददातीति कपर्दः। 'सुपि स्थः' (३.२४) के योगविभाग से 'सुप्युपपदे आदन्तात्कः' अर्थ होने के कारण अथवा 'आतोनुपसर्गे कः' (३.२३) से ही दाधातु से कप्रत्यय हो जाता है। इसी तरह दैप् शोधने (भ्वा. प. अ.) धातु से यह अर्थ होता है–कस्य गंगाम्भसः परा पूरणेन दाप्यति शुद्ध्यतीति कपर्दः। यहाँ सुपिइस योगविभाग से ही प्रत्यय होता है। तथा कपरं गंगापूर्तिं-तत्प्रवाहं-दापयति शोधयति यह व्युत्पत्ति करने पर 'आतोनुपसर्गे' (३.२.३) से कप्रत्यय होगा। इन योजनाओं से भास्कर राय कहते हैं–

नदीपूरैः शोधादथ सुरधुनीशोधनात् तत्प्रदानात्
कचग्रन्थेर्भेदोऽतिशयितगुणः स्यात्कपर्दो वराटः।
तदाधारः पूरस्थगनमपि तत्पावनं तत्प्रकाश-
क्षमत्त्वं मैरालीं प्रथयसि तनुं छागलाण्डे कपर्दी॥१४॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देवनदी के प्रवाह से शोधित होने के कारण, सुरसरिता का शोधन करने के कारण और पृथ्वी पर बहने के लिये गंगाप्रवाह प्रदान करने के कारण विशिष्ट तरह गुँथे बाल कपर्द हैं, या अतिशय गुण कपर्द कहाते हैं, अथवा रस्सी को कपर्द कहते हैं। आप इस प्रकार के कपर्दों के आधार होते हुए गंगाप्रवाह का स्थगित होना और पवित्र होना संभव करते हैं, उसे प्रकट करने की अपनी सामर्थ्य स्पष्ट करते हैं, मैरालशरीर धारण करते हैं और छागलाण्ड में इस नाम से प्रसिद्ध हैं, अतः कपर्दी हैं।

कपरा दायति इस व्युत्पत्ति से प्रथम व्याख्या है। स्वतः पवित्र होते हुए भी, गंगा की पावकता प्रसिद्ध हो—इस दृष्टि से भगवान् गंगास्पर्शप्रयुक्त पवित्रता स्वीकार लेते हैं। कपरं दापयति व्युत्पत्ति से द्वितीय अर्थ है। जिनके संसर्ग से कालकूट भी अमृत बनकर रह जाता है उनके स्पर्श से गंगा क्यों पवित्र न होगी ? अतः मुनिपुंगव कहते हैं—

भवांगपतितं तोयं पवित्रमिति पस्पृशुः ॥ वाल्मी. रा. १. ४३. २७ ॥

पृथ्वी पर वहे इसके लिये भगीरथ पर कृपा कर महादेव ने पहले गंगा को निज जटा में स्थान दिया व उसके असह्य वेग को समाप्त कर सह्य वेगपूर्वक बहाया यह आदिकाव्यादि में सुव्यक्त है। कपर्दशब्द का अर्थ विशिष्ट गुण भी हो सकता है। 'क' शब्द सुखवाचक है 'सुखशीर्षजलेषु कम्' (मेदिनी)। सुख की पूर्ति अर्थात् पूर्ण सुख देने वाले विशिष्ट सद्गुण कपर्द हैं। रस्सी अर्थ तो कोशसिद्ध है 'कपर्दः खण्डपरशोर्जटाजूटे वराटके' (मेदिनी) गंगा को स्थगित महादेव ने किया था। गंगा ने सोचा था कि मैं अपने वेग से शम्भु को हिला दूँगी पर हुआ उल्टा ही—

सा तस्मिन् पतिता पुण्या पुण्ये रुद्रस्य मूर्धनि। हिमवत्प्रतिमे राम जटामण्डलगह्वरे।
सा कथंचिन्महीं गन्तुं नाशक्नोद्यत्नमास्थिता। नैव सा निर्गमं लेभे जटामण्डलमन्ततः।
तत्रैववबभ्रमद् देवी संवत्सरगणान् बहून् ॥ वाल्मी. रा. १. ४३. ७–९॥

पुष्पदन्तजी ने सारी वात अतिसंक्षेप में बता दी है—

प्रवाहो वारां यः पृषतलघुदृष्टः शिरसि ते। शिवमहि. १७।

'मैराल' शिवावतार विशेष का नाम है जिसमें रस्सी की माला धारण की थी। यह कथा 'तन्त्रचिन्तामणि' ग्रन्थ में देखनी चाहिये। छागलाण्ड क्षेत्र विशेष का नाम है। देवीभागवत में भी आता है—

छगलण्डे प्रचण्डा तु चण्डिकाऽमरकण्टके ॥ ७. ३०. ७३ ॥

छन्द का नाम है मेघविस्फूर्जित। 'रसर्त्वश्वैर्यूमन्सौ ररगुरुयुतौ मेघविस्फूर्जिता स्यात्'—रस, ऋतु और अश्व अर्थात् छठे, बारहवें और उन्नीसवें वर्णों पर यति हो तथा क्रमशः यगण, मगण, नगण, सगण, दो रगण और एक गुरु हो तो मेघविस्फूर्तिता छन्द होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

(९) नीललोहितः—नील और लाल रंग के । अग्नि की ज्वाला का ऊर्ध्वभाग लाल एवं अधोभाग काला होता है, अतः अग्निमूर्ति नीललोहित है । अर्धनारीश्वररूप भी नीललोहित है क्योंकि शिव अत्यन्त गौर होकर चेहरे पर लाल लगते हैं एवं काली नीलवर्णा हैं । परमार्थतः वृत्ति अज्ञान का—उसके कार्यविशेष का—कार्य होने से नील है और उसमें स्थित शिव अज्ञाननाशक होने से मानो क्रुद्ध या लाल हैं ।

अर्धनारीश्वर का यह रूप शिवभुजंग में दीखता है—

प्रवालप्रवाहप्रभाशोणमर्धं मरुत्वन्मणिः श्रीमहःश्याममर्धम् ।
गुणस्यूतमेतद्वपुः शैवमन्तः स्मरामि स्मरापत्तिसम्पत्तिहेतोः ॥५॥

कण्ठ में नील और अन्यत्र लोहित होने से भी नीललोहितता संगत है । यह वेदसिद्ध (वाज. सं. १६.४७) नाम है जिससे जैमिनि ने भगवान् को सम्बोधित किया है—

रक्ष मामज्ञमक्षीणमशिक्षितमनन्यगम् । अनाथं दीनमापन्नं दरिद्रं नीललोहित ! ॥
वेदपा. ६७ ॥

घोर-अघोर भेद से शिव के शरीरद्वय महाभारत में वर्णित हैं—

द्वे तनू तस्य देवस्य वेदज्ञा ब्राह्मणा विदुः । घोरा चान्या शिवा चान्या ते तनू बहुधा पुनः ॥
द्रो. २०२.१०७ ॥

उपनिषदों में अग्नि-सोमरूपता का वर्णन है । इन सबका प्रतिपादक नीललोहित नाम है । अष्टमूर्तियों में हुतवह भी होने से उस मूर्ति का वर्णन तो है ही । तपस्या के लिये द्वैतप्रपंच में स्थिति आवश्यक होने से नामक्रम संगत है ।

शिवनामकल्पलतालवाल इसे यों समझाता है—

नेमाङ्गनं प्रकृतिपूरुषं रवे-रन्तश्च रूपयुगवद्वपुस्तव ।
वेधोऽलिकाम्बुकणतोऽरुणासिताज्जातः शिव ! त्वमिति नीललोहितः ॥ १५ ॥

हे शिव ! आपका शरीर ऐसा है जिसका आधा स्त्री है; वह शरीर प्रकृति-पुरुषात्मक है और आदित्यमण्डल में ध्येयतया दो रूपों वाला है । ब्रह्मा के ललाट से उत्पन्न लाल व सफेद स्वेदबिन्दु से आपने जन्म लिया । अतः आप नीललोहित हैं ।

'नेमस्त्वर्द्धे' आदि हैमोक्ति से नेमशब्द अर्धवाचक है । एवं च नेममर्धमंगना यस्य वपुषः इस तात्पर्य से मूल में नेमांगन शब्द है । ऐसा ही वेदपादस्तव में वर्णन है—

अर्धालिकमवस्त्रार्धमस्थ्युत्पलदंलस्रजम् । अर्धपुंलक्षणं वन्दे पुरुषं कृष्णपिंगलम् ॥५॥

'पुरुषं कृष्णपिंगलम्' तो तैत्तिरीय आरण्यक (१०.१२.१) का वचन है ही । पूरुष पुरुष का ही पर्याय है । आगे जाना अर्थ वाले पुर (तु. प. से.) धातु से औणादिक (४.७५)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कुषन् प्रत्यय और उकार का दैर्घ्य (अष्टा. ६.३.१३७) होने से यह शब्द निर्मित हुआ है। समाहारार्थक समास है। शरीर में दोनों एकराशीकृत हुए ही हैं। प्रकृतिपुरुषात्मा यह प्रपंच है इसका सरस तथा अनुसन्धेय वर्णन उपमन्यु ने श्रीकृष्ण के प्रति शिवपुराण में (वायु. उत्त. ३) विस्तार से किया है। उन्हीं ने महाभारत में (अनु. १४.२३५) कहा है–

द्वाभ्यां तनुभ्यां व्याप्तं हि चराचरमिदं जगत् ॥

परिणामि-उपादानतया जाड्यप्राधान्य से प्रकृति की नीलता और निमित्तप्रधान कारणता से पुरुष की रोहितता युक्त है। सूर्यमण्डल में ध्येयरूप यह है–

'अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव सा, अथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमः, तत्साम। अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्वएव सुवर्णः तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी' (छां. १.६.६-७)।

सूर्यरूप रुद्र को नमकाध्याय में भी ऐसा ही बताया है–

असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः।

अलिक ललाट का नाम है। तज्जन्य जलकण पसीना ही होगा। वह पसीना अरुण व असित था। ब्रह्मा जी ने शिव को पुत्ररूप में पाने के लिये यज्ञ किया तो उनके माथे का पसीना अग्नि में गिरकर लाल व नीला हो गया। उससे नीललोहित नामक शम्भु का आविर्भाव हुआ ऐसा पौराणिक आख्यान है। शिवपुराण में–

कल्पे कल्पे प्रजाः सृष्ट्वा ब्रह्मा ब्रह्माण्डसंभवः। अवृद्धिहेतोर्भूतानां मुमोह भृशदुःखितः ॥
तस्य दुःखप्रशान्त्यर्थं प्रजानां च विवृद्धये। तत्तत्कल्पेषु कालात्मा रुद्रो रुद्रगणाधिपः ॥
निर्दिष्टः परमेशेन महेशो नीललोहितः। पुत्रो भूत्त्वानुगृह्णाति ब्रह्माणं ब्रह्मणोऽनुजः ॥
(वायु पूर्व. १४.२-४)

कहकर इसे व्यक्त किया है। वायुपुराण के वर्णन को भी देखना चाहिये–

स्रष्टुकामः प्रजा ब्रह्मा चिन्तयामास दुःखितः ॥ तस्य चिन्तयमानस्य पुत्रकामस्य वै प्रभो।
कृष्णः समभवद्वर्णो ध्यायतः परमेष्ठिनः ॥ अथापश्यन्महातेजाः प्रादुर्भूतं कुमारकम्।
कृष्णवर्णं महावीर्यं दीप्यमानं स्वतेजसा ॥ ... स तं दृष्ट्वा महात्मानममरं घोरमन्त्रिणम्।
ववन्दे देवदेवेशं विश्वेशं कृष्णपिंगलम् ॥ (पूर्वार्ध. अ. २३ श्लो. २१-२५)।

हरिहर रूप के उद्देश्य से भी यह नाम समझा जा सकता है। हरि का नील और हर का लोहित रूप एकत्र प्रकाशित होता है। यह रूप वामनपुराण में (अध्याय ५९) और कूर्मपुराण में (उत्तर. अध्य. ५) वर्णित है।

यह ललिता नामक छन्द है–धीरैरभाणि ललिता तभौ जरौ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(१०) शङ्करः – कल्याण करने वाले । भोगी को भोग तथा योगी को मोक्ष देते हैं अतः दोनों का कल्याण करते हैं ।

एकाक्षरकोष में बताया है–'शं सुखं शंकरः श्रेयः' । अतः श्रेय करने वाला–यह अर्थ शंकर का होता है । शं-पूर्वक कृञ् धातु से 'शमि धातोः संज्ञायाम्' (३.२.१४) सूत्र से अच् प्रत्यय हो यह शब्द सिद्ध होता है । शिवरहस्य में यही व्युत्पत्ति कही भी है–

स्मर्तव्यःशङ्करो नित्यं शङ्करोतीति शङ्करः । शंनामाऽनल्पमानन्दमनिर्वाच्यमनामयम् ॥

अर्जुन ने व्यास जी को अपना यह अनुभव बताकर कि महाभारत संग्राम में मुझे एक शूलधारी दीखता था जो सबको मारता था । मेरे बाण तो उसके मारे हुओं को ही मारते थे । पूछा कि वह कौन था, तो व्यास जी ने उस शूलधारी को शंकर ही कहा–

प्रजापतीनां प्रथमं तेजसां प्रवरं प्रभुम् । भुवनं भूर्भुवं देवं सर्वलोकमहेश्वरम् ॥
ईशानमीश्वरं देवं दृष्टवानसि शंकरम् ॥ महा. द्रोण. २०२.९-१०॥

इस प्रकार भक्तों का कल्याण करने वाला शंकररूप सिद्ध होता है । अतएव आचार्य शंकर अपने चित्त को शंकरचरणों में रमण करने की आज्ञा देते हैं–

छन्दः शाखिशिखान्वितैर्द्विजवरैः संसेविते शाश्वते
सौख्यापादिनि खेदभेदिनि सुधासारैः फलैर्दीपिते ।
चेतः पक्षिशिखामणे त्यज वृथासंचारमन्यैरलं
नित्यं शङ्करपादपद्मयुगलीनीडे विहारं कुरु ॥ शिवानन्द. ४५ ॥

महाभारत व आचार्योक्ति से स्पष्ट हो जाता है कि भोग व मोक्ष दोनों ही 'शं'-शब्द का अभिप्राय है । कलिकाल में मोक्षोपाय शंकरानुगम ही है यह कूर्मपुराण का भी उद्घोष है–

(कलौ ····) करिष्यत्यवताराणि शंकरो नीललोहितः । श्रौतस्मार्तप्रतिष्ठार्थं भक्तानां हितकाम्यया ॥
उपदेक्ष्यति तज्ज्ञानं शिष्याणां ब्रह्मसंज्ञितम् । सर्ववेदान्तसारं हि धर्मान् वेदनिदर्शितान् ॥
ये तं प्रीत्या निषेवन्ते येन केनोपचारतः । विजित्य कलिजान् दोषान् यान्ति ते परमं पदम् ॥
पूर्वभाग अ. २९ श्लो. ३३-३५ ॥

भगवान् भाष्यकार शंकररूप थे इसमें 'शङ्करोवतरिष्यति' आदि वचन प्रमाण हैं ही । वह रूप भी यहाँ नाम द्वारा ध्वनित है । 'नमः शङ्कराय' आदि नमकाध्याय श्रुति में यह नाम प्रसिद्ध है ।

कल्पलता में इसका यह अर्थ है–

कर एव सुखं धत्से भक्तानां कुरुषे च तत् ।
पीठे चन्द्रपुराभिख्ये नाम्ना ख्यातोऽसि शङ्कर ! ॥ १६ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हे शंकर ! आप सुख को हाथ में ही धारण करते हैं और भक्तों के लिये सुख कर देते हैं । चन्द्रपुरनामकं पीठ में शंकरेश्वर नाम से आप प्रसिद्ध हैं (अतः शंकर हैं) ।

भक्तों को देने में देर न हो इसलिये हाथ में ही सुख लिये रहते हैं । क्योंकि जिस किसी को भी सुख हो रहा है वह शिवप्रसाद ही है, इसलिये 'अभक्तानाम्' ऐसा भी छेद कर लेना चाहिये । 'हाथ में ही रखते हैं' से यह भी बताया कि उन्हें सुखभोग की कोई आवश्यकता नहीं । जैसा कि कहा है–

न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति । महिम्न. ८ ।

प्रकृत श्लोक पथ्यावक्त्र वृत्त में निबद्ध है । 'युजोश्चतुर्थतो जेन पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्' अर्थात् वैसा अनुष्टुप् जिसके दूसरे और चौथे पादों में चौथे वर्ण के बाद जगण हो ।

(११) शूलपाणिः – दुष्टों का विनाश करने के लिये (भाला तथा त्रिशूल) हाथ में धारण करने वाले । मन की वृत्तियाँ ही दुष्ट हैं । अतः मनको अपने स्वरूप से भेदन कर उसके कारणभूत अज्ञान को काटने वाली ब्रह्माकारवृत्ति ही शूल है । एवं वह वृत्ति उनके हाथ में है, उनके अधीन है, अतः वे शूलपाणि हैं ।

कल्याणकारी मूर्त्ति बताकर कल्याणोपाय तथा कल्याण में उपसर्ग का निवारण बताना संगत है । जगन्नियन्ता होने से प्रवृत्तिमार्गियों के लिये तथा संहारकमूर्ति होने से निवृत्तिमार्गियों के लिये भगवान् शूल रखते हैं । दुष्टों को दण्डित और सज्जनों को भयभीत रखना नियन्ता का काम है । अतः उपनिषत् ने 'ईशानो भूतभव्यस्य' (कठ. २. ४. १३) से उपक्रम कर 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' (२.६.२) कहा है । पारमेश्वर शूल ने न केवल राक्षसों को समाप्त किया है, विभिन्न लीलाओं में जब विष्णु को शिक्षित करना पड़ा है तब भी काम किया है । 'दग्धोऽसि पश्य शूलाग्नेः' (श. रु. सं. ११. ५१) आदि शिवपुराण इसमें प्रमाण है । शूलपाणि नाम उपनिषत् में भी मिलता है–'त्र्यक्षः शूलपाणिः पुरुषः' (महोप. २) । काशीस्थ शूलपाणि की महिमा सौरपुराण में (६.६-७) भी है–

अविमुक्तेश्वरं दृष्ट्वा लांगलीशं ततो ययौ । तत्र ब्रह्मादयो देवा सेवन्ते शूलपाणिनम् ॥

आचार्यचरण ने भागवत शूल की भक्तरक्षकता वर्णित की है–

कालारातेः कराग्रे कृतवसतिरुरःशाणशातो रिपूणाम्
काले काले कुलाद्रिप्रवरतनयया कल्पितस्नेहलेपः ।
पायान्नः पावकार्चिः प्रसरसखमुखः पापहन्ता नितान्तं
शूलः श्रीपादसेवाभजनरसजुषां पालनैकान्तशीलः ॥ (पादादिस्तो.४)

भास्करराय की सारभूत व्याख्या है–

शिव ! तृप्तपुरस्य लिङ्गमध्ये प्रकटः संस्त्रिगुणात्मकाललोकैः ।
शुचिशक्तिदशादिभिस्त्रिशूलं विदधत् त्वं प्रथितोऽसि शूलपाणिः ॥१७॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हे शिव ! तृप्तपुर के लिंग में प्रकट हुए आप शूलपाणि कहे जाते हैं तथा गुण, आत्मा, काल, लोक, अग्नि, शक्ति, दशा आदि त्रिकों से परिकल्पित त्रिशूल को धारण किये हुए आप शूलपाणि कहाते हैं ।

तृप्तपुर किसी स्थलविशेष का नाम है जहाँ भगवान् शूलपाणि प्रतिष्ठित हैं । महादेव के त्रिशूल की तीन नोकें कई त्रिपुटियों की प्रतीक हैं । सत्त्व, रजः, तमः—ये तीन गुण हैं । प्रमात्रात्मा, साक्ष्यात्मा और परमात्मा या जीवात्मा, ईश्वरात्मा और निर्विशेषात्मा—ये तीन आत्मा हैं । भूत, वर्तमान और भविष्य—ये तीन काल हैं । स्वर्ग, मानुष और नरक—ये तीन लोक हैं । गार्हपत्य, आहवनीय और अन्वाहार्य-पचन—ये तीन अग्नियाँ हैं । ज्ञान, इच्छा और क्रिया—ये तीन शक्तियाँ हैं । जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीन दशायें हैं । आदिशब्द से सृष्टि, स्थिति, संहार—इन तीन कृत्यों को, ऋग्, यजुः, साम—इन तीन वेदों को तथा अन्य सब त्रिकों को समझ लेना चाहिये । विषय, विषयी और विषयिता—इन तीन राशियों में सारा जगत् बँटा है । इस त्रिकात्मक जगत् का धारण शिव ही करते हैं । त्रिशूल ही जगत् का नाशक भी बनता है : क्षर, अक्षर और उत्तम पुरुष—इस त्रिक के परिज्ञान से ही प्रपंच की आत्यन्तिक निवृत्ति संभव है ।

प्रकृत श्लोक का औपच्छन्दसिक वृत्त है । इसमें प्रथम व तृतीय पादों में सोलह मात्रायें तथा द्वितीय और चतुर्थ में अठारह मात्रायें होनी चाहिये एवं विषम पादों में (प्रथम-तृतीय) छठी मात्रा के बाद और सम पादों में आठवीं मात्रा के बाद रगण व यगण का प्रयोग होना चाहिये । इसका लक्षण है—तत्रैवान्तेऽधिके गुरौ स्याद्, औपच्छन्दसिकं कवीन्द्रहृद्यम्' । 'तत्र' से वैतालीय जानना चाहिये ।

(१२) खट्वाङ्गी—खाट के पाये वाले । समग्र विश्व जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय में धृत है । ये चार पाये मानो उस खाट के हैं जिसमें सारा जगत् रहता है । उसमें एक तुरीय पाये को अपने रूप में धारण करने वाले शिव हैं । अतः इन्हें खट्वांगी कहा जाता है ।

खट कांक्षायाम् (भ्वा. प. से) धातु से औणादिक (१.१५१) क्वन् प्रत्यय हो शयनार्थिभिः खट्यते कांक्ष्यते अर्थ में खट्वा शब्द बनता है । अंग शब्द यहाँ पाये वाले हिस्से के अर्थ में है । खट्वायाअंगं खट्वांगं तदस्यास्तीति खट्वांगी—यह व्युत्पत्ति है । ज्ञानादि शक्तियाँ ही जब शुद्धसत्त्व को प्रवृत्त करने वाली हों तब उन्हें खट्वांग कहते हैं ऐसा शैवागम (काशिकागम) में बताया है—

इच्छाज्ञानक्रियारूपास्त्रिशूलं शक्तयो मताः । उक्तास्ताएव खट्वांगं शुद्धसत्त्वप्रवर्तकाः ॥

आयुधरूप से खट्वांगधारण महादेव करते हैं । मधुसूदनस्वामी आगम के आधार पर प्रधान (प्रकृति) को खट्वांग से द्योतित बताते हैं (महिम्नव्याख्या श्लो. ८) । प्रधान की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ईश्वराश्रितता सिद्धान्त में इष्ट है ही । खट्वांग पुरुषार्थ बताता है ऐसा स्पन्दवार्तिक में जयमंगलीय वचन है–

कांक्ष्यमाणांगताहेतोरप्यर्थोयं हि लभ्यते । खट्यते पुरुषार्थत्वात्कांक्ष्यते पुरुषैरिति ॥ ८.५७ ॥

इस अर्थ में यह शंकरनाम की व्याख्यारूप नाम है । जिस कल्याण को वे हाथ में लिये रहते हैं वह विवेकियों द्वारा कांक्ष्य है । शूलपाणि से त्रिपुटियाँ बताकर यहाँ अभेद बताना उचित है ।

ऊपर वर्णित खाट और पायों के विषय में यह रहस्य भूलना नहीं चाहिये कि खाट में लगा होने पर ही पाया होता है, उससे अलग किया हुआ तो केवल कहने भर का पाया है । ऐसे ही जाग्रत्, स्वप्न व सुषुप्ति तो पाये हैं, तुरीय केवल कहने भर का पाया है क्योंकि वह खाट में नहीं शिव के हाथ में है । वस्तुतः खट्वांग शिव से अभिन्न है । 'शिवं...चतुर्थम्' (माण्डू. ७) आदि श्रुति इसमें प्रमाण है । आकांक्ष्य चतुर्विध पुरुषार्थों में एक होने से वे खट्वांग हैं । प्रशंसा में प्रत्यय गतार्थ है । एवं च वे चौथा पाया सिद्ध होते हैं ।

आलवाल पौराणिक आख्यान-घटित अर्थ बताता है–

द्रुहिणस्यैकं वदनं मिथ्यावचनं दृष्ट्वा सद्यश्छिन्नं
न ततो वेधोमरणं शम्भोः क्व पुनर्हिंसाजन्यं पापम् ।
अथ दण्डार्धं वहसि त्वं तज्जनशिक्षार्थं खट्वाया वा
चरणं यत्तद् विमलं सत्त्वं प्रथितस्तेन त्वं खट्वाङ्गी ॥ १८ ॥

लिंगोद्भवलीला में ब्रह्मा का झूठ बोलना देखकर तुरन्त उनका एक सिर काट लिया पर उससे ब्रह्मा मरे नहीं तो भगवान् को हिंसाजन्य पाप कहाँ से होता ? फिर भी आप दण्डे का आधा टुकड़ा लिये हैं, वह लोगों को शिक्षा देने के लिये है कि प्रायश्चित्त अवश्य करना चाहिये । या, जो आपके हाथ में खाट का पाया है वह शुद्ध सत्त्व है । खट्वांग–दण्डे का आधा टुकड़ा या खाट का पाया–वाले होने से आप खट्वांगी हैं ।

शिवपुराण में (विद्येश्वर. ७-८; शतरु. ८) लिंगोद्भव का वर्णन है । आनन्त्य और सत्यादृति के प्रसंग में द्वितीय श्लोक में भी इस कथा का संकेत आ चुका है । लोकशिक्षणार्थ प्रायश्चित्त का आचरण भी शतरुद्रसंहिताप्रसंग में (८.६२) आया है–

ब्रह्महत्यापनोदाय व्रतं लोकाय दर्शय । चर त्वं सततं भिक्षां कपालव्रतमाश्रितः ॥

शान्तिपर्व में (३५.२-६) ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त बताया है–

कपालपाणिः खट्वांगी ब्रह्मचारी सदोत्थितः । ... पूर्णैर्द्वादशभिर्वर्षैर्ब्रह्महा प्रतिमुच्यते ॥

अतः भगवान् का खट्वांगधारण संगत है । खट्वांग के विषय में इतना मतभेद अवश्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
है कि दण्डे का आधा टुकड़ा ही खट्वांग है या आदमी की शिरोऽस्थि में बिंधा हुआ दण्डा खट्वांग है । जब शिव ने प्राणवियोगात्मक हिंसा न करने पर भी प्रायश्चित्त किया तो हमें मुख्य हिंसा करने पर प्रायश्चित्त करना ही चाहिये–यह शिक्षा ग्राह्य है । अर्थांतर में खाट का पाया पूर्वोक्त वचनानुसार शुद्धसत्व अर्थात् शुद्धसत्व प्रवर्तक शक्तियाँ हैं । शिव की सत्त्वप्रवर्तकता श्वेताश्वतरोपनिषत् में (३.१२) कही है–

महान् प्रभु वैं पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः । प्रयुक्त छन्द का नाम है 'शम्भु' । 'दशबाणार्थैर्यतिधारी स्तौ यभमा मो गः शंभुः प्रोक्तः' । अर्थात् दस, तदनन्तर पाँच व तदनन्दर चार वर्णों पर यति वाला शंभु छंद सगण, तगण, यगण, भगण, मगणद्वय और एक गुरु वाला होता है ।

(१३) **विष्णुवल्लभः** –विष्णु के परमप्रिय । वैदिक साहित्य में विष्णुतत्त्व उपादान कारण है, शक्तितत्त्व निमित्त कारण है और शिव अधिष्ठान अर्थात् अभिन्न निमित्तोपादान कारण है । उपादान कारण अधिष्ठान को परमप्रेम करे यह स्वाभाविक है क्योंकि वह उसका आत्मा है । पुराणों में तो विष्णु को शिवभक्तों में श्रेष्ठ माना ही है क्योंकि उन्होंने अपनी आँख तक शिवजी को चढ़ा दी थी । इतिहास में भी राम ने रामेश्वर की स्थापना की एवं ब्रह्महत्या के पाप से छूटने के लिये केदारनाथ की यात्रा की । कृष्ण ने उपमन्यु से पंचाक्षरीदीक्षा लेकर दीर्घसाधना की व रुक्मिणी आदि के लिये शिवकृपा से ही पुत्र पाये तथा अनन्तर कैलासयात्रा की । अतः शैवों में ये दोनों गुरुवर माने गये हैं । इस प्रकार तात्त्विक, पौराणिक तथा ऐतिहासिक सभी दृष्टियों से शिव विष्णु के प्रियतम हैं ।

विष्णु की उपादानता आदि विषय का निपुणतर उपपादन अप्पयदीक्षित ने 'यश्चोपादानभूतः पर इह पुरुषः सैव नारायणोक्त्या, ख्यातः' (४) आदि कहकर 'रत्नत्रयपरीक्षा' नामक लघुप्रकरण में किया है । कूर्मपुराण के वचनों का विशेष विचार किया गया है । 'व्याप्य नारायणः स्थितः' (महा. ११.६), 'मायाभिः पुरुरूपईयते' (बृ. २. ५. १९), 'प्रपंचोपशमः शिवः' (मां. १२) आदि श्रौत वचनों से यह संगति उपोद्बलित की जा सकती है ।

पुराणों की तो इसमें एकवाक्यता है कि विष्णु को शिवप्रेम है । वामनपुराण (अ. ५९) के अनुसार विष्णु के हृदय में शिव प्रतिष्ठित हैं–

(देवाः) तमूचुर्नैव पश्यामस्त्वत्तो वै त्रिपुरान्तकम् । सत्यं वद सुरेशान ! महेशानः क्व तिष्ठति ॥

ततोऽव्ययात्मा स हरिः स्वहृत्पङ्कजशायिनम् । दर्शयामास देवानां मुरारिर्लिंगमैश्वरम् ॥

अतएव पंचाक्षरनक्षत्रमालास्तोत्र में (९) 'पक्षिराजवाहहृच्छयालवे नमः शिवाय' कहा है । विष्णु की दृढ शिवभक्ति हो यह उचित भी है क्योंकि उन्होंने स्वयं भगवान् से यह माँगी है–

भगवन् देवदेवेश परमात्मञ्शिवाव्यय । निश्चला त्वयि मे भक्तिर्भवत्विति वरो मम ॥
(सौरपु. ४१.१५५)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और इसे महादेव भी जानते हैं जैसा उन्होंने अनुशासनपर्व में (१४.४२८) स्वयं कहा है–

विदुः कृष्णं परां भक्तिमस्मासु तव शत्रुहन् । क्रियतामात्मनः श्रेयः प्रीति र्हि त्वयि मे परा ॥

हरिवंश में बताया है कि कैलास पर प्रायः अनशन करते हुए बारह वर्ष तपस्या कर जब श्रीकृष्ण को उमामहेश्वर का दर्शन हुआ तो उन्होंने कहा–

क्षमस्व भगवन् देव भक्तोऽहं त्राहि मां हर । सर्वात्मन् सर्वभूतेश त्राहि मां सततं हर ॥
(भविष्य. ८७.३७)

वायुपुराण में विष्णुभगवान् ने महादेव से प्रतिष्ठित भक्ति का ही वरदान लिया है–

सर्वमेतत्कृतं देव परितुष्टोऽसि मे यदि । त्वयि मे सुप्रतिष्ठास्तु भक्तिरम्बुदवाहन ॥
(पूर्वा. २५.१८)

इसी परप्रेम से विष्णुभगवान् महादेव के लिये बाण का कार्य करने को उद्यत हुए (शिवपु. रुद्र. ८. २६), वृषभ बने (लिंगपु. त्रिपुरदाह.), पत्नी बने (कूर्म पु. उत्तर. ३७), सुअर बने (शिवपु. विद्ये. ७.३), सखी बने (शिवपु. शतरु. २०.३), मार्दंगिक बने (स्कन्दपु. प्रदोषस्तो.), उन्हें अपनी एक आँख चढ़ायी (शिवपु. कोटिरु. ३४.२२) तथा अन्यान्य सेवायें की । इन सबको शिवानन्दलहरी में एकत्र किया है (श्लो. ८२)–

बाणत्वं वृषभत्वमर्धवपुषा भार्यात्वमार्यापते
घोणित्वं सखिता मृदंगवहता चेत्यादि रूपं दधौ ।
त्वत्पादे नयनार्पणं च कृतवांस्त्वद्देहभागो हरिः
पूज्यात्पूज्यतरः स एव हि न चेत् को वा तदन्योऽधिकः ॥

रामजी ने रामेश्वर स्थापना की यह वर्णन शिवपुराण से (कोटिरु. अध्याय ३१) जानना चाहिये । दण्डकारण्य में रामजी शिवसहस्रनामका पाठ करते हुए रहे थे यह पद्मपुराण के उत्तरभाग में बिल्वकेश्वर माहात्म्यप्रकरण में बताया है । कृष्ण का शिवप्रीत्यर्थ तप आदि महाभारत के अनुशासनपर्व में (अध्याय १४) तथा शिवपुराण में (वायुसं. उत्तर. अध्याय १) वर्णित है । इस प्रकार शिव की विष्णुवल्लभता सर्वप्रमाणसिद्ध है । खट्वांगी से कही पुमर्थरूपता का ही यह व्याख्यान है । भास्करीय व्याख्या यह है–

वितरन् हरये तपस्यते पदरेखाजनितं सुदर्शनम् ।
वपुरर्धमपि प्रियाय ते प्रथितस्त्वं भुवि विष्णुवल्लभः ॥१९॥

तपस्या करते हुए विष्णु को किरणरेखाओं से उत्पन्न सुदर्शनचक्र देते हुए तथा आपके प्रिय विष्णु को आप अपना आधा शरीर भी देते हुए संसार में विष्णुवल्लभ नाम से प्रसिद्ध हुए हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पादशब्द किरणार्थक मेदिनीकोष में बताया गया है 'पुल्लिंगं किरणे पुनः' । सुदर्शन चक्र तेजोनिर्मित है इसमें पुराण प्रमाण है । मत्स्यपुराण में (अध्याय ११) कहा है–

तथेत्युक्तः स रविणा भ्रमौ कृत्त्वा दिवाकरम् । पृथक् चकार तत्तेजश्चक्रं विष्णोरकल्पयत् ॥

वामनपुराण में (अध्याय ७८) भी लम्बे प्रसंग में यह बताया है–

अथ विष्णुमुखा देवा स्वतेजांसि ददुस्तथा । तान्यैक्यं वै गतानीशो दृष्ट्वा स्वं चाऽमुचन्महः ॥
तेनाकरोन्महादेवः सहसा शस्त्रमुत्तमम् । चक्रं सुदर्शनं नाम ज्वालामालातिभीषणम् ॥

अतएव शिवपुराण में (कोटिरु. ३४.३०) चक्र को तेजःपुंज कहा है–'ददौ तस्मै स्वकं चक्रं तेजोराशिं सुदर्शनम्' । इसीतरह सौरपुराण में चक्र को सूर्य सा तेजस्वी बताया है–

एवमुक्त्वा ददौ चक्रं सूर्यायुतसमप्रभम् । लोकेषु पुण्डरीकाक्ष इति ख्यातिं गतो हरिः ॥

अथवा 'सुदर्शनाख्यं यच्चक्रं पदांगुष्ठविनिर्मितम्' (शिवपु. रुद्र. युद्ध. २४.४५) इत्यादि के आधार पर शिव के चरण के नखों की किरणों से बना चक्र विष्णु को मिला यह समझना चाहिये । विष्णुभगवान् शिव के आधे शरीर से पैदा हुए ऐसा पद्मपुराण में आया है–

तस्य चेच्छाऽभवत् पूर्वं जगत्स्थित्यन्तकारिणी । वामांगादभवं तस्य सोऽहं विष्णुरिति स्मृतः ॥
(उत्तरभाग बिल्वकेश्वरमाहात्म्य श्लो. १९)

हरिहररूप का वामन (अ. ५९) तथा कूर्म (उत्तर. अ. ५) पुराणों में वर्णन दर्शनीय है ।

वेवेष्टि व्याप्नोति अर्थ में 'विष्लृ व्याप्तौ' धातु से (जु. उ. अ) औणादिक णुप्रत्यय (३.३९) कर विष्णुशव्द तथा 'वल्ल संवरणे' धातु से (भ्वा. आ. से.) औणादिक अभच् प्रत्यय (३.१२५) कर वल्लभ शव्द बनता है । विष्णु का वल्लभ या विष्णु जिसका वल्लभ है वह विष्णुवल्लभ कहाता है । विष्णु के प्रिय शिव और विष्णु शिव के प्रिय हैं अतः उभयथा शिव विष्णुवल्लभ हैं ।

वैतालीय छन्द का प्रयोग है । इसमें प्रथम व तृतीय पादों में चौदह मात्रायें तथा द्वितीय व चतुर्थ पादों में सोलह मात्रायें होती हैं एवं चारों पादों के समापन में रगण, लघु और गुरु होते हैं । पैंगलसूत्र है–'वैतालीयं द्विस्वरा अयुक्पादे युग्वसवोऽन्ते र्लग' । अर्थात् (अयुक्पादे) विषमपादों में (द्विस्वरा) स्वरों से दुगुनी मात्रायें हों, (युक्) सम पादों में (वसवः) वसुओं से दुगनी मात्रायें हों और चारों पादों के अंत में रगण, लघु व गुरु हो तो वैतालीय छन्द होता है । स्वर षड्जादि सात और वसु आठ होते हैं ।

(१४) शिपिविष्टः –पशुओं में घुसे हुए । सभी जीव अज्ञानपाश से बँधे होने के कारण पशु हैं । उन सभी जीवों में अन्तर्यामी रूपसे घुसे बैठे हुए शिव हैं ।

'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' (बृ. २.४.५) श्रुति के अनुसार निरवच्छिन्न

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वल्लभता प्रत्यगात्मा की ही होने से शिव की विष्णुवल्लभता में हेतु है शिपिविष्टत्त्व–प्रत्यगात्मतया स्थिति। व्यापक जीवस्वरूप विष्णु में प्रत्यग्रूप शिव उनके वल्लभ हैं। 'पशवः शिपिः' (तै. सं. १.७.४) श्रुति के अनुसार यह अर्थ है। यदि शिपिविष्टशब्द विष्णुबोधक हो तो विष्णुमूर्तिधारी शिवका यह नाम है। हरिनाम भी इसी तात्पर्य से आयेगा। शिव ही जीव है इस वेदान्तसिद्धान्त का अनुसरण समझना चाहिये 'ब्रह्मैव संसरति मुच्यते' (सं. शा. ३.७) आदि सर्वज्ञोक्ति प्रसिद्ध है। शिपिविष्ट विष्णुनामों में आया ही है (वि. सहस्रनाम श्लो. ४२)। 'यज्ञो वै विष्णुः पशवः शिपिः, यज्ञ एव पशुषु प्रतितिष्ठति' (तै. सं. १.७.४) श्रुति से विष्णु शिपिविष्ट हैं ऐसा वहाँ भाष्य में आया है। अथवा सूर्यमूर्ति का यह नाम है। सूर्य को स्कन्दपुराण में शिपिविष्ट बताया है–

शैत्याच्छयनयोगाच्च शिपि वारि प्रचक्षते। तत्पानाद्रक्षणाच्चापि शिपयो रश्मयो मताः।
तेषु प्रविष्टः सविता शिपिविष्ट इहोच्यते॥

यह नाम शिवार्थक नमकाध्याय में आया ही है 'नमो गिरिशयाय च शिपिविष्टाय च'।

आलवाल की व्याख्या है–

पशवः परमात्मनि धीविरहाद् द्विपदोऽपि नराश्च सुराः शिपयः।
तदनुग्रहकृद्धृदयं प्रविशन् प्रथितोऽसि विभो! शिपिविष्ट इति॥ २०॥

हे व्यापक परमेश्वर! परमात्मविषयक ज्ञान न होने से दो पैरों वाले होते हुए भी सुर-नर आदि सब जीवरूप पशु शिपि हैं। उन पर अनुग्रह करने वाले आप उनके हृदय में प्रवेश करते हैं जिससे 'शिपिविष्ट' यों कहे जाते हैं।

जीव चाहे सुरादि ही क्यों न हो, शिवज्ञानहीन होने से पशु ही है। श्रुति ने अज्ञ की पशुता प्रकट की है 'योन्यां देवतामुपास्तेऽन्योसावन्योहमस्मीति न स वेद, यथा पशुरेवं स देवानाम्' (बृ. १.४.१०)। भगवान् का अनुग्रह ही है कि अन्तर्यामितया हमारे अति संनिकट हैं या हमरूपसे हमसे अभिन्न हैं। शिव यदि हमसे यों अभिन्न न होते तो हम जड़ या असत् ही होते। प्रवेश के विषय में 'अनुप्राविशत्' (तै. २.६) 'प्रापद्यत' (ऐ. १.३.१२) आदि श्रुतियाँ, 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः' (गी. १०.२०) आदि स्मृतियाँ व 'दर्शनाच्च' (ब्र. सू. ३.२.२१) इत्यादि न्याय प्रमाण हैं। 'प्रविशन्' में 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' (अष्टा. ३.२.१२६) से हेत्वर्थक प्रत्यय जानना चाहिये। सम्बोधन का प्रयोजन है प्रवेश का मिथ्यात्व बताना।

निरुक्त के अनुसार सर्वथा अनावृत शिश्न शिपिविष्ट है 'शेप इव निर्वेष्टितः' (नि.५.२.९) (निर्वेष्टितोवेष्टनत्वग्विवर्जितः)। जैसे अति गुह्य होने से वह पर को कभी नहीं दीखता वैसे शिव भी पर को नहीं दीखते अन्यथा अकेले आत्मा की स्वप्रकाशता न रहे, यह तात्पर्य है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तोटक नामक छन्द है–वद तोटकमब्धिसकारयुतम् । इसके चारों चरणों में चार-चार सगण होते हैं ।

(१५) अम्बिकानाथः –जगत् की माता के नाथ । सभी को स्नेह से रखने वाली प्रकृतिमाता के अधीश्वर होने से वे पुरुषोत्तम अम्बिकानाथ हैं । उन्हीं के संकेत पर एवं उन्हीं के विलास के लिये प्रकृति का सारा खेल है, अतः वे अम्बिकानाथ हैं ।

शिपि में प्रविष्ट होकर अम्बिकारूप बुद्धि के नाथ हों यह संगत ही है । 'अम्बिकापतये उमापतये पशुपतये नमो नमः' (महा. १३.४) आदि श्रुति में अम्बिकानाथ प्रसिद्ध हैं । जड प्रकृति चेतनाधिष्ठित हुए बिना कुछ कर न सकने से सांख्यवाद की कल्पनाओं की प्रध्वस्ति इस नाम से समझ लेनी चाहिये । अम्बिका के समष्टि व व्यष्टि दोनों रूपों के नाथ महेश्वर ही हैं । पुराणों के अनुसार अम्बिकापतित्व निःसन्दिग्ध ही है । पार्वतीनामों में अम्बिका हलायुध में है 'आर्याऽम्बिका मृडानी हैमवती पार्वती गौरी' । पार्वती-विवाह शिवपुराण में (पार्वती. ४९) तथा अन्यत्र वर्णित ही है । नारदीय पुराण में वेदपादस्तव में अम्बिकापति को नमस्कार किया है–

सुरपतिपतये नमो नमः प्रजापतिपतये नमो नमः ।
क्षितिपतिपतये नमो नमोऽम्बिकापतय उमापतये नमो नमः ॥१३१॥

अथवा चरमवृत्ति के विषय बनने से अम्बिका नाथ है जिनकी–अम्बिका नाथो यस्य–वे महादेव अम्बिकानाथ हैं । ज्ञानाख्य तप से तपी अम्बिका का शिव का नाथ होना अश्रुतचर नहीं है । चन्द्रमौलि ने स्वयं कहा है–

अद्यप्रभृति ते दासस्तपोभिः क्रीत एव ते । क्रीतोस्मि तव सौन्दर्यात् क्षणमेकं युगायते ॥
(शिवपु. पार्व. २८.४४)

पुराण का अनुसरण करने वाले कालिदास ने भी कहा है (कुमार. ५. ८६)–

अद्यप्रभृत्यवनतांगि ! तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ ।

तीन व्युत्पत्तियों को दृष्टि में रख इस नाम की श्लोक व्याख्या है–

नाथसि हिमाचलमुमां मनसा तां नाथसेऽथ तन्नाथः ।
प्रकटोऽसि देविकायां लिङ्गे तेनाम्बिकानाथः ॥२१॥

आप हिमाचल से अम्बिका की याचना करते हैं, मन से अम्बिका की इच्छा करते हैं, उसके पति हैं और देविकातीर्थस्थ लिंग में अम्बिकानाथेश्वर नाम से प्रतिष्ठित हैं अतः अम्बिकानाथ हैं ।

'नाथृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु' (भ्वा. आ. से.) धातु से कर्ता अर्थ में प्रत्यय हो नाथ शब्द बनता है । जब आशा अर्थ में इसका प्रयोग हो तभी यह आत्मनेपद होता है अन्यथा परस्मैपद होता है यह 'आशिषि नाथ इति वाच्यम्' वार्तिक का फलभूत नियम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। एवं च नाथति याचतीति और नाथत आशास्त इति–ये दो व्युत्पत्तियाँ श्लोक में अभिप्रेत हैं। ऐश्वर्यार्थ के अभिप्राय से नाथति ईष्टे इस व्युत्पत्ति से पति-अर्थक नाथ शब्द हेमादि कोशों में प्रसिद्ध है। शिव ने पार्वती की भिक्षा की यह 'भिक्षां याचे शिवां च ताम्' आदि पार्वतीखण्ड में (३०.३८) प्रसिद्ध है। 'क्षणमेकं युगायते' आदि पूर्वोद्धरण से वे उनके इच्छुक भी हैं। देविकातीर्थ महाभारत में (वन. तीर्थ. ८२.१०२-१०६) वर्णित है–

अथ गच्छेत राजेन्द्र देविकां लोकविश्रुताम्। प्रसूति र्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ॥
त्रिशूलपाणेः स्थानं च त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्। देविकायां नरः स्नात्वा समभ्यर्च्य महेश्वरम्॥
......कामाख्यं तत्र रुद्रस्य तीर्थं देवनिषेवितम्। इत्यादि।

यह आर्या छन्द है जिसमें क्रमशः बारह, अठारह, बारह और पन्द्रह मात्रायें हैं।

(१६) श्रीकण्ठः —ऐश्वर्य जिनके कण्ठ में है। उनके कण्ठ से भक्तों के लिये निरन्तर भोग के वरों की वर्षा होती रहती है। आज तक किसी भी भक्त को उन्होंने 'नहीं' नहीं कहा। अदेय भी दे दिया। यतियों को वे परम गुप्त वेदान्त का निरन्तर उपदेश देते रहते हैं अतः ज्ञानरूप ऐश्वर्य भी उनके कण्ठ में है।

अम्बिकानाथ होने से ही ऐश्वर्यसम्बन्ध संभव है : 'भवानि त्वत्पाणिग्रहणपरिपाटी-फलमिदम्' (देव्यप-७)। अध्यारोपात्मक विष के पान से शवलतात्मक श्रीकण्ठता होती है। श्रीशब्द कालकूटग्रसनसे जनित शोभार्थक है। श्रीः शोभा तद्वान् कण्ठो यस्य। विष से होने पर भी है वह शोभा ही–

'विकारोऽपिश्लाघ्यो भुवनभयभंगव्यसनिनः' (महिम्न. १४)।

समुद्रमंथन से विष समुद्भव हुआ जिसकी उत्पत्ति होते ही जनार्दन काले पड़ गये–

विषं कालानलप्रख्यं कालकूटेति विश्रुतम्। येन प्रोद्भूतमात्रेण कृतकृष्णो जनार्दनः॥
वायुपु. पूर्व. ५४.६२॥

उससे सब देवताओं की रक्षा के लिये भगवान् ने उसे पीना प्रारंभ किया किन्तु वह गले में पहुँचा इसके साथ ही कण्ठ में नीलता आ गयी जिसकी ब्रह्माजी ने प्रशंसा की तो महादेव ने वहीं विष को रोक लिया। वायुपुराण में (पूर्व. ५४.९०-९४) ऐसा कहा है–

ततोऽहं पातुमारब्धो विषमन्तकसन्निभम्। पिबतो मे महाघोरं विषं सुरभयंकरम्॥
कण्ठः समभवत्तूर्णं कृष्णो मे वरवर्णिनि॥ तं दृष्ट्वोत्पलपत्राभं कण्ठे सक्तमिवोरगम्।
......अथोवाच महातेजा ब्रह्मा लोकपितामहः। शोभसे त्वं महादेव कण्ठेनानेन सुव्रत॥

ततस्तस्य वचः श्रुत्वा मया गिरिवरात्मजे! पश्यतां देवसंघानां दैत्यानां च वरानने॥
यक्षगन्धर्वभूतानां पिशाचोरगरक्षसाम्। धृतं कण्ठे विषं घोरं नीलकण्ठस्ततो ह्यहम्॥

महाभारत में (अनु. दान. १४१.८) इससे अतिरिक्त एक और हेतु श्रीकण्ठता का बताया है–

इन्द्रेण च पुरा वज्रं क्षिप्तं श्रीकांक्षिणा मम। दग्ध्वा कण्ठं तु तद्यातं तेन श्रीकण्ठता मम॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
आचार्य शंकर की तो मान्यता है कि यदि कालकूट बाहर रहता तो बाह्यप्राणियों को नष्ट करता और अंदर पहुँच जाता तो शिवोदरस्थ सकल प्राणी न बचते, अतः दोनों जनसमूहों पर कृपाकर उन्होंने उसे कण्ठ में रोक लिया—

नालं वा परमोपकारकमिदं त्वेकं पशूनां पते पश्यन् कुक्षिगतांश्चराचरगणान् बाह्यस्थितान् रक्षितुम् ।
सर्वामर्त्यपलायनौषधमति ज्वालाकरं भीकरं निक्षिप्तं गरलं गले न गिलितं नोद्गीर्णमेव त्वया ॥

(शिवा. ३१)

अथवा देवी विषपान से रोक रही थी व विष्णु आदि प्रेरणा कर रहे थे। भक्तवत्सल को दोनों की वात रखनी थी सो उसे गले में धर लिया (पादादिस्तो. २५)।

श्रीशब्द का एक अर्थ विष भी है : नानार्थरत्नमाला में कहा है—

श्रीर्वेषरचनाशोभा संवत्सरविशाखिषु । वाणीलक्ष्मीलवंगेषु विषे विल्वेप्यथ त्रिषु ॥

इस प्रकार श्रीमान् कण्ठो यस्य व्युत्पत्ति को ध्यान में रखकर तथा श्रीदायकः कण्ठो यस्य ऐसे मध्यमपदलोपी समास को बताते हुए भट्ट जगद्धर ने (१९.१४) भी कहा है—

कण्ठो वहन्नपि विषं विषमं तवैष सद्यः श्रियं सृजति यद्वचसाश्रितेषु ।
स्वामिन्नतस्त्रिभुवनप्रथितप्रतिष्ठं श्रीकण्ठ इत्युचितमेव तवाभिधानम् ॥

भास्करराय तो चामत्कारिक व्युत्पत्ति बताते हुए व्याख्या करते हैं—

क्ष्वेलं गङ्गामिन्दो र्लेखामाद्योत्थां वा कान्तिं कण्ठे ।
बिभ्रन्माण्डल्येशे लिङ्गे विख्यातोऽसि त्वं श्रीकण्ठः ॥२२॥

विष, गंगा, चन्द्रलेखा तथा कण्ठ में विषजन्य कान्ति को धारण करने से और माण्डल्येश नामक क्षेत्रविशेष में श्रीकण्ठेश्वरनामसे प्रख्यात होने से आप श्रीकण्ठ है।

प्रथम व्युत्पत्ति है—श्रीश्च कं च ठश्च श्रीकण्ठस्ततो मत्वर्थीयाच्प्रत्ययः । अर्थात् 'श्री', 'कम्' और 'ठ' तीनों जिनमें हैं। श्री का अर्थ विष बताया जा चुका है। 'कम्' का अर्थ जल प्रसिद्ध है 'कं शिरोऽम्बुनोः' (अमर.)। शिव सम्बन्ध होने के कारण गंगाजल से तात्पर्य है। 'ठ' का अर्थ चन्द्र है—'ठो मण्डले चन्द्रबिम्बे शून्ये च लोकगोचरे' (मेदिनी)। द्वितीय व्युत्पत्ति में तो 'श्री' से विषोत्थ कान्ति समझी है।

विद्युन्माला छन्द है—'मो मो गो गो विद्युन्माला'। इसमें प्रतिपाद दो मगण और दो गुरु होते हैं।

(१७) भक्तवत्सलः —भक्तों को वात्सल्यदृष्टि से देखने वाले। बच्चे का कल्याण ही सदा चाहा जाता है। महादेव कभी भक्त का दोष नहीं देखते। अतएव उनकी बारात में एकमुखी, द्विमुखी, उदरमुखी, शूलमुखी, एकपाद, त्रिपाद, कबन्ध आदि सब रूपों वाले थे जो किसी को भी कुरूप ही दीखें पर वात्सल्य के कारण नृपनापितपुत्रन्यायसे शिव को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

खटके नहीं। हमारे दोष को वे दोष नहीं मानते। इसलिए दोषी पापी को भी भोग व मोक्ष सुलभ कर देते हैं। शिवतत्त्व किस पापी में कम होता देखा गया है ?

शम्भु सा कृपालु अदृष्टपूर्व है। 'स्वल्पसेवातितोषात्' (२) कहा ही जा चुका है। अप्पय दीक्षित 'भक्तिग्राह्यत्वमिह' (आत्मा. १) कहकर बताते हैं कि कितने कम से भगवान् कितना अधिक देते हैं–

अर्कद्रोण प्रभृतिकुसुमैरर्चनं ते विधेयं प्राप्यं तेन स्मरहर ! फलं मोक्षसाम्राज्यलक्ष्मीः। (८)

वायुसंहिता उत्तरखण्ड में (१०.१५-१६) स्वयं परमेश्वर ने कहा है–

न कर्मणा न तपसा न जपै र्नासनादिभिः। न ज्ञानेन न चान्येन वश्योऽहं श्रद्धया विना ॥
श्रद्धा मय्यस्ति चेत्पुंसां येन केनापि हेतुना। वश्यः स्पृश्यश्च दृश्यश्च पूज्यः संभाष्य एव च ॥

उन्हें वस्तुवैशिष्ट्य से क्या अंतर पड़ सकता है ? वे तो भक्तिमात्र से प्रसन्न होते हैं–

कृतकृत्यस्य पूतस्य मम किं क्रियते नरैः। बहि र्वाऽभ्यन्तरं वाऽथ मया भावो हि गृह्यते ॥
(वहीं श्लो. ५९)

इसी से नीलकण्ठ दीक्षित ने कहा है–

इत्याभ्यन्तरवृत्तिमात्ररसिको बाह्यानपेक्षश्च यः। (शिवोत्क.)

भक्ति से ही प्रसन्न हो भगवान् सामान्य वन्य पुरुष को भी भक्ताग्रणी बना देते हैं। आचार्य ने कहा ही है–

भक्तिः किन्न करोत्यहो वनचरो भक्तावतंसायते। (शिवानं. ६३)

स्वयं महेश्वर की घोषणा है कि श्वपच और म्लेच्छ भी शिवभक्त हैं तो उन्हें प्रियतम हैं–

एवमष्टविधं चिह्नं यस्मिन् म्लेच्छेऽपि वर्तते। स विप्रेन्द्रो मुनिः श्रीमान् स यतिः स च पण्डितः ॥
न मे प्रियश्चतुर्वेदी मद्भक्तःश्वपचोऽपि यः। तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम् ॥
(वायुसं. उ. १०.७०-७१)

जैसे बालक को प्रसन्न करने से उसका पिता प्रसन्न हो जाता है वैसे हमारी प्रसन्नता से शिव प्रसन्न होते हैं अतः सबकी प्रसन्नता का प्रयास शिवपूजा है–

सर्वाभयप्रदानं च सर्वानुग्रहणं तथा। सर्वोपकारकरणं शिवस्याराधनं विदुः ॥
यथेह पुत्रपौत्रादेः प्रीत्या प्रीतो भवेत् पिता। तथा सर्वस्य संप्रीत्या प्रीतो भवति शंकरः ॥
देहिनो यस्य कस्यापि क्रियते यदि निग्रहः। अनिष्टमष्टमूर्तेस्तत् कृतमेव न संशयः ॥
(वायुसं. उत्तर. २.३०-३२)

भक्तों को अधिकाधिक देना उनका स्वभाव है। ब्रह्मवैवर्त में कहा है–

भक्त्या यः शिवमर्चयेदनुदिनं लिंगे मखानां फलं
दानानां तपसां त्रिविष्टपमहातीर्थप्लुतीनां फलम्।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पापान्याशु विनाश्य शङ्करगणश्रैष्ठ्यं समेत्याप्यसौ
विज्ञानात्परिभाव्य मोहमखिलं ज्ञानी परं गच्छति ॥

प्रातः अर्चना बहुफलदायी है यही प्रायः सुना जाता है । कलिकालिक प्रातरुत्थानभीरु होंगे तो उनका कल्याण कैसे होगा ? यह सोचकर शंकर ने नियम बनाया–

प्रातर्लिंगमुमापतेरघहरं सन्दर्शनात्स्वर्गदं
मध्याह्ने हयमेधतुल्यफलदं सायन्तने मोक्षदम् ।
भानोरस्तमयात् प्रदोषसमये पञ्चाक्षराराधनं
तत्कालत्रयतुल्यमिष्टफलदं सद्योऽनवद्यं दृढम् ॥ मृत्युंजयमानसपूजा-४६ ॥

वे पाप को नहीं भक्ति को देखते हैं । शिवगीता (१.२०) में कहा है–

बहुनाऽत्र किमुक्तेन यस्य भक्तिः शिवे दृढा । महापापोपपापौघकोटिग्रस्तोऽपि मुच्यते ॥

चुल्लूभर पानी भी नियम से चढ़ा दें तो औघड़दानी त्रिलोकी का राज्य देने को तैयार है–

ऋद्धं किंचित्समादाय क्षुल्लकं जलमेव वा । यो दत्ते नियमेनासौ तस्मै दत्ते जगत्त्रयम् ॥
शिवगी. १.२५ ॥

प्रेमातिशय के कारण ही 'मैं शिव हूँ' कहने से हमें वे अपने से अभिन्न कर लेते हैं, अन्यथा जैसे हमारे 'मैं राजा हूँ' कहने पर राजा दण्ड देता है वैसे वे भी देते । कहा है–

अतिस्वल्पतरायुः श्रीर्भूतेशांशाधिपोऽपि यः । स तु राजाऽहमस्मीमि वादिनं हन्ति सान्वयम् ॥
कर्ताऽपि सर्वलोकानामक्षय्यैश्वर्यवानपि । शिवः शिवोऽहमस्मीति वादिनं यं च कंचन ॥
आत्मना सह तादात्म्यभागिनं कुरुते भृशम् ॥ शिवगी. १.३१-३५ ॥

शिव के वात्सल्य का स्फुट प्रमाण है कि कोई कष्ट आते ही मुँह से 'शिव शिव' निकलती है जैसे बालक को चोट आदि लगते ही 'माँ माँ' करता है । विद्यारण्याचार्य ने कहा है–

लोकेऽपि महतीं भीतिमापन्नाः परमेश्वरम् । तूर्णं शिवशिवेत्युच्चै र्भजन्ति भयहारिणम् ॥
वार्तिकसार १.४.५७ ॥

यद्यपि शिवकृपा प्राणिमात्र पर है तथापि उनका वात्सल्य भक्तों पर ही है क्योंकि भक्त ही वत्स होता है । वदतीति वत्सः, जो कहता है उसे वत्स कहते हैं ! वद धातु से औणादिक सप्रत्यय (३.६२) है । क्योंकि हर बात कहता रहता है इसलिये बालक भी वत्स कहा जाता है । वत्स विषयक प्रेम वाला वत्सल होता है (अष्टा. ५.२.९८) । अथवा वत्स को ग्रहण करने वाला, झट अपना लेने वाला, वत्सं लाति गृह्णाति, वत्सल कहलाता है । भक्तिवशात् ही हम अपना सब शिव को कहते हैं तब जो प्रेमविशेष है वह वत्सलता उनमें होती है । जब प्रेमन्यूनता से हम उनसे छिपाते हैं तब वात्सल्य प्रकट नहीं हो पाता । वत्सभाव रखने पर ही वह प्रकट होता है । भगवान् ने ही कहा है–

येनाकारेण ये मर्त्या मामेवैकमुपासते । तेनाकारेण तेभ्योऽहं प्रसन्नो वाञ्छितं ददे ॥
शिवगी. १२.६ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भगवद्गीता भी कहती है 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (४.११) । अथवा भक्तवाले स्थान पर पहुँच जाते हैं–षल गतौ (भ्वा.प.से.) सलतीति सलः–इसलिये वे भक्तवत्सल कहे जाते हैं ।

भक्तवात्सल्य श्रीकण्ठता में प्रयोजन है । उपाधिसंसर्ग से छूटने के लिये शिव की कृपा ही चाहिये क्योंकि उपनिषत् ने कहा है जिसे वे चुनते हैं उसे अपना स्वरूप दिखाते हैं 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैषआत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' (मुं. ३.२.३) । हम उन्हें चुनें, वत्स बनें, तभी वे भी हमें चुन लेते हैं, वत्सल बन जाते हैं, यही रहस्य है ।

नाना व्युत्पत्तियाँ दिखाते हुए आलवाल इसे यों समझाता है–

दासानुरस्यावपसीति तर्णकान् भक्तात्मकानोदनबालकोभयम् ।
पोषाय गृह्णास्यथ तेषु सौहर्दं पुष्णासि तस्मादसि भक्तवत्सलः ॥२३॥

आप दासों को छाती से लगा लेते हैं, भक्तरूप बच्चों को अपना लेते हैं, भात और बालक दोनों का ग्रहण करते हैं जिससे बालक को खिलाकर उसका पोषण करें, भक्तों पर अतिशय प्रेम रखते हैं, अतः भक्तवत्सल हैं ।

'उरो वत्सं च वक्षश्च' (अमर.), 'तर्णकि नोरसि क्लीबम्' (मेदिनी.) आदि से वत्स का अर्थ छाती है । अतः वत्से लाति गृह्णाति के आधार पर पहला अर्थ है । ला आदाने (अ.प.अ.) धातु से 'सुपि' (३.२.४) इस योगविभाग से क प्रत्यय है। द्वितीय अर्थ में वत्सं लाति गृह्णाति व्युत्पत्ति होने से 'आतोऽनुपवर्गे कः' (३.२.३) से कप्रत्यय है । तर्कशब्द बालक वाचक है । 'तर्णकः स्मर्यते वत्सः' (हलायुध.) । तृतीय अर्थ में भक्त शब्द का अर्थ भात है 'भक्तमन्धोऽन्नम्' (अमर.) । जैसे माँ बच्चे को पकड़कर अपने हाथ से उसे भात खिलाती है ऐसे ही भगवान् करते हैं । 'योगक्षेमं वहामि' (गी. ९.२२) आदि स्मृति इसमें प्रमाण है । चतुर्थ अर्थ में वत्स शब्द का अर्थ काम (प्रेम) है । इसमें प्रमाण है कि कामवान् (स्नेहवान्) अर्थ में वत्सल शब्द पाणिनि महर्षि ने बनाया है–'वत्सांसाभ्यां कामबले' (५.२.९८) अर्थात् कामवान् अर्थ में वत्स शब्द से लच् प्रत्यय तथा बलवान् अर्थ में अंस शब्द से लच्प्रत्यय होता है । अतः कामार्थक वत्स शब्द है तभी मत्वर्थीय लच्प्रत्यय का उस अर्थ में विधान है । यहाँ सूत्रस्थ कामशब्द बच्चे पर होने वाले स्नेह के अर्थ में जानना चाहिये क्योंकि वत्सल शब्द उसी अर्थ में रूढ़ है ।

इन्द्रवंशा छंद है । 'तच्चेन्द्रवंशा प्रथमेक्षरे गुरौ' अर्थात् वंशस्थ में यदि प्रथमाक्षर गुरु हो तो इन्द्रवंशा होता है । 'वदन्ति वंशस्थविलं जतौ जरौ' । अतः तगण, तगण, जगण, रगण हों तो इंद्रवंशा होता है ।

(१८) भवः –संसाररूप । सारा जड़-चेतन आकार अधिष्ठानरूप शिवने ही धरा है । शतरुद्रसंहिता (२.६) में भवनाम का अर्थ बताते हुए कहा है–

संजीवनं समस्तस्य जगतः सलिलात्मकम् । भव इत्युच्यते रूपं भवस्य परमात्मनः ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अतः जलरूप का यह नाम है । अतः पूजा में 'भवाय जलमूर्तये नमः' कहा जाता है । जो होता है-पचाद्यच् (३.१.१३४)-अथवा जिससे या जिसमें होता है-ऋदोरप् (३.३.५७) वह भव कहाता है । अथवा जो सबका होना करता है या सबके द्वारा आदृत होता है वह भव है-भावयति सर्वं भाव्यते सर्वैरिति वा (भट्टभास्करीय वेदभाष्य) । इस व्युत्पत्ति में णिलुक् छान्दस (उणा. २.२३) है । स्पन्दवार्तिककार तो मानते हैं कि 'भवः संसारसंप्राप्तिश्रेयःशंकरजन्मसु' (विश्व.), 'भवः सत्तप्तिजन्मसु रुद्रे श्रेयसि संसारे' (हेम.), 'कपर्दी भवः' (हला.) आदि कोषों के अनुसार भव शिव नाम होने से घप्रत्ययान्त (अष्टा. ३.३.११८) शब्द है-

संज्ञायां पुंसि घः प्रायेणेति पाणिनिनोदितम् । यथोक्तार्थवती संज्ञा शंकरस्य च युज्यते ॥ २८.१३ ॥

भव्य अर्थात् उत्तम फल भव से मिलता है अतः विश्वनाथ ने भी कहा है 'भवो भवतु भव्याय' । वात्सल्यवशात् 'स्वां तनूं विवृणुते' कहा था । उसे ही भवनाम से बताया । जो कुछ है वह शिव ही है । शिव से अतिरिक्त प्रतीत होने वाला है ही नहीं-मिथ्या है; इस बाध का अभ्यास ही भव की उपासना है । 'वासुदेवः सर्वमिति' (गी. ७.१९) आदि स्मृति भी प्रपंचमिथ्यात्व के विना अनुपपन्न होती हुई बाधाभ्यासी को दुर्लभ महात्मा बता ही रही है ।

भास्करराय की छन्दोमयी व्याख्या है-

सत्तामात्रमधिष्ठानमुपादानमसि विश्वस्य ।
सलिलस्याधिष्ठात्री मूर्तिस्तव तेन विश्रुतोऽसि भवः ॥ २४ ॥

आप केवल सत्तारूप हैं, प्रपंच के अधिष्ठान तथा उपादान हैं, जलतत्त्व की अधिष्ठात्री आपकी भवमूर्ति है अतः आप भवनाम से सुने जाते हैं ।

भवतीति भवः यह प्रथम व्याख्यान की व्युत्पत्ति है । इसमें 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै. २.१.१), 'सदेव सोम्येदमग्रे' (छा. ६.२.१), 'तत्सत्यम्' (छां. ६.८.७), 'ब्रह्मणो नाम सत्यम्' (छां. ८.३.४) आदि श्रुतियाँ प्रमाण है । भवत्यस्मिन्निति यह दूसरे अर्थ में व्युत्पत्ति है । 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' (गी. ९.४), 'तस्मिँल्लोकाःश्रिताः सर्वे' (कठ. २.५.८), 'अत्रैतत्समर्पितम्' (मुं. २.२.१) आदि वाक्य इसमें प्रमाण है । काष्ठपीठादि की तरह अनुपादान की भी अधिष्ठानता संभव होने से तीसरा अर्थ है जिसकी व्युत्पत्ति है भवत्यस्मादिति । इसमें 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै. ३.१), 'एतस्माज्जायते' (मुं. २.१.३), 'मत्तः सर्वं प्रवर्तते' (गी. १०.८) आदि वाक्य प्रमाण हैं । 'नमो भवाय' आदि नमकाध्याय तथा 'भवायनमः भवलिंगाय नमः' (महा. ४.१६) आदि महानारायण में यह नाम प्रसिद्ध है ।

उद्गीति छन्द का प्रयोग है । आर्या का द्वितीयार्ध जब प्रथमार्ध और आर्या का प्रथमार्ध द्वितीयार्ध हो तब उद्गीति छन्द होता है अर्थात् क्रमशः चारों पादों में बारह, पन्द्रह, बारह और अठारह मात्रायें होती हैं । यहाँ प्रथमार्ध में यतिभंग है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(१९) शर्वः –सारे कष्टों को नष्ट करने वाले होने से शर्व हैं।

'शॄ हिंसायाम्' (क्र्या. प. से.) धातु से कर्त्रर्थक औणादिक (१.१५५) व प्रत्यय से **शृणातीति शर्वः** इस प्रकार शर्व शब्द बनता है। भव की उपासना करने पर वही शर्व बन जाता है। बाधाभ्यास मिथ्यात्वनिश्चय के दार्ढ्य का कारण है। भक्तवत्सल होने से भव्य करने के लिये वे कष्ट निवारक शर्व हों यह संगत है। कारण-निवृत्ति के बिना सारे कष्ट हट नहीं सकते अतः सारे कष्ट नष्ट करना व अविद्या हटाना एक ही बात है। **'नमः शर्वाय'** आदि शतरुद्रीय में यह नाम प्रसिद्ध है। सर्वकष्टनिवारक शिव हैं इसमें यह वचन प्रमाण है–

ततः सर्वं परित्यज्य मद्भक्तिं समुदाहर। सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ॥
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ शिवगी. १४.४० ॥

'संकष्टोच्छित्ति' को पूर्व में (श्लो. २) भी शंभुसेव्यता में हेतु बताया था। इस रक्षकता का यह वर्णन है–

विष्णुब्रह्मसुराधिपप्रभृतयः सर्वेऽपि देवा यदा
संभूताज्जलधेर्विषात् परिभवं प्राप्तास्तदा सत्वरम्।
तानार्ताञ्शरणागतानिति सुरान् योऽरक्षदर्धक्षणात्
तस्मिन् मे हृदयं सुखेन रमतां साम्बे परब्रह्मणि ॥ दशश्लो. १० ॥

जैसे वैषयिक कष्ट हटाते हैं, वैसे गर्वरूप कष्टनिदान भी हटाने से चूकते नहीं–

गर्वापहारी भगवान्नानालीलाविशारदः। नाशयिष्यति ते गर्वमिदानीं भक्तवत्सलः ॥

इत्यादि शिवपुराण (रुद्रसं. युद्ध. ५३.४३) बाणासुर के गर्वनाश के लिये भगवज्जागरूकता में प्रमाण है। काम का दहन तो पुराणों में प्रसिद्ध ही है। दक्ष व ब्रह्मा के अहंकार का नाश भी महेश्वर ने किया था। दारुकवनलीला तो ऋषियों के व्यामोहनाशार्थ थी ही–

तेषां प्रवृत्तिविन्यस्तचेतसामथ शूलभृत्। व्याख्यापयन् सदा दोषं ययौ दारुवनं हरः ॥
(कूर्मपु. उत्त. ३७.४)

क्रोधनाश नृसिंहदमनलीला में (शतरु. ११.) किया है। नृसिंह ने अत्यधिक क्रोध किया था–

इत्युक्तो वीरभद्रेण नृसिंहः शान्तया गिरा। ततोऽधिकं महाघोरं कोपं चक्रे महामदः ॥
११.२५॥

तब वीरभद्रावतार ने उन्हें नियन्त्रित किया था। तभी श्रीहरि ने प्रार्थना की–

यदा यदा ममाज्ञेयं मतिः स्याद् गर्वदूषिता। तदा तदाऽपनेतव्या त्वयैव परमेश्वर ॥
१२.२० ॥

इस प्रार्थना के अनुसार शर्वरूप से भगवान् भक्तों के आध्यात्मिक शत्रुओं सहित बाह्य शत्रुओं का नाश करने के लिये सदा उद्यत हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
भास्करराय की यह व्याख्या है—

यदेतदाभाति बहुप्रकारं जगत् तदन्ते सकलं शृणासि ।
अधिष्ठितो मध्यमदेशलिङ्गे धरण्यधिष्ठातृतयापि शर्वः ॥२५॥

जो यह नानाकार जगत् प्रतीत हो रहा है उसे प्रलयकाल में आप उपसंहृत कर लेते हैं; मध्यमदेश नामक क्षेत्र में स्थित लिंग में आप शर्वेश्वर नाम से प्रतिष्ठित हैं; पृथ्वी की अधिष्ठात्री आपकी शर्वमूर्ति है; इन सब कारणों से आप शर्व हैं ।

शिव की संहारकता प्रसिद्ध है । इसी अन्तकान्तक का वर्णन शिवानन्दलहरी में है—

किं ब्रूमस्तव साहसं पशुपते कस्यास्ति शंभो भवद्—
धैर्यं चेदृशमात्मनः स्थितिरियं चान्यैः कथं लभ्यते ।
भ्रश्यद्देवगणं त्रसन्मुनिगणं नश्यत्प्रपंचं लयं
पश्यन्निर्भय एक एव विहरत्यानन्द सान्द्रोभवान् ॥३४॥

'शर्वाय क्षितिमूर्तये नमः' आदि पूजाकल्प में भूम्यधिष्ठातृतया शर्व प्रसिद्ध हैं ।

उपेन्द्रवज्रा छन्द है । 'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ'—जगण, तगण, जगण व दो गुरु प्रतिपाद में हों तो उपेन्द्रवज्रा छन्द होता है ।

(२०) त्रिलोकेशः —तीन लोकों के मालिक । जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों के आत्मरूप से तुरीय में स्थित होने से वे तुरीय शिव ही मालिक हैं । अथवा पुराणोक्त तीनों लोकों का अखण्डशासकत्व इष्ट है ।

'ईशानः'(कठ.४.५), 'सर्वस्य प्रभुमीशानम्'(श्वे.३.१७), 'ईश्वरः सर्वभूतानाम्' (महा. १७.५), 'लोकास्तेषां चेष्टे' (छां. १.६.८), 'एषां लोकानामसम्भेदाय' (बृ. ४.४.२२), 'यो लोकत्रयमाविश्य' (गी. १५.१७) आदि अनन्त श्रुति-स्मृति वाक्य इसमें प्रमाण जानने चाहिये । केवल मिट्टी की तरह उपादान, केवल कुम्हार की तरह निमित्त, केवल राजा की तरह शासक परमात्मा नहीं किन्तु तीनों की तरह तीनों है । अतएव 'येन ....जीवन्ति' (तै. ३.१) कहा है । ईश्वर के पाँचकृत्य बताये हैं जिनमें शासन भी है—जन्म, स्थिति, नाश, प्रवेश व नियमन । नियमन पुनः द्विविध है—अन्तर्यमन व बहिर्यमन । अन्तर्यामी रूप से परमात्मा ही अन्तर्यमन करता है और वही कर्मफलदाता रूप से बहिर्यमन करता है । उसका शासन न हो तो संसार छिन्न-भिन्न हो जाये—'उत्सीदेयुरिमे लोकाः' (गी. ३.२४) । वायु, सूर्यादि की नियमित प्रवृत्ति वही कराता है—'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः' (तै. २.८.१) । सर्वेश्वरता की निरंकुशता यहाँ तक है कि—

'एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमन्वानुनेषति, एष एवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो नुनुत्सते' (कौ.३.९) । कर्म और भोग कराने वाला वही है । क्योंकि वह करने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और भोगने वालों को अपने से भिन्न नहीं जानता इसलिये वैषम्य-नैर्घृण्यादि का प्रसंग नहीं। इसे आचार्यों ने विभिन्न तरहों से प्रकट किया है–

क्रीड़ार्थं सृजसि प्रपंचमखिलं क्रीडामृगास्ते जना यत्कर्माचरितं मया च भवतः प्रीत्यै भवत्येव तत् ।
शंभो स्वस्य कुतूहलस्य करणं मच्चेष्ठितं निश्चितं तस्मान्मामकरक्षणं पशुपते कर्तव्यमेव त्वया ॥
(शिवानंद. ६६)

तत् किं नाथ भवेन्न यत्र भगवान् निर्मातृतामश्नुते भावः स्यात् किमु तस्य चेतनवतो नाशास्ति यं शंकरः ।
इत्थं ते परमेश्वराक्षतमहाशक्तेः सदा संश्रितः संसारेऽत्र निरन्तराधिविधुरः क्लिश्याम्यहं केवलम् ॥
(उत्पलदेवस्तो. ११.१२) ॥

एतावन्तं भ्रमणनिचयं प्रापितोऽयं वराकः श्रान्तः स्वामिन्नगतिरधुना मोचनीयस्त्वयाऽहम् ।
(आत्मार्पण. ३३) ॥

और भट्टजगद्धर के शब्दों में–

इत्येवं भगवन्नबन्ध्यमहिमा निर्माय निर्मानुषं
विश्वं विश्वसितं वितत्य तदनु स्फीतैर्विभूति क्रमैः ।
संहृत्याथ निजे महिम्नि निखिलं तत्कन्दुकान्दोलन–
क्लेशावेशविरामसंभृतसुखं कैवल्यमाकाङ्क्षसि ॥३५.२३॥

अर्थात्, हे भगवन् ! यों निःसीम महिमा वाले आप तम-वाले हुए (निर्मानुषं तमोभूतं सद्– इति लघुपंचिकायां व्याख्यातम्) विश्व का निर्माणकर, तदनन्तर वैभवों से इसे जीवित रखकर, फिर निखिल प्रपंच को अपने स्वरूप में लीनकर मोक्ष चाहते हो जिससे संसार का उत्थान-पतनरूप कन्दुकक्रीड़ा की थकान मिट जाये ।

आलवाल व्याख्याता वेङ्कटनाथ ने इसे यों व्युत्पन्न किया है–त्रिषु लोकेषु ईशः ईशनं यस्येति वा; त्रयो लोका यस्मिन् स्वकर्मकत्वादिसम्बन्धेन तादृशमीशनं यस्येति वा व्याख्येयम् । अर्थात् ईशशब्द कप्रत्ययान्त ('घञर्थे कविधानम्' इस वार्तिक से) है । इसका अर्थ है ईशन । तीनों लोकों में जिसका ईश है, शासन है, वह त्रिलोकेश है । अथवा, तीनों लोक जिसके शासन में हैं वह शासन त्रिलोकेश है, वह पुनः जिसका है वह भी त्रिलोकेश है । इतने विचार का कारण है कि त्रिशब्द और लोकशब्द का यहाँ समास है जो समाहारार्थक द्विगु हो तो 'द्विगोः' (४.१.२१) सूत्र से ङीप्प्रत्यय हो त्रिलोकी बनेगा जिससे त्रिलोकेश नाम सिद्ध न होगा और यदि 'त्रयो लोकाः' समास हो तो 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' (२.१.५०) नियम का विरोध होता है । इस पर एक मत तो है कि 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' (२.१.५१) से 'ईश' उत्तरपद परे रहने से 'त्रयाणां लोकानामीशः' ऐसा समास हो जायेगा । दूसरा मत है कि 'द्विगोर्लुगनपत्ये' (४.१.८८) सूत्र के महाभाष्य में त्रिविद्या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शब्द 'त्र्यवयवा विद्या' इसप्रकार निर्मित किया है, ऐसे ही यहाँ भी 'त्र्यवयवो लोकः त्रिलोकः' यों मध्यमपदलोपी समास मानना चाहिये ।

भास्करराय का पाठ तो 'त्रिलोकीशः' है जिसका निर्माण सीधा है—त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी तस्याईशः । इसी का वे व्याख्यान करते हैं—

ऊर्ध्वाधोमध्यभुवाम् अमरासुरमानवप्रकरनिबिडानाम् ।
अन्तर्यमनात् त्रिपुटी-साक्षितया शङ्कर ! त्रिलोकीशस्त्वम् ॥२६ ॥

हे शंकर ! देवताओं, असुरों व मानवों के समूहों से घटित ऊर्ध्वभुवन, अधोभुवन और मध्यभुवन के अन्तर्यामी होने से तथा त्रिपुटी के साक्षी होने से आप त्रिलोकीश हैं ।

तीनों भुवन क्रमशः देवता आदि के समूहों से संकुल हैं । भुवनों से यहाँ स्वर्ग, पाताल और मर्त्य लोकों को समझना चाहिये । लोकान्तर्यामित्व श्रुतिसिद्ध है—'यः पृथिवीमन्तरो यमयति' (बृ. ३.७.३), 'यो दिवमन्तरो यमयति' (बृ. ३.७.८) । प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय आदि त्रिपुटी समझनी चाहिये । यद्यपि पत्ते आदि से बने दोने को पुट कहते हैं तथापि पुट श्लेषे (तु. प. से.) धातु से बना यह शब्द यहाँ उन विषयों को (वस्तुओं को) बताता है जो आपस में सम्बद्ध रहते हैं । ज्ञान, इच्छा, क्रिया आदि कर्त्ता, कर्म और ज्ञानादिरूप संबंध ही सम्बद्ध रहने वाले विषय हैं अतः ये ही त्रिपुटी कहे जाते हैं । इन्हें निर्विशेषभाव से साक्षीरूप शिव ही प्रकाशित करते हैं । 'साक्षी चेता' (श्वे. ६.११) आदि श्रुति इसमें प्रमाण है । शर्व के नाश से शून्यलाभ न हो इसलिये नाशादि के भी साक्षी का उपस्थापन है ।

आर्यागीति छन्द है । क्रमशः बारह, बीस, बारह, बीस मात्रायें हों और अर्धभागों की समाप्ति गुरुवर्ण से होती हो तो आर्यागीति कहते हैं । आर्या की पहली अर्धाली की तरह ही दोनों अर्धालियाँ हों किंतु द्वितीय व चतुर्थ पाद के अंत में एक गुरुवर्ण और हो तब यह छंद बनता है । इसका लक्षण है—'आर्याप्राग्दलमन्तेऽधिकगुरु तादृक् परार्धमार्यागीतिः' ।

(२१) शितिकण्ठः —सफेद कण्ठ वाले । विषपान से मध्यबिन्दु के नील हो जाने के कारण बाकी कण्ठ की श्वेतता बढ़ गयी है, अतः वे शितिकण्ठ हैं । परमार्थतः तो वेद में अधिकतर स्थलों पर शुद्ध ब्रह्म का प्रतिपादन करने से वे शितिकण्ठ हैं ।

'शिती धवलमेचकौ' आदि अमरानुशासन से श्वेतकण्ठ अर्थ है । एवं च शितिः शुक्लः कण्ठो यस्य—यह विग्रह है । व्याख्यातरूप से या विषपान के पूर्व की श्वेतिमा से सार्थकता जाननी चाहिये । सौत्र शत धातु से औणादिक (४.१२३) प्रक्रिया से शेतति वर्णयुक्तो भवति अर्थ में शितिशब्द बनने पर उसका श्वेत या मेचक अर्थात् कृष्ण अर्थ होगा । यास्काचार्य तो शो तनूकरणे (दि. प. अ.) धातु से क्तिन्प्रत्यय कर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
'शाच्छोरन्यतरस्याम्' (७.४.४१) से इत्त्व कर शिति शब्द बनाते हैं । तात्पर्य है सूक्ष्म करना । सारा व्यक्त प्रपंच जिनके कण्ठ में सूक्ष्म किया रहता है वे महादेव शितिकण्ठ हैं । अथवा सूक्ष्मतम आत्मा के ज्ञान में इसे लाक्षणिक मानकर आत्मोपदेश सदा जिनके कण्ठ में है वे शितिकण्ठ हैं । त्रिलोकेश में वास्तविक अविद्याराहित्य शितिकण्ठ से कहा है । यदि शितिः कालः कण्ठो यस्य यह अर्थ है, तब साक्षी की साक्ष्यनिरूपितता से साक्षित्त्व की कल्पितता सूचित करना इस नाम का तात्पर्य है ।

भगवत्कन्धरा का यह वर्णन दर्शनीय है–

आत्मप्रेम्णो भवान्या स्वयमिव रचिताः सादरं सांवनन्या
मध्या तिस्रः सुनीलाञ्जन- निभ-गररेखाः समाभान्ति यस्याम् ।
आकल्पानल्पभासा भृशरुचिरतरा कम्बुकल्पाम्बिकायाः
पत्युः सात्यन्तमन्त र्विलसतु सततं मन्थरा कन्धरा वः ॥ केशादिस्तो. १४ ॥

नमकाध्याय की 'नमोनीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च' श्रुति में नीलग्रीव से पुनरुक्ति न हो इसके लिये श्वेतकण्ठ ही शितिकण्ठ का अर्थ उचित है ।

शिति शब्द नीलार्थक भी रूढ़ होने से भास्करराय तदनुसार व्याख्या करते हैं–

दधदधिगलमिन्द्रपविप्रहतिप्रभवं कालम् ।
कालञ्जरगिरिशिखरे प्रथितस्त्वं शितिकण्ठः ॥ २७ ॥

इन्द्र के वज्र के प्रहार से हुई कालिमा को गले में धारण करने से और कालंजरपर्वत के शिखर पर इस रूप में प्रसिद्ध होने से आप शितिकण्ठ हैं ।

नीलकण्ठता का यह हेतु स्वयं महेश्वर ने अनुशासनपर्व में (दान. १४१.८) बताया है । श्रीकृष्ण ने बिल्वोदकेश्वर स्तोत्र में (हरिवंश-विष्णु. ७४.३१) भी इसे भगवान् की अपराध सहिष्णुता का निदर्शन माना है–

दत्तः प्रहारः कुलिशेन पूर्वं तवेशान सुरराज्ञातिवीर्य ! ।
कण्ठे नैल्यं तेन ते यत् प्रवृत्तं तस्मात् ख्यातस्त्वं नीलकण्ठेति कल्पः ॥

कालंजर बुन्देलखण्ड का प्रसिद्ध शैव तीर्थ है । मानिकपुर-झाँसी रेल्वे लाइन पर बटौसा स्टेशन से अठारह मील दूर पहाड़ी पर कालंजर का दुर्ग है । यहाँ नीलकण्ठ का, कालभैरव का तथा अन्य कई मंदिर हैं । वायुपुराण (उत्त. १५.९३) व वामनपुराण में (अध्य. ८४) इसका उल्लेख है । वनपर्व में (तीर्थ. ८७.२१) हिरण्यबिन्दु नामक तीर्थ वहाँ बताया है–हिरण्यबिन्दुः कथितो गिरौ कालंजरे महान् ॥

छन्द का नाम है अर्धांगी । अभिनववृत्तरत्नाकर में कहा है–तुरगैस्त्रिभिरर्धांगी । प्रतिपाद में चार-चार मात्राओं के तीन गण, अर्थात् बारह मात्रायें हों तो अर्धांगी छंद होता है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(२२) शिवाप्रियः —कल्याणरूपिणी पार्वती के प्रिय । शिवा जगदुत्पत्ति की निमित्तशक्ति है । निमित्तशक्ति शिव की प्रीति के लिये ही जगत् का निर्माण करती है अतः शिव शिवाप्रिय हैं ।

अम्बिकानाथ और श्रीकण्ठ पहले बताये थे जहाँ निग्रहशक्ति का या अध्यारोप का प्राधान्य था । शितिकण्ठ और शिवाप्रिय यहाँ बता रहे हैं जहाँ अनुग्रहशक्ति या अपवाद का प्राधान्य है । एक ही कण्ठ नील भी है, श्वेत भी; अम्बिकासम्बन्ध से नील और शिवासम्बन्ध से श्वेत है । इस शिवा का दुर्वासा मुनि ने परशम्भुमहिम्नस्तुति में वर्णन किया है—

सेयं विज्ञानशक्तिस्तव शिव ! गुरुणा दर्शिता नित्यशुद्धा
निर्द्वन्द्वब्रह्मतत्त्वं गमयति सुधियां सच्चिदानन्दपूर्णम् ।
अन्येके मेयप्रमातृप्रमितिभिरिति चेदर्चिता भिन्नमार्गा
मुद्रा नानास्वरूपाः प्रकटयति मुधाऽहंकृतिस्थाः परेश ! ॥३९॥

अथवा शिवा जिनकी प्रिया हैं वे शिवाप्रिय हैं । भक्तकल्याणार्थ महादेव अनुग्रह शक्ति का प्रयोग करते हैं । काशी में मोक्ष वितरण अनवरत चलता है । भद्रता के लिये इस रूप को भङ्जगद्धर स्मरण करते हैं—

भस्मोद्धूलितमूर्तिरिन्दुधवलज्योतीरसोर्वीधर-
स्कन्धासक्ततुषारगौरवृषभारूढोऽस्तु भद्राय वः ।
देवो दुग्धमहाब्धिमध्यविकसत्सत्पुण्डरीकोपरि-
क्रीडद्बालमरालनिर्मलरुचिः कात्यायनीकामुकः ॥ स्तु. कु. ३. ५० ॥

भास्करराय की व्याख्या है—

मतिर्धृतिः कृतिर्बलं शरीरमिन्द्रियं मनः ।
समस्तमेव ते शिवा भवानतः शिवाप्रियः ॥२८॥

आपके बुद्धि, धैर्य, यत्न, सामर्थ्य, शरीर, इन्द्रिय, मन (आदि) सब शिवारूप ही हैं अतः आप शिवाप्रिय हैं ।

भगवान् में कल्पित सब विशेष शिवारूप हैं । बुद्धि से इच्छा समझना चाहिये, वह भी निश्चयवृत्तिविशेष है । किसी मुद्रित पुस्तक में "मतिः" के स्थान पर "वतिः' पाठ भी मिलता है । वन् एषणार्थक धातु से निष्पन्न होकर उसका अर्थ तो सीधा इच्छा होता ही है । मुद्रित टीका में इस श्लोक का प्रतिशब्द व्याख्यान उपलब्ध न होने से पाठ निर्णय संभव नहीं है । अर्थ में तो भेद नहीं ही है । धैर्य से अधिष्ठानता विवक्षित है । अधिष्ठान सत्य होने पर भी अधिष्ठानता कल्पित है यह रहस्य है । अभिव्यक्ति का नाम यत्न और नियमनशक्ति सामर्थ्य है । माया शरीर है, सर्ववित्त्व का प्रयोजक इन्द्रिय और सर्वज्ञत्व

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का प्रयोजक मन है । अथवा मति आदि सांख्यप्रसिद्ध तत्त्वों के सूचक हैं । श्रौतक्रम से आर्थक्रम को बलवान् मानकर यों समझा जा सकता है : शरीर पुरुष है, मन प्रकृति है, मति महान् है, कृति अहंकार है, पंचतन्मात्रायें बल हैं, इन्द्रिय इन्द्रियाँ हैं और धृति महाभूत हैं । शरीरतादात्म्य वाला ही पुरुष होता है अतः शरीरपद से उसे कहा । मन का उपादान होने से प्रकृति को मन कहा । प्रकृतिविकार होने से महान् मति है । बुद्धिहेतुक होने से कृति अहंकार है । दृश्यमान प्रपंच बनने की सामर्थ्य तन्मात्राओं में (सूक्ष्मभूतों में) होने से उन्हें बल कहा । इन्द्रियाँ स्वशब्द से कही गयी हैं । स्थूलमहाभूत ही व्यक्त जगत् को धारण करते हैं अतः धृति शब्द से कहे गये हैं । ये सभी भगवन्माया रूप ही हैं यह स्पष्ट है । भोक्ता पुरुष भी माया ही है यह तत्त्वमादि में भी बाधसामानाधिकरण्य मानने वाले पक्ष में सुव्यक्त है । अन्यत्र भी उपलक्षित की वास्तवता होने पर भी विशिष्ट की मायिकता असन्दिग्ध है ।

प्रमाणिका छंद है । 'प्रमाणिका जरौ लगौ'–जगण, रगण, लघु, गुरु प्रतिपाद हैं ।

(२३) उग्रः —असुरों के नाश के लिये भयंकर रूप वाले । भक्तों के हृदय में आसुरी भाव उत्पन्न होते ही शिव नष्ट कर देते हैं अतः उग्र कहे जाते हैं ।

शिवा प्राप्ति के साधन विवक्षित हैं । प्रतिपक्षनिवृत्ति के बिना मन शिवाकार बन नहीं सकता अतः सबल हो उनका नाश अपेक्षित है । निरोधवृत्त्यारूढ शिव ही उनके नाशक हैं । शिवपुराण में (शतरु. २.७) उग्र शब्द की अर्थप्रत्यायकता यह है–

बहिरन्तर्जगद्विश्वं बिभर्ति स्पन्दते स्वयम् । उग्र इत्युच्यते सद्भीरूपमुग्रस्य सत्प्रभो ! ॥

महाभारत में (अनु. दान. १४१) महेश्वर ने बताया है कि लोक में अग्नि और सोम–दो भाव हैं । विष्णु में सोमभाव है और मैं अग्निभाव से प्रतिष्ठित शरीर से सब लोकों का धारण करता हूँ । यह रूप विकराल है, इसमें नेत्र भी सरोष हैं और शूल आदि आयुध हैं । इस प्रकार लोकधारण आवश्यक होने से भगवान् जगत् के हित के लिये ही उग्र हैं–

द्विविधो लौकिको भावः शीतमुष्णमिति प्रिये ॥ तयो र्हि ग्रथितं सर्वं सौम्याग्नेयमिदं जगत् ।
सौम्यत्वं सततं विष्णौ मय्याग्नेयं प्रतिष्ठितम् । अनेन वपुषा नित्यं सर्वलोकान् बिभर्म्यहम् ॥
रौद्राकृतिं विरूपाक्षं शूलपट्टिशसंयुतम् । आग्नेयमिति मे रूपं देवि लोकहिते रतम् ॥

'नम उग्राय' आदि रुद्रीय में यह नाम प्रसिद्ध है । अभिनवशंकराचार्य के रुद्रभाष्य के अनुसार उग्रशब्द श्रेष्ठार्थक है । श्रेष्ठ गुणों के आधायक होने से उग्र हैं । यह शब्द उणादि सूत्रों में (२.२९) निपातित है ।

आलवाल में इसे यों समझाया है–

उच्यस्यन्त निखिलजनानामुन्नच्छस्यप्यथ जगदूर्ध्वम् ।
प्रव्यक्तः सन् कनखललिंगे वायोरन्तर्वससि तदुग्रः ॥ २९ ॥

आप सब लोगों में व्याप्त हैं, संसार से अतीत हैं, कनखल क्षेत्र में उग्रेश्वर नाम से लिंग में प्रतिष्ठित हैं और इस नाम से वायुतत्त्व के अधिष्ठाता हैं अतः उग्र हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उच समवाये (दि. प. से.) धातु से औणादिक प्रक्रिया से उग्र शब्द बनता है। अतः उच्यति समवेतो भवतीत्युग्रः—इस व्युत्पत्ति से प्रथम अर्थ है। कार्यकारण का समवाय प्रसिद्ध है। सर्वकारण शिव का सर्वसमवाय संगत है। उच्यति समवैति व्याप्नोति अर्थ भी समझ सकते हैं। अथवा तादात्म्य को समवाय कहा है। जीव से शिव का तादात्म्य होने से 'लोगों में व्याप्त' कहा है। वास्तविक अभेद व काल्पनिक भेद तादात्म्य कहा जाता है अतः कोई दोष नहीं। दूसरी व्याख्या में शब्द निर्माण अन्य प्रकार से है। उत्-शब्द ऊर्ध्वार्थक है। गम्लृ धातु से उणादयो बहुलम् (३. ३. १) के अनुसार औणादिक प्रक्रिया से उद्गच्छतीत्युग्रः—यों सबसे ऊर्ध्व होने वाले को उग्र कहा जा सकता है। 'अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' (श्वे. ३. १४) 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि' (छां. ३.१२.६) इसमें प्रमाण हैं। 'उग्राय वायुमूर्तये नमः' आदि पूजाप्रयोग से वायु के अधिष्ठाता की उग्रनामकता सिद्ध होती है।

श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम मत्ता है। ज्ञेया मत्ता मभसगसृष्टा। प्रत्येक चरण में मगण, भगण, सगण और एक गुरुवर्ण हो तब मत्ता छन्द समझना चाहिये।

(२४) कपाली—स्वसुता से रमण में प्रवृत्त ब्रह्मा का सिर काटकर उसे खप्पर की तरह प्रयोग करने से शिव कपाल वाले कहे जाते हैं। परमार्थतः तो ब्रह्माण्ड के मध्यमें खड़े होने से मानो दो कपालों को जोड़ दिया गया हो ऐसी प्रतीति होने से यह ब्रह्माण्ड ही कपाल है जिसके अधिपति होने से शिव कपाली हैं। विवेचकों की दृष्टि से तो अन्न और अत्ता ही दो कपाल हैं।

ब्रह्मा के दुष्कृत्य का वर्णन बृहदारण्यक में (१. ४. ४) तथा अन्यत्र श्रुति में व शिवपुराण में (रुद्र. सती. १) एवं मत्स्यादि अन्य पुराणों में मिलता है। महिम्नस्तोत्र में भी

प्रजानाथं नाथ ! प्रसभमभिकं स्वां दुहितरं गतं रोहिद्भूतां रिरमयिषुमृष्यस्य वपुषा ॥२२॥

आदि द्वारा इसका उल्लेख है। यद्यपि दुहितृगमन आदि का निषेध मानवार्थ ही है, शास्त्रानधिकारी होने से देवताओं के लिये नहीं तथापि दुहितृगमन की अतिगर्हिततता सबको पता चले इस प्रयोजन से धर्मकाम महादेव ने ब्रह्मा को इसके लिये दण्डित किया। जब साक्षात् ब्रह्मा इस पाप के फल से न बचे तो हम कहाँ बच पायेंगे—यह हमें समझना चाहिये। ब्रह्मा के कपाल-लुंचन का प्रसंग यह भी बताया है कि उन्हें यह गर्व हो गया था कि वे ही परमेश्वर हैं तब कालभैरव ने उनका कपाल नोंच लिया और यह अहसास करा दिया कि उनसे भी शक्तिशाली जो है वह शिव है (शिवपु. शतरु. ८)। इस प्रकार अविवेक या गर्वरूप विरोधी गुणों का नाश कपाली नाम बताता है। जयमंगलाचार्य तो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गीतोक्त अद्वेष्टृत्वादि गुण कपाल से समझते हैं—

कं सुखं पालयेद्यस्तु कपालः स तु कीर्तितः । आनन्दरक्षाहेतुश्च ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः ॥
स्पन्द. ८. ६८ ॥

अतः स्वभाव से ही अद्वेष्टा आदि होने से भगवान् कपाली हैं । इसमें कारण उनका उग्रत्व अर्थात् आत्मसंयम है । अथवा कपालछिद्र से प्रवेश करने वाले होने से शिव को कपाली कहा है । उग्रता प्रकट करने का स्थान जीवमूर्ति ही है क्योंकि उसी में स्थित हो अज्ञाननाश हो सकता है यह रहस्य भी समझ लेना चाहिये ।

आलवाल में यह नाम यों समझाया गया है—

कमलभवकरोटिव्रातमालाधरत्त्वात् तदधिकबलशाली भासि कङ्कालनाथः ।
परशिव करवीरक्षेत्रमध्यस्थलिङ्गे निवससि सुरवन्द्यो नामतस्त्वं कपाली ॥ ३० ॥

हे परमशिव ! ब्रह्मा के कपाल-समूह से बनी माला धारण करने के कारण आप कंकालनाथ होते हुए भी ब्रह्मा से अधिक बलशाली प्रमित होते हैं । करवीर क्षेत्र में स्थित लिंग में आप कपालीश्वर नाम से प्रतिष्ठित हैं । सुरों द्वारा वन्दनीय आप नाम से कपाली हैं ।

'कपालमालाङ्कितकन्धराय' (अर्धनारीश्वरस्तोत्र श्लो. ५) आदि में कपालों की माला का धारण प्रसिद्ध है । अस्थिपंजर को कंकाल कहते हैं 'शरीरस्यास्थि कंकालम्' (हलायुध.) । कंकालमात्र के नाथ प्रतीत होने पर भी पता चलता है कि वे ब्रह्मा से अधिक बली हैं । अथवा कस्य सुखस्य कालः कङ्कालस्तस्य नाथः सुखकालहेतुः इस योजना से विरोधाभासपरिहार समझना चाहिये । 'नाम से कपाली हैं' अर्थात् वस्तुतः कपाली नहीं । इसमें 'विकारो नामधेयम्' (छां. ६.१.४) आदि श्रुति प्रमाण है । भगवान् के कपाली आदि रूप नाममात्र को हैं वस्तुतः नहीं । नाम भी नाममात्र को है वास्तविक नहीं ।

भगवान् के हाथ का कपाल मोक्षरस से भरा है अतः कहने को ही कपाल है अन्यथा सुधाकलश है । उस कपाल से जगद्धर भट्ट की प्रार्थना है—

भालाग्निकीलकालुताखिलरन्ध्रभागं भर्गस्य वो दिशतु शर्म शिरःकपालम् ।
यत्कालवह्निवपुषः पचतः प्रभूतभूतव्रजं व्रजति तस्य महानसत्त्वम् ॥ स्तु. कु. ३.२७ ॥

अर्थात् भर्ग के पास स्थित वह शिरःकपाल आपको शर्म अर्थात् मोक्षलक्ष्मी प्रदान करे जो कालाग्निरुद्ररूप से अनेक लोकसमूहों को पकाते हुए रुद्र की पाकशाला बन जाता है और जिसके सारे छिद्र शिव के माथे की अग्नि की ज्वालाओं से भर जाते हैं ।

मालिनी छन्द है—'ननमयय-युतेयं मालिनी भोगिलोकैः' नगण, नगण, मगण, यगण, और यगण वाला तथा आठ और सात अक्षरों पर यति वाला छंद मालिनी है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(२५) कामारिः—कामदेव का नाश करने वाले। वैदिक दृष्टि से शिव ही अविद्या का नाश करके तज्जन्य काम का नाश करते हैं क्योंकि ब्रह्माकार वृत्ति में स्थित ब्रह्म ही अविद्यानाशक है, न कि वृत्ति। सूर्यकान्त में स्थित सूर्य ही दाहक है न कि मणि। पौराणिकदृष्ट्या कामदेव को जलाने वाले हैं। वस्तुतः तो प्रत्येक कामभाव अविद्याजन्य होने से अशिव हैं। शिवभाव समष्टिनिष्ठ होने से वह प्रत्येक व्यष्टिनिष्ठ स्वार्थी अशिव कामभाव को नष्ट करता है।

कामदमन मोक्षपथिक के लिये अनिवार्य है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा—चारों कामनिरोध के ही नाम हैं। अविवेक हट जाये तब भी कामनावशात् हम प्रतिषिद्ध से बच नहीं पाते अतः इसके लिये भगवत्प्रार्थनापूर्वक यत्नवान् होना चाहिये। कामदहन शिवपुराण (रुद्र. पार्वती. अध्याय १९), मत्स्यपुराण (१५४), स्कन्दपुराण प्रभासखण्ड (२००) आदि में सुवर्णित है।

ततः कोपानलोद्भूतघोरहुङ्कारभीषणे ॥ बभूव वदने नेत्रं तृतीयमनलाकुलम्।
रुद्रस्य रुद्रवपुषो जगत्संहारभैरवम् ॥ तदन्तिकस्थे मदने व्यस्फारयत धूर्जटिः।
तन्नेत्रविस्फुलिंगेन क्रोशतां नाकवासिनाम् ॥ गमितो भस्मसात्तूर्णं कन्दर्पः कामिदर्पकः।
(मत्स्य. १५४. २४७-२४९)

दक्षिणामूर्त्तिवर्णमाला स्तुति में आचार्य ने इसका यों वर्णन किया है—

मत्तो मारो यस्य ललाटाक्षिभवाग्नि-स्फूर्जत्कीलप्रोषितभस्मीकृतदेहः।
तद्भस्मासीद्यस्य सुजातः पटवासः तं प्रत्यञ्चं दक्षिणवक्त्रं कलयामि ॥१४॥

नीलकण्ठदीक्षितकृत वर्णन भी श्रोतव्य है—

वक्त्राब्जेषु पितामहस्य जगतां वक्षस्थले श्रीपतेः
सर्वाङ्गेषु शतक्रतोरपि दृढानुच्छ्रित्य जैत्रध्वजान्।
संप्राप्तो मदनोऽपि यस्य निटिलज्योतिः पतङ्गायितः
स स्वामी मम दैवतं तदितरो नाम्नाऽपि नाम्नायते ॥ शिवोत्क. ४ ॥

कल्पलतालवाल तो 'जिसकी प्राप्ति में कामना ही शत्रु है कामीऽरिर्यस्य यत्प्राप्तौ कामनैव विरोधिनी' यह समास भी संगत बताते हुए अर्थ करता है—

कर्पूरश्वेत ! त्वं कामेच्छो दूरे निष्कामानामासन्नः।
दर्पं कन्दर्पस्य प्रक्षिण्वन् विख्यातोऽभू र्लोके कामारिः ॥ ३१ ॥

हे कर्पूरगौर ! काम्यविषयों को चाहने वालों से आप दूर रहते हैं, कामनारहित लोगों के लिये अतिनिकट हैं। कामदेव के दर्प को आपने नष्ट किया। इन कारणों से आप संसार में कामारि नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः' (बृ. ४.४.७) 'विद्ध्येनमिह वैरिणम्' (गी. ३.३७) आदि सहस्रों वाक्य प्रथम अर्थ में प्रमाण जानने चाहिये । 'निष्काम आप्तकामः' (बृ. ४.४.६) आदि कामरहित के शिवनैकट्य में प्रमाण है ।

कर्पूर छन्द है । 'मा रामा यस्मिंस्तत् कर्पूरम्'—परशुराम, दाशरथि राम व बलराम, यों राम तीन हैं । अतः जिस छंद में तीन मगण प्रतिचरण हों वह कर्पूर है ।

(२६) **अन्धकासुरसूदनः** —अज्ञानरूप अन्धकार ही अन्धक है । वह स्वयम्प्रकाश महादेव सुर का आवरण करता है अतः असुर है । इसका नाश करने के लिये ही सदाशिव वेद, महावाक्य, गुरु आदि रूपों को धारण करके अन्त में वृत्तिविशिष्ट बनकर अज्ञान का नाश करते हैं । पौराणिक दृष्ट्या अन्धक राक्षस को शिव ने मारा ही था । वस्तुतः तो प्रत्येक वृत्ति किसी न किसी तूलाज्ञानरूप अन्धक का नाश करती ही है, अतः महादेव सदा ही वृत्ति से अन्धकासुरसूदन हैं । वृत्ति स्वरूपतः जड़ है अतः वे ही उसे चेतनप्रकाश वाला बनाते हैं यह वेदान्त की पुनीत मर्यादा है ।

अन्धकासुर की जन्म से मरण तक की कथा शिवपुराण की रुद्र संहिता के युद्ध खण्ड में (अध्य. ४२-४६) आयी है । सौरपुराण में (अ. २९ श्लो. ११-५५) भी यह प्रसंग है । यहाँ (=सौरमें) अन्धककृत शिवस्तोत्र भी पठनीय है । दर्प अन्धक है । हर्षातिशय से अपनी निरंकुशता के मिथ्यानिश्चय से औचित्यसीमा का उल्लंघन हो जाता है । यही दर्प कहा जाता है । कामत्याग का भी दर्प नहीं रखना चाहिए । रक्तशून्य अन्धक को गणश्रेष्ठता प्राप्त हुई, ऐसे ही शुद्धसत्त्वप्रयुक्त हर्ष से निरंकुशता का वास्तविक निश्चय मोक्षपद का प्रापक है । 'गजच्छिदान्धकच्छिदम्' 'गजान्तकान्धकान्तकम्' (शिवता. ८, ९) आदि में रावण ने अन्धकनाशक को स्मरण किया है ।

आलवाल में यह व्याख्या है—

> **लीलया जगदम्बया पिहितेषु ते नयनेष्वभू—**
> **दन्धकारत एव यः स तु भैरवेण निषूदितः ।**
> **तादृशः कृपया पुनः शिव गाणपत्यमवापितः**
> **प्रेमवानपि नामतः पुनरन्धकासुरसूदनः ॥ ३२ ॥**

जगदम्बा द्वारा खेल में आंपके नेत्रों को बन्द करने से हुए अन्धकार के कारण ही जो अन्धकासुर उत्पन्न हुआ वह तो भैरव द्वारा मार दिया गया । वैसा नीच होने पर भी आपके द्वारा कृपाकर वह उत्तम गणनेता-पद पर पहुँचा दिया गया । यों (अन्धक जैसों पर भी) प्रेम वाले होते हुए भी आप नाम से अन्धकासुरसूदन हैं ।

उक्त शिवपुराणकथा के अनुसार यहाँ वर्णन है । अन्धक के दुष्कर्मों से भगवान् रुष्ट थे, उससे नहीं । अतः जब अन्धक ने अपनी गलती पहचान कर छोड़ दी तो भगवान् ने उसे अपने गणों का नेता बना दिया । इससे सिद्ध होता है कि अंधक पर तो महादेव की सदा प्रीति थी ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विबुधप्रिया नामक वृत्त का प्रयोग है–'रात्सजौ जभरा गजै र्दशभि र्यति र्विबुधप्रिया'। इसमें प्रतिपाद रगण, सगण, दो जगण, भगण और रगण होते हैं तथा आठवें व दसवें अक्षर पर यति होती है।

(२७) गङ्गाधरः –गंगा को धारण करने वाले। वेदों में गंगा ज्ञान ही है क्योंकि वही सबको पवित्र करता है। ज्ञान को सर्वप्रथम धारण करके वेदपरम्परा तथा संन्यासपरम्परा का प्रवर्तन करने से शिव गंगाधर हैं। पुराणों में गंगावतरण के समय उसे शिव ने अपनी जटा में धारण किया था।

वाल्मीकि रामायण (१.४३), महाभारत (वन. १०७-१०८) आदि अनेक ग्रंथों में गंगावतरण की कथा मिलती है। वायुपुराण में (पूर्वा. ४७. २५-३५) भी संक्षेप से इसका उल्लेख है। स्कन्दपुराण में नाना स्थलों पर (काशीखण्ड २७; अवन्तीखण्ड ४४२; नागरखण्ड १३०) यह प्रसंग मिलता है। कवियों ने भी इसका वर्णन किया है। महिम्नस्तोत्र में (१७) यह चित्रण भगवान् की महत्ता वर्णन के लिये आया है। अप्पय दीक्षित ने कारुणिकता में प्रमाण दिया है कि गंगाधारण करना और विषपान करना करुणापूर्णता सिद्ध करते हैं।

गङ्गा धृता न भवता शिव ! पावनीति नास्वादितो मधुर इत्यपि कालकूटः।
संरक्षणाय जगतां करुणातिरेकात् कर्मद्वयं कलितमेतदनन्यसाध्यम् ॥ ब्रह्मतर्क. ३५ ॥

कर्मवेग शिवलाभ में प्रतिवन्धक है अतः उग्रतापूर्वक उसे निरुद्ध करना आवश्यक है। प्रारम्भ अशिव कर्मों के त्याग से कर अन्त सर्वकर्मत्याग में होना चाहिये। जैसे गंगा को जटा में रोकने के बाद पृथ्वी पर बहने के लिये शंकर भगवान् ने छोड़ा वैसे सर्वकर्मत्याग के अनन्तर लोकसंग्रहार्थ कर्म हो तो कोई हानि नहीं।

भास्करराय की यह व्याख्या है–

अमरतटिनी निजं बलमवेक्ष्य गर्वाद्भव–
छिरसि गगनादपीपतदतीव वेगोद्धुरा।
पटुतरजटाटवीमुपगता न दृष्टा क्वचित्
परशिव ! तां दधन्निगदितोऽसि गङ्गाधरः ॥ ३३ ॥

हे परमशिव ! देवनदी अपने बल का विचारकर गर्व से अतितीव्र गामिनी होती हुई आकाश से आपके सिर पर बहुत जोर से गिरी पर खूब फैली आपकी जटारूप वन में वह प्रविष्ट हुई और फिर (जब तक आपने चाहा नहीं तब तक) कहीं दीखी ही नहीं। क्योंकि आप उसे धारण करते हैं इसलिये गंगाधर कहे जाते हैं।

यहाँ धरतीति धरो गङ्गाया धरो गङ्गाधरः यह व्युत्पत्ति माननी चाहिये। बहुत समय न दीखने में कारण यह भी है कि भगवान् के विचलित न होने से गंगा का गर्वभंग होने के कारण उसे लज्जा हुई थी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मालाधर छन्द है । 'न सजसयला गुरु र्यदि तदैष मालाधरः'—प्रतिचरण क्रमशः नगण, सगण, जगण, सगण, यगण, लघु, गुरु हों तो मालाधर छन्द होता है ।

(२८) ललाटाक्षः —ललाट में नेत्र वाले । ललाट चिन्तन व चित्त का केन्द्र है । अतः चित्तनेत्र या ज्ञाननेत्र वाला होने से शिव का नाम सार्थक है । शिवमूर्ति में तृतीय नेत्र तो ललाट में है ही ।

माथे के तीसरे नेत्र की उत्पत्ति महाभारत में (अनु. १४०.४३-४४) बतायी है—

नेत्रे मे संवृते देवि त्वया बाल्यादनिन्दिते । नष्टालोकस्तदा लोकः क्षणेन समपद्यत ॥
नष्टादित्ये तथा लोके तमोभूते नगात्मजे । तृतीयं लोचनं दीप्तं सृष्टं मे रक्षता प्रजाः ॥

जैसे सिर पर अंगारा रखा हो तो उसे हटाने में देर सहन नहीं होती ऐसे संसार सहन न हो तब मोक्षमार्ग पर प्रगति हो सकती है । अन्यथा कर्म छोड़कर भी तामसता ही बढ़ती है । कुछ विचारक इसे ही औपनिषद शिरोव्रत कहते हैं । साधनसम्पत्ति में सुनी तितिक्षा का यह कथमपि अभिप्राय नहीं है कि संसारचक्र के संचालन के कष्टों को झेला जाये । उसका अभिप्राय यही है परमात्ममार्ग पर चलने में आने वाली आपत्तियाँ यों झेली जायें कि न वे और न उनको हटाना मार्ग पर बढ़ने का प्रतिबंधक बन पाये । अतएव यह मोक्षसाधन है भोगसाधन नहीं । इसकी आवश्यकता यों व्यक्त की है—

तत्तत्कालसमागतामयततेः शान्त्यै प्रवृत्तो यदि स्यात्तत्तत्परिहारकौषधरतस्तच्चिन्तने तत्परः ।
तद्भिक्षुः श्रवणादिधर्मरहितो भूत्वा मृतश्चेत्ततः किं सिद्धं फलमाप्नुयादुभयथा भ्रष्टो भवेत् सर्वतः ॥

(सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह १४५)

श्लोकमय व्याख्यान है—

उडुशशिरविसंहर्ता प्रलयसमयसप्तार्चिः ।
तमुपरि नयने बिभ्रद् भव ! भवसि ललाटाक्षः ॥ ३४ ॥

हे भव ! नक्षत्र, चन्द्र, सूर्य (आदि) को नष्ट करने वाली जो प्रलयकालिक वह्नि है उसे आप अन्य दो नेत्रों से ऊपर धारण करते हैं अतः ललाटाक्ष हैं ।

ललाटेऽक्षि यस्य यह विग्रह है । 'सप्तार्चि र्दमुनाः शुक्रः' (अमर.) आदि कोष से सप्तार्चि पद वह्निपरक हैं । सात अर्चियाँ मुण्डकोपनिषत् में (१.२.४) बतायी हैं—

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा ।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इत सप्त जिह्वाः ॥

प्रकृत श्लोक भुजगशिशुभृता नामक छन्द में निबद्ध है—'भुजगशिशुभृता नौ मः' अर्थात् जिसके चारों पादों में दो नगण व एक मगण हो उसे भुजगशिशुभृता कहते हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(२९) कालकालः —सारी सृष्टि काल में है। शिव सबका ध्वंस करके काल को भी नष्ट करते हैं अतः वे कालकाल हैं। ब्रह्मनिष्ठ काल से अतीत जिस शिव की कृपा से होते हैं वे कालकाल तो हैं ही। पुराणों में श्वेत एवं मार्कण्डेय केलिये शिव ने यमराज को मार डाला था अतः कालकाल रूप से प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक ज्ञान साक्षी में लीन होता है। अतः कालरूप क्षणका—जो ज्ञान से अभिन्न है—प्रतिक्षण ही साक्षी शिवमें ग्रास होने से भी वे कालकाल हैं। भगवान् सुरेश्वराचार्य इसे ही यों बताते हैं—

जानामीत्येव यज्ज्ञानं भावानाविश्य वर्तते। ज्ञातं मयेति तत् पश्चाद् विश्राम्यत्यन्तरात्मनि ॥
(मानसोल्लास ३.६) ॥

पूर्वोक्त (श्लो. २७) कालंजर तीर्थ में श्वेतराजा की मृत्यु से रक्षा करने के लिये भगवान् ने यम को मार दिया था यह कूर्मपुराण में (उत्तर. ३५) कथा है। मार्कण्डेय के लिये मृत्यु को मारना लिंगपुराण में विस्तार से बताया गया है। देवप्रिय आदि चार ब्राह्मणों की मृत्त्यु टालने भगवान् आये थे इसके लिये आज तक स्थित महाकाल ज्योतिर्लिंग प्रमाण है (कोटिरुद्र. १६)। इसीतरह गृहपति की रक्षा में अग्नीश्वर (शतरुद्र. १५.५४) लिंग प्रमाण है। श्वेतकेतु, नन्दी आदि के भी वे मृत्त्युभयहारी बने (शतरु. १५.१४-१५)। अतः क्या आश्चर्य कि यमराज को यह निर्देश अपने गणों को देना पड़ा—

ये त्रिपुण्ड्रधरा लोके विभूत्या सितया गणाः। ते सर्वे परिहर्तव्या नानेतव्याः कदाचन ॥
उद्धूलनकरा ये हि विभूत्या सितया गणाः !। ते सर्वे परिहर्तव्या नानेतव्याः क़दाचन ॥
शिववेशतया लोके येन केनाऽपि हेतुना। ते सर्वे परिहर्तव्या नानेतव्याः कदाचन ॥
ये रुद्राक्षधरा लोके जटाधारिण एव ये। ते सर्वे परिहर्तव्या नानेतव्याः कदाचन ॥
उपजीवनहेतोश्च शिववेषधरा हि ये। ते सर्वे परिहर्तव्या नानेतव्याः कदाचन ॥
दम्भेनाऽपिच्छलेनाऽपि शिववेषधरा हि ये। ते सर्वे परिहर्तव्या नानेतव्याः कदाचन ॥
रुद्रसं. खं. १ अ. १८ श्लो. ४४-४९ ॥

यह श्रुतिप्रसिद्ध नाम है—'ज्ञः कालकालः' (श्वे ६.२)। अध्यात्म साधना में तो काल को नियन्त्रण में रखना, उसे व्यर्थ जाने न देना कालकालता है। 'क्वचिन्नावसरं दद्यात्कामादीनां मनागपि' आदि स्मृति इसमें प्रमाण है।

भास्करराय इस नाम को यों समझाते हैं—

मार्कण्डेयः कालमुखाद्विमुक्तो दग्धो रुद्रः काल इति प्रसिद्धः।
तुर्यां मूर्तिं बिभ्रदुमादिनाथ! प्रख्यातोऽसि त्वं भुवि कालकालः ॥३५॥

हे उमानाथ! मार्कण्डेय आपके द्वारा काल के मुखसे छुड़ा दिया गया; प्रसिद्ध कालाग्निरुद्र आपके द्वारा नष्ट कर दिया गया; आप कालरूप चौथी मूर्ति को धारण करते हैं अतः संसार में 'कालकाल' नाम से प्रसिद्ध हैं।

कल संख्याने (चु. उ. से.) धातु से कलयतीति अर्थ में अच् प्रत्यय (३.१.१३४)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
और स्वार्थ में प्रज्ञाद्यण (५.४.३८) कर काल शब्द बनता है । अतः जो सबकी आयु गिने वह काल है । अथवा कल धातु क्षेपार्थक होने से सबका प्रेरक होने के कारण काल है । उभयथा कालकाल–कालस्य कालः–महादेव का अन्वर्थ नाम है । मार्कण्डेय का प्रसंग लिंगादिपुराणों में प्रसिद्ध है । जगत् का संहारक काल है कालाग्नि और उसके अधिष्ठाता कालाग्निरुद्र हैं । इनका विवरण देवीपुराण में है । अधिष्ठान होने से शिव कालाग्निरुद्र की भी नाशभूमि है यह संगत है । भगवान् की चौथी मूर्ति काल है इसमें विष्णुपुराणोक्ति प्रमाण है–

परस्य ब्रह्मणो रूपं पुरुषः प्रथमं द्विज ! । व्यक्ताव्यक्ते तथैवान्ये रूपे कालस्तथा परम् ॥ १.२.१५ ॥

इस अर्थ में प्रथम कालपद खण्डकालपरक व द्वितीय महाकालपरक जानना चाहिये ।

छन्द का नाम गुणाङ्गी है । 'म्तौ ज्गौ गः स्यादब्धिनगै र्गुणाङ्गी'–प्रतिपाद मगण, तगण, जगण व दो गुरुवर्ण हों तथा चौथे और सातवें अक्षरों पर यति हो तो गुणांगी छन्द होता है ।

(३०) कृपानिधिः –कृपा के खजाने । बड़े से बड़े पापों को अपनी कृपा से नष्ट कर वे भक्त का उद्धार करते हैं अतः कृपानिधि हैं । पुराणों में भील, व्याध, भस्मासुर आदि पर उनकी अकारण दया वर्णित है । काशी में मरने वाले प्रत्येक व्यक्ति को मोक्ष बाँटने वाले से अधिक और कौन कृपानिधि हो सकता है ?

महेश्वर ने कृपैक परवश होकर ही रामजी को कहा है–

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् । साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ शिवगी. १२-८ ॥

नामसङ्कीर्तने ध्याने सर्व एवाधिकारिणः ॥·····गच्छंस्तिष्ठञ्जपन्वापि शयानो वान्यकर्मणि । पातकेनापि वा युक्तो ध्यानादेव विमुच्यते ॥·····स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ शिवगी. १६.१२-१६ ॥

महापापैरपि स्पृष्टो देहान्ते यस्तु मां स्मरेत् । पंचाक्षरीं वोच्चरति स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ·····अन्तकाले तु रुद्राक्षान् विभूतिं धारयेत्तु यः । महापापोपपापौघैरपि स्पृष्टो नराधमः ॥ सर्वथा नोपसर्पन्ति तं जनं यमकिङ्कराः ॥ शिवगी. १६.१८-२४ ॥

आहुकभील (शतरु. २८), गुरुद्रुहव्याध (कोटिरु. ४०), महानन्दा वेश्या (शतरु. २६), सौमिनी चाण्डाली (कोटिरु. ८-९) आदि अनेक प्रसंग पुराणों में हैं जिनसे भगवान् की कृपामयता सिद्ध होती है । अप्पय दीक्षित ने शिव को 'निरवधिकृपासागरः' (आत्मार्प. ३१) कहा ही है । आचार्य उन्हें 'दयाकरस्य' (शिवानन्द. ३५) कहते हैं । नीलकण्ठदीक्षित तो शिव को दयाविग्रह मानते हैं–'दयारसैकवपुषा' (शिवोत्क. १०) । इस दृष्टि से भक्तराज जगद्धर ने कहा है–

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करुणा तव जीवितेश्वरीमतिशेते भगवन्नुमामपि ।
उमया हृतमर्धमेव यत् सकलस्त्वं पुनरेतया हृतः ॥ १५.९ ॥

उमा ने तो आधे शरीर पर अधिकार किया, करुणा ने तो पूरे पर ही अपना शासन कर लिया—समस्त शिवदेह में व्याप्त हो गयी । अन्यत्र भी 'कृपामृतनिधेः' (स्तु. कु. ११.१३९) कहा है । अतएव इतर देवताओं की अपेक्षा शिवकृपा पाना सरल माना गया है ।

साधक केलिये उपदेश है कि कृपा के विषय में निधि-सा गंभीर होना चाहिये । मैत्री आदि सद्गुणों का अभ्यासी होने से दुःखीमात्र पर कृपा की प्रवृत्ति स्वाभाविक है जिसे उग्रता से रोकना साधक के लिये आवश्यक है । कृपा करना उचित कार्य होने पर भी बहिर्मुखता—प्रधान होने से साधक के लिये विक्षेपक होता है । कृपा मनोभावमात्र नहीं, उससे उद्वेलित हो किया कर्म भी है । दुःखी के दुःख हटाने का प्रयास करने का नाम कृपा करना है, संवेदना प्रकट करना ही नहीं । यह प्रयास बहुत विस्तृत काल व क्षेत्र में कार्यरत करा देता है और आत्मलाभ के उपायों का अनुष्ठान छूट जाता है । अतः जैसे गंभीर सागर जलपूर्ण होता हुआ भी अधिक उछलता दीखता नहीं वैसे साधक कृपा रखते हुए उसका प्राकट्य करने पर उग्र प्रतिबन्धक रखे तभी उचित है । हाँ, जहाँ तक प्रकटीकरण मुख्यमार्ग से अविरुद्ध हो, वहाँ तक उसे करना ही उचित है । अतः जिज्ञासु आदि को शिवोपदेशादि कर कृपा करना कर्त्तव्य है । इसी दृष्टि से कहा है 'जनकृपा उत्सृज्यताम्' (साधन पं. ४) ।

आलवाल में इस पर यह पद्य है—

दैतेयेषु जलन्धरादिषु स्वीयानामपकारकेष्वपि ।
सालोक्यादिपदानि दित्ससि त्वं ख्यातोऽसि ततः कृपानिधिः ॥ ३६ ॥

आपके अपने भक्तों का अपकार करने वाले दैत्यवंशी जलन्धर आदि को भी सालोक्यादि मोक्षपद आप देना चाहते हैं अतः कृपानिधि नाम से प्रसिद्ध हैं ।

जलन्धर का प्रसंग शिवपुराण में (रुद्रसं. युद्ध. १८-२४) दर्शनीय है । मरकर जलंधर शिव में लीन हो गया था—

तत्तेजो निर्गतं देहाद्रुद्रे च लयमागमत् । वृन्दादेहोद्भवं यद्वद् गौर्यां हि विलयं गतम् ॥
रु. यु. २४.५२ ॥

'जलन्धर आदि' के आदिशब्द से बाण, अन्धक आदि का ग्रहण समझना चाहिये । बाण पर शिवकृपा भी युद्धखण्ड में (अध्य. ५३) ही वर्णित है और अन्धक को गणनेता बनाया यह भी वहीं (अध्य. ४९) बताया है । यद्यपि दुंष्कृतों का नाश भगवदभीष्ट है तथापि पूर्वोक्त नीति से जब दुष्कर्म-निवृत्ति के प्रति शिव आश्वस्त हो जाते हैं तब दुष्कर्मी को भी आत्मसात् कर लेते हैं क्योंकि वह तब दुष्कर्मी रह नहीं जाता ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथवा, 'अपकारकेष्वपि' में स्थित अपिशब्द से जो भगवान् के प्रति उदासीन हैं उनका ग्रहण हैं । भगवद्द्रोही चाहे वैरिभावसे सही, भगवच्चिन्तन करते तो हैं; किन्तु जो म्लेच्छ, मशक आदि किसी भाव से भगवान् से संबन्ध नहीं रखते उन्हें भी काशी में मरने मात्र से भगवान् सालोक्यादि प्रदान करते हैं, यह अर्थ है । शिवोत्कर्षमञ्जरी में नीलकण्ठदीक्षित ने कहा है–

यद् दातुं कृतलोभ एव परमं धाम स्वभक्तान् पुरा
काकुत्स्थोप्यतिसन्दधे सभुवनान्यन्यानि सृष्ट्वा तदा ।
आवेधो मशकं तदेव तृणवद् दत्तेऽविमुक्ते तु यः
स स्वामी मम दैवतं तदितरो नाम्नाऽपि नाम्नायते ॥ ५ ॥

प्रकृत श्लोक का शुद्धविराट् छन्द है । 'म्सौ ज्गौ शुद्धविराडिदं मतम्'–इसमें प्रतिचरण मगण, सगण, जगण और एक गुरुवर्ण होता है ।

(३१) भीमः –भयंकर । पापी दुष्टों को दर्शनमात्र से भय देते हैं । वस्तुतः अनात्मदर्शियों को संसाररूप से दर्शन देना ही भीम होना है ।

'पापियों को दर्शनमात्र से भय देते हैं' का तात्पर्य है कि पापी इसी से भयभीत रहते हैं कि कहीं हमें त्रिशूली का दर्शन न हो जाये । अथवा पापी को शिवदर्शन होना ही दुर्लभ है । भीमशब्द भयार्थक ञिभी (जु. प. अ.) धातु से औणादिक मक् प्रत्यय (उणा. १.१४८) ही बिभेत्यस्मात् तात्पर्य वाला बनता है । कृपानिधि से अगला ही नाम भीम बता दिया है । यह इसे स्पष्ट करने के लिये कि पारमेश्वरी कृपा उच्छृंखलता को पनपने नहीं देती । वस्तुतः कृपा तत्काल सुख देने वाली हो ऐसा कोई नियम नहीं, कई कठोर कृपायें होती हैं जो प्रारंभ में भीषण कष्ट देती हैं पर फलकाल में शान्ति देती हैं । बिना सोचे कृपा वस्तुतः लाड-लालना-ही है, कृपा नहीं । अतः कृपालु माता से ही न पढ़ना चाहने वाला बालक डरता है । साधनापक्ष में उग्रता का यह रूप कार्यकरणसंघात को अपने नियंत्रण में रखने के लिये आवश्यक है । अथवा शिवभक्तों पर यथासंभव कृपा करते हुए शिवद्वेषियों के प्रति भीमरूप रहना चाहिये जिससे शिवनिन्दादि सुनने का प्रसंग ही न उठे । यदि निन्दक साधक से डरता होगा तो उसके संमुख शिवनिन्दा करेगा नहीं ।

स्कन्दपुराण में भीमेश्वरखण्ड में कहा है–

भक्तानुरक्तानुपमप्रभाव ! भवोग्रदुःखार्णवकर्णधार !
भूरिप्रभाव्याप्तनभोऽवकाश ! भूतेश भीमेश नमो नमस्ते ॥
भीमेशनामामृतपानलोला या सैव लोके सफला रसज्ञा ॥ भीमेश्वरस्तो. ९-१० ॥

अतः यह भीमता कृपानिधिता के अविरुद्ध है ।

कल्पलतालवाल का व्याख्यान है–

भिया वातो वाति ज्वलनदिनकरौ शक्रमृत्युप्रचेतो–
मुखा देवास्त्वत्तो भयचकितहृदस्तत्पराः स्वस्वकार्ये ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नभोऽधिष्ठात्री ते तनुरतिविपुला सप्तगोदावरे च
प्रतीतस्त्वं लिङ्गे गिरिवरतनयानाथ ! तेनासि भीमः ॥ ३७ ॥

हे हिमाचलपुत्री के पति ! आपके भय से वायु बहती रहती है; अग्नि और सूर्य आपके भय से अपने कार्य में संलग्न रहते हैं; इन्द्र, यम, वरुण आदि देवता आपसे होने वाले भय के कारण सशंक हृदय वाले हुए अपने अपने काम में तत्पर रहते हैं; आकाश की अधिष्ठात्री आपकी अतिव्यापक मूर्ति भीमनाम वाली है; तथा सप्तगोदावर तीर्थ में स्थित लिंग में आप इसी नाम से प्रतिष्ठित हैं अतः आप भीम हैं ।

भगवद्भय से वायु आदि की प्रवृत्ति श्रुतिसिद्ध है–

भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः । भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्यु र्धावति पंचमः ॥
तै. २. ८. १ ॥

भयादग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः । भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्यु र्धावति पंचमः ॥
कठ. २. ६. ३ ॥

आकाशाधिष्ठात्री मूर्ति भीम है इसमें यह प्रमाण है–

सर्वावकाशदं सर्वव्यापकं गगनात्मकम् । रूपं भीमस्य भीमाख्यं भूपवृन्दस्य भेदकम् ॥
शतरुद्रसं. २.८ ॥

जहाँ गोदावरी सात धाराओं में बँटती है वह सप्तगोदावरतीर्थ है । इसका उल्लेख महाभारत के तीर्थयात्रापर्व में भी मिलता है–

सप्तगोदावरे स्नात्त्वा नियतो नियताशनः । महत्पुण्यमवाप्नोति देवलोकं च गच्छति ॥
महा. वन. ८५.४४ ॥

समुद्र से मिलने के पूर्व गोदावरी नाना भागों में बँटती है । वहाँ अब भी भीमवरम् स्थान प्रसिद्ध है । नर्मदातट पर भी भीमेश्वर महादेव हैं । कूर्मपुराण में (उत्तर. ३९.२०) कहा है–

भीमेश्वरं ततो गच्छेत् सर्वव्याधिविनाशनम् । स्नातमात्रो नरस्तत्र सर्वदुःखैः प्रमुच्यते ॥

यह नाम 'नम उग्राय च भीमाय च' आदि नमकाध्याय में प्रसिद्ध है ।

प्रयुक्त छन्द का नाम है शोभा । 'रसैरश्वैः शैलैः यमननततगा गश्च शोभा प्रसिद्धा'– प्रतिपाद यगण, मगण, दो नगण, दो तगण व दो गुरुवर्ण हों तथा छठे, तेरहवें व बीसवें वर्ण पर यति हो तो शोभा छंद होता है । सूर्य के सात घोड़े होने से अश्व शब्द सात की संख्या बताता है । पर्वत भी सात प्रसिद्ध हैं–

महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान् ऋक्षपर्वतः । विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः ॥

अतः शैल आदि पर्वतवाचक शब्द भी सात की संख्या बताते हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(३२) परशुहस्तः —असंगतारूप परशु को हाथ में रखने वाले। अनादि संसारवृक्ष को असंगता से ही काटा जा सकता है। उपासना व कर्म से संसार के भीतर चाहे उत्तम से उत्तम गति या स्थिति पा ली जाये, पर उनसे वृक्ष का छेदन संभव नहीं। संसार एवं उसके कारण माया का आत्मा में कालत्रय में भी स्पर्श नहीं—ऐसा ज्ञान 'असंगो ह्ययं पुरुषः' (बृ. ४. ३. १५) आदि वेदवाक्यों से होने पर ही उसकी निवृत्ति वस्तुतः संभव है। अतः शिव परशु को सदा हाथ में रखते हैं कि न जाने किस भक्त के लिये कब इसे चलाकर उसका संसारवृक्ष काटना पड़े।

'असंगशस्त्रेण' (गी. १५.३) आदि स्मृति का अनुसरण कर परशु असंगता का द्योतक है। अथवा परं द्वैतं शृणाति नाशयति व्युत्पत्ति से अधिष्ठान ज्ञान परशु समझा जा सकता है। भगवान् में अधिष्ठानज्ञान का अभाव कभी नहीं है यह निश्चित है। साधक के लिये तो दृढ़ वैराग्य की उग्रता ही उपदिष्ट है। भीमता में परशुहस्तता प्रयोजक स्पष्ट है, हाथ में परशु रहने से सामनेवाला डरे यह युक्त है। शिवभक्त में राग होगा तो शिवद्वेषी उस राग का दुरुपयोग कर भक्त को अपने अधीन रखेंगे। अतः वे डरेंगे नहीं क्योंकि उन्हें भक्त की दुर्बलता मालूम होगी। यदि भक्त विरक्त है तो द्वेषी जानेगा कि वह तो भक्त का कुछ बिगाड़ नहीं सकता, अतः डरेगा। वैराग्य का सौम्यरूप तो वह है जिसमें तत्तद्व्यक्तित्वेन या अनिष्टत्वेन विषय में राग नहीं होता और उग्ररूप वह है जिसमें विषयत्वेन विषय में राग नहीं होता। यहाँ उग्र से उपक्रम होने के कारण उग्रवैराग्य ही विवक्षित है। आचार्य ने भी तीव्रवैराग्य को ही अस्त्र बताया है जिससे लैस व्यक्ति प्रतिभटरहित होता है—

आरूढस्य विवेकाश्वं तीव्रवैराग्यखड्गिनः। तितिक्षावर्मयुक्तस्य प्रतियोगी न दृश्यते ॥
सर्ववेदान्त. ९० ॥

भगवान् के उभयविध कुठार हमारी रक्षा के लिये तैयार है ऐसा बताया गया है—

आतङ्कवेगहारी सकलदिविषदामङ्घ्रिपद्माश्रयाणां
मातङ्गाद्युग्रदैत्यप्रकरतनुगलद्रक्तधाराक्तधारः।
क्रूरः सूरायुतानामपि च परिभवं स्वीयभासा वितन्वन्
घोराकारः कुठारो दृढतरदुरिताख्याटवीं पाटयेन्नः ॥ पादादिकेशान्त. ३ ॥

आगमशास्त्र में पारावारीण भास्करराय तो इसे यों समझाते हैं—

अमोघचरितत्वं व्यनक्ति परशुस्ते।
शिवागमवचोभिस्ततः परशुहस्तः ॥ ३८ ॥

हे शिव! शैवागम-वचनों से पता चलता है कि आपका परशु आपकी अमोघचरितता व्यक्त करता है। अतः अमोघचरित वाले होने से आप परशुहस्त हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

'त्रैगुण्यं शूलमेतस्य परशुः सत्यनिष्ठता' आदि आगम विवक्षित हैं। अमोघचरित का तात्पर्य है कि भगवान् के मन, वाणी या शरीर की कोई चेष्टा व्यर्थ नहीं होती, वे सत्यकाम सत्यसंकल्प हैं। मोघचारित्र्य में कारण राक्षसी आदि प्रकृति का समाश्रयण है ऐसा गीता में (९.१२) बताया है। स्वार्थ प्राधान्य, द्वेषप्राधान्य और अविवेकप्राधान्य से तीन प्रकृतियाँ बनती हैं। दो ही मानें तो राग-द्वेष दोनों ही अविवेकमूलक होने से संगति लग जाती है। शिव शुद्धसत्त्व वाले होने से अमोघचरित्र वाले हैं यह स्वाभाविक है। इसे अमोघता का हेतु परशु बताकर आगम सूचित करता है कि भेदबाधक के सहारे ही इसका लाभ है। शब्द का विग्रह है परशु हस्ते यस्य। हस्तशब्द का परनिपातन 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ' वार्तिक से जानना चाहिये।

छन्द का नाम है 'कुमारललिता'। 'कुमारललिता ज्सगा'—जगण, सगण और एक गुरु होने पर कुमारललिता छन्द होता है।

(३३) **मृगपाणिः** —मृग की तरह चंचल मन को अपने हाथ में अर्थात् वश में रखने वाले। अथवा भक्त के मनोमृग को अपने सुन्दर वचनरूप संगीत से अपने हाथ में करने वाले। शिव मन के अधिपति हैं। अधिदैव दृष्टि से भी रुद्र अहंकार के देवता हैं एवं अहंकार के अधीन ही मन है।

अस्थिर व सुन्दर होने से मन मृग है। इसके निरोध के उपाय हैं अभ्यास और वैराग्य (गी. ६. ३५)। कपर्दी से अभ्यास और परशुहस्त से वैराग्य बताकर मनोनिरोध कहना उचित है। शशिशेखर के साधनरूप से मृगपाणि का वर्णन जानना चाहिये। अथवा मात्सर्य मोहादि मृग हैं जिनका पति राग मृगप है। उसके लिये जो अणि अर्थात् सूची का अग्रभाग है, राग की छलनी बनाने वाला, उसका नाशक है वह मृगपाणि है। 'अक्षाग्रकीलके तु द्वयोरणिः' (अमर.) आदि कोष से अणिशब्द का अर्थ जानना चाहिये। मात्सर्यादि की मृगता में 'वर्तन्ते बहुशो मृगा मदजुषो मात्सर्यमोहादयः' यह शिवानन्दलहरी (४३) प्रमाण है।

आलवाल की व्याख्या है—

दारुवनस्थैस्त्वाभिचरद्भिः प्रेषित एणो वेदशरीरः।
याचनमुद्रा या तव हस्ते तत्प्रथितोऽसि त्वं मृगपाणिः॥ ३९॥

दारुकवन में स्थित और आपका अनिष्ट करने की कोशिश करने वाले ऋषियों द्वारा भेजा वेदरूप मृग और भिक्षामुद्रा आपके हाथ में है अतः आप मृगपाणि कहे जाते हैं।

दारुकवनलीला कूर्मपुराण (उत्तर. ३७) तथा स्कन्दपुराण में वर्णित है। कर्मजाड्य की ओर जाते ऋषियों को परमेश्वराभिमुख करने के लिये विष्णु को पत्नी बना भगवान् ऋषियों के वासस्थान देवदारु वन में प्रविष्ट हुए और नाना विलासों से ऋषि-पत्नियों व

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
अन्य युवकों को मोहित करने में सफल हुए। ऋषियों को यह बहुत बुरा लगा व भगवान् को भगाने के लिये उन्होंने विभिन्न उपाय किये। व्याघ्र आदि दुष्ट जन्तु उनकी ओर भेजे। पर सब भगवान् के सम्मुख निस्तेज ही रहे। वेद को मृग बनाकर भेजा कि वही उनका प्रत्याख्यान करे किन्तु उसे शिव ने अपने बायें हाथ में पकड़ लिया यह बताने के लिये किं वेदप्रतिपाद्य शिव है यह तो जानकार के लिये इतना स्पष्ट है जैसे हाथ में पकड़ा मृग। शतरुद्रीय में 'श्लोक्याय' और 'अवसान्याय' कहकर मन्त्रों व उपनिषदों का तात्पर्य शिव में स्पष्ट कहा है। 'सर्वे वेदा' (कठ. २.१५) 'वेदैश्च सर्वैः' (गी. १५.१५) 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र.स. १.१.४) आदि श्रुति स्मृति व न्याय यही बताने में व्यापृत हैं। अतएव नीलकण्ठदीक्षित ने कहा है–

मन्त्रे वा क्वचिदर्थवादशकले दिष्ट्या गृहीते सकृत् स्वे नाम्नि त्रिदशा वहन्ति महतीं कीर्तिं यदीयोक्तिषु।
श्वानस्ते निगमा यदीयभवनद्वारे चरन्ति स्वतः स स्वामी मम दैवतं तदितरो नाम्नाऽपि नाम्नायते ॥ शिवोत्कर्ष. ८ ॥

यों अत्यन्त सुव्यक्त वेदोक्त परमशिव को वेद से ही प्रहत करना चाहता देखकर भगवान् को मुनियों की मूर्खता पर हँसी आ गयी–

दृष्ट्वा वधूजनमनुत्तमरूपसम्पत्सन्दर्शनोद्भवमनोभवभग्नवृत्तम्।
आषाढपाणिषु रुषा मुनिषु प्रहर्तुमभ्युद्यतेषु तव यद् भृशमुद्बभूव ॥
(तद्विलसहसितं नुतिभिर्भजामः) (स्तु. कु. २०.९)

आज भी केवल नासमझी से अनेक पण्डितंमन्य विज्ञापन करते पाये जाते हैं 'अद्वैतमतमवैदिकम्'। 'अद्वैतम्' (माण्डू. ७) 'अद्वितीयम्' (छां. ६.२.१) 'नेह नानास्ति किंचन' (बृ. ४.४.१९) 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (कठ. ४.१०.११) आदि सहस्रों श्रुतियाँ सुनते हुए वे ऐसा कहने की साहसिकता करते हैं यह देखकर शैवोत्तमों को हँसी ही आती है। 'पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञान....तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्' (गी. १८.२१), 'अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः' (गी. ७.२४) आदि स्पष्ट भागवत वचनों के रहते जो यह कह सके कि अद्वैत श्रौत नहीं, उस पर हँसी से अतिरिक्त क्या आयेगा ? वेदान्ताचार्यों के इस वचन को कि अशुद्ध तत्त्वम्पदार्थों का ऐक्यनिश्चय प्रमाण नहीं है, वे तथाकथित विद्वान् यों समझते हैं कि शुद्ध भी पदार्थों का अभेदनिश्चय भ्रम है ! इससे अधिक भ्रम क्या हो सकता है ? अतः 'न हि रुतमनुरौति ग्रामसिंहस्य सिंहः' न्याय से ऐसे व्यक्ति उपेक्षामात्र के पात्र हैं यह मृगपाणि का सदुपदेश है। 'मार्गणं मृगया मृगः' (अमर.) 'मृगः कुरंगे याच्ञायाम्' (हेम.) आदि कोषों से मृगशब्द याचनार्थक होने से नामगत मृगपद को याचना की मुद्रा में लाक्षणिक मान द्वितीय व्याख्या है। अन्नपूर्णा से शंभु भिक्षा लेते ही हैं। श्रीकालहस्तीश्वर में चित्रित भिक्षाटन मूर्ति दर्शनीय है। आदि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
यति होने से भिक्षुकत्व में सन्देह भी कहाँ ? वस्तुतस्तु भगवान् हमें सिखाने के लिये याचना की मुद्रा लिये हैं–'ऐसे माँगो' यह वे बता रहे हैं । माँगे बिना मिलेगा नहीं । श्रीकृष्ण भी 'परिप्रश्नेन' (गी. ४.३४) से इसे बताते हैं । उपनिषदें भी शिष्य द्वारा पूछना आवश्यक है यह प्रकट करती पायी जाती हैं । आचार्य ने तो जिज्ञासा को आवश्यक साधनों में गिन ही रखा है । अपनी अज्ञता व्यक्त करने की लज्जा हमें ज्ञान माँगने नहीं देती अतः माँगना लज्जा की बात नहीं यह प्रदर्शित करने के लिये जगदेकपति पूर्णकाम महादेव याचनामुद्रा लिये हैं ।

वृत्त का नाम रुक्मवती है–'रुक्मवती सा यत्र भमसगाः' । भगण, मगण, सगण व एक गुरुवर्ण हो तो रुक्मवती छन्द समझना चाहिये ।

(३४) जटाधरः –जटा धारण करने वाले । जटा तपस्वी अर्थात् वानप्रस्थ का चिह्न है, जैसे मुण्डन श्रौत परमहंसका एवं द्वियज्ञोपवीतादि गृहस्थ का । तपस्वियों के धारक एवं आदिगुरु होने से वे जटाधर हैं । सभी तपस्याओं के आदि स्रोत शिव ही हैं । देह, मन, बुद्धि आदि के क्रमशः उपवास, कृच्छ्रचान्द्रायणादि, ध्यान, प्रत्याहार, प्राणायामादि एवं वेदान्तश्रवणमननादि तप हैं । ये सभी शिवप्रोक्त हैं ।

कपर्दी नाम आ चुका है । वह साधनावस्था का सूचक था । यह सिद्धावस्था का सूचक है । जो साधनावस्था में यत्नसाध्य धर्म हैं वे सिद्धावस्था में स्वाभाविक होते हैं । इसी दृष्टि से **'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः ....ब्रह्मभूयाय कल्पते'** (गी. १८.५१-५३) इस गीताप्रसंग को समझना चाहिये । स्थितप्रज्ञप्रश्न के तो भाष्य में ही यह स्पष्ट है । परशुहस्त व जटाधर नामों के बीच मृगपाणि नाम रखकर मनोनियमन से उभय साधन सुव्यक्त किये हैं । इन दो से रक्षित ही मृगपाणित्त्व संभव है । ज्ञानियों के चित्त को भी महामाया मोहित करने वाली प्रसिद्ध है अतः मृगपाणिता सदा रक्षणीय है । यद्यपि ब्रह्मनिष्ठ के लिये एक मन का मोहित होना कोई भार नहीं जब वह अनन्त मनों के मोहित होने का खेल देख रहा है तथापि साधक को मार्गदर्शन कराने के लिये वह जटाधर होता है और हमें बताता रहता है कि मनोमृग को हाथ में रखने का यही एकमात्र द्व्यवयव उपाय है । मनोनाशादि में प्रवृत्ति चतुर्थ भूमिका वाला कर सकता है आदि विद्यारण्यवचनों का यही अभिप्राय है । उग्र से प्रारब्ध साधना का अवान्तरप्रकरण यहाँ समाप्त समझना चाहिये ।

भास्करीय व्याख्या तो यह है–

द्विविधतनुको दक्षध्वंसे बभूविथ यः पुरा
मृगमनुययावेकोऽन्यस्तु स्थितो मखमण्डपे ।
अखिलसरितः पारावारान् पवित्रतरान् धरान्
शिरसि कचतापन्नान् बिभ्रच्छ्रुतोऽसि जटाधरः ॥ ४० ॥

जो आप पूर्वकाल में दक्षनाश के अवसर पर दो प्रकार के शरीर वाले हुए और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एक शरीर से आपने मृगरूप यज्ञ का पीछा किया व दूसरे से यज्ञमण्डप में सबको शिक्षित (दण्डित) करने के लिये स्थित हुए, वे आप जटाधर नाम से सुने जाते हैं। किं च केशरूपता को प्राप्त सारी नदियों को, सब समुद्रों को और अत्यधिक पावन पर्वतों को आप सिर पर धारण करते हैं, इसलिये भी आप जटाधर नाम से सुने जाते हैं।

वामनपुराण के अनुसार दक्षप्रजापति के यज्ञविध्वंस के समय यज्ञपुरुष तो भय से मृग होकर भाग निकला और अन्यान्य देवता यज्ञस्थल पर रहे। भगवान् ने तब स्वयं दो रूप धारण किये–एक तो किरातवेष और दूसरा तापसों के उपयुक्त जटाधारी वेष। किरातवेष से तो यज्ञमृग के पीछे गये और दूसरे वेष से यज्ञस्थल पर देवों को शिक्षा (दण्ड) देने पहुँचे। इस कथा के आदिकिराते को शिवानन्दलहरी में (४३) याद किया गया है। इसी कथा के जटिलरूप का यहाँ पूर्वार्ध में वर्णन है।

वाराहपुराण का वचन है–

जटस्वरूपेण समस्तसागराः कुलाचलाः सिन्धुवहाश्च सर्वतः।
शशी परिज्ञानमिदं तव स्थितं न देव ! पश्यन्ति कुदृष्टयो जनाः॥

इसी को प्रकृत श्लोक के उत्तरार्द्ध में इकट्ठा किया है। अखिलसरितः से नद, नदियाँ और कुल्यायें समझनी चाहिये। पारावारान् से सातों समुद्र समझ लेने चाहिये। इनके नाम हैं–

लवणः क्षीरसंज्ञश्च घृतोदो दधिसंज्ञकः। सुरोदेक्षुरसोदौ च स्वादूदः सप्तमो भवेत्॥
(द्र. कूर्म. पूर्व. ४४.४)

इसी प्रकार पवित्रान् धरान् से पूर्वोक्त (श्लो. ३७ अन्तमें) महेन्द्र आदि कुलपर्वत जानने चाहिये। भगवान् के विराट् रूप में संसार का प्रत्येक परमाणु संवेष्टित हो जाता है। वायु पुराणानुसार–

द्यौ मूर्धानं यस्य विप्राः स्तुवन्ति खन्नाभिं वै चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे।
दिशः श्रोत्रे चरणौ चास्य भूमिः सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रसूतिः॥
वायुपु. पूर्व ९.११२॥

इसी तरह प्रकृत वर्णन का तात्पर्य जानना चाहिये।

हरिणी नामक छन्द का प्रयोग है जिसमें प्रतिचरण नगण, सगण, मगण, रगण, सगण लघु और गुरुवर्ण हों तथा छठे, दसवें व सत्रहवें अक्षर पर यति हो। इसका लक्षण यों है–'नसमरसला गः षड्वेदैर्हयै र्हरिणी मता'।

(३५) कैलासवासी–कैलासपर्वत पर रहने वाले। वेद में कैलास सहस्रारचक्र में स्थित उठे हुए भाग को कहा गया है। वही शिव का निवास है। यद्यपि वे सर्वव्यापक हैं तथापि वहीं उनकी स्पष्ट उपलब्धि होती है। पुराणों में तो सबसे ऊर्ध्व कैलास लोक की स्थिति बतायी है। भूगोलदृष्ट्या इतिहास में हिमालय के भागविशेष को कैलास माना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizaqtion by eGangotri
है। परम एकान्त और पवित्र देश होने से साधकों को वहाँ प्रायः शिव-पार्वती के दर्शन होते हैं। वहीं से गंगा, सिन्धु, ब्रह्मपुत्र आदि नद-नदियों का उद्गम है। वस्तुतः कैलास का अर्थ सफेदसम्बन्धी है। शुद्धान्तःकरण में शिव की प्राप्ति होने से वे कैलासवासी हैं।

लसनं लासो दीप्तिः, के जले लासो यस्येति केलासः स्फटिकमणिस्तद्वच्छुभ्रः कैलासः—यह एक व्युत्पत्ति है। इसमें सप्तमी का अलुक् (अष्टा. ६.३.९) व अनन्तर अण् प्रत्यय है (४.३.१२०)। तात्पर्य है जल में जिसकी दीप्ति स्फुट होती है उस स्फटिक मणि की तरह शुभ्र का नाम कैलास है। दूसरी व्युत्पत्ति है—केलीनां समूहः कैलम्; आस्यतेऽस्मिन्नित्यासः; कैलेन आसः कैलासः। इसमें केलिशब्द से अण् प्रत्यय (४.२.३६) और अस् धातु से घञ् प्रत्यय (३.३.१९) हुआ है। तात्पर्य है जहाँ केलिसमूहों सहित रहा जाये वह कैलास है। प्रथम व्युत्पत्ति में 'क' शब्द सुखार्थक भी हो सकता है। तब अण् स्वार्थिक समझना चाहिये। सर्वथापि कैलासे वस्तुं शीलमस्यासौ कैलासवासी यह नाम का अर्थ है। सदा सुखमग्न रहना ही कैलास में रहना है। सुख तो शिव ही है। जटाधारी का शील शिवैकनिष्ठा से अतिरिक्त कुछ नहीं।

सिद्धान्तसारोपनिषत् के अनुसार तो 'परमकैवल्यः स एव कैलासः' (प्रथमावरण वाक्य ६)। अतः मोक्षरूप ब्रह्म बने रहना ही शिव का कैलासवासित्त्व है। पंचकृत्त्यों की अवास्तविकता से ही नित्य कैलासवास सम्भव है। मान-सरोवर पर आधारित भूकैलास भी महावाक्यजनित धीवृत्ति के फलभूत तमोनाश से उपलक्षित ब्रह्मतत्त्व का ही प्रतीक है।

आलवाल इसका यह अर्थ बताता है—

हरेर्मूर्ध्नि मेरौ हिमे मन्दराद्रौ भवत्केलिभूमौ भवत्कर्मगम्याः।
तदूर्ध्वं परा ज्ञानलभ्यास्ति तासु स्थितत्त्वेन जातोऽसि कैलासवासी ॥ ४१ ॥

वैकुण्ठ से ऊपर, मेरुपर्वत पर, हिमाचल पर और मन्दराचल पर जो आपकी क्रीडाभूमियाँ आपकी सेवा करने से प्राप्त होती हैं उनमें से प्रत्येक क्रीडाभूमि में स्थित होने के कारण और उन सबसे परे जो ज्ञानप्राप्य क्रीडाभूमि है उसमें भी स्थित होने के कारण आप कैलासवासी हो गये हैं।

श्लोक का अन्वय यों समझना चाहिये—भवत्केलिभूमौ हरेर्मूर्ध्नि, मेरौ, हिमे, मन्दराद्रौ (च) स्थितत्त्वेन, (इमा या) भवत्कर्मगम्याः (केलिभूमिवाच्याः, या च) तदूर्ध्वं ज्ञानलभ्या परा (केलिभूमिः) तासु स्थितत्त्वेन (त्वं) कैलासवासी जातोऽसीति। कैलासशब्द पूर्वोक्त दूसरी व्युत्पत्ति से समझकर ही श्लोक प्रवृत्त हुआ है। जहाँ केलियाँ करते हुए रहा जाये वह कैलास है। भगवान् की केलिभूमियाँ तत्र तत्र प्रसिद्ध हैं। पुराणों का अनुसरण कर उन्हें यहाँ एकत्र कर दिया है। प्रथमतः केलिभूमियों के दो भेद हैं—एक वे जो भगवान् की कर्मात्मक सेवा से प्राप्त होती हैं व दूसरी वह जो भगवान् के ज्ञान से प्राप्त होती है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

। दूसरी तो एक भगवद्रूप ही है । पहली के चार प्रकार हैं जो सालोक्यादि नामों से प्रसिद्ध हैं । उन्हीं को ध्वनित करने के लिये चार जगहों का यहाँ नाम लिया है जहाँ पुराणों में भगवन्निवास प्रसिद्ध है ।

भगवद्धाम वैकुण्ठ से ऊपर है यह पुराणमत है । शिवधर्मोत्तरपुराण में (अध्य. ५)

ज्ञेयं विष्णुपुरादूर्ध्वं दिव्यं शिवपुरं महत्

कहा है । शिवपुराण की उमासंहिता में (अध्याय १९ श्लो. ३४-४०) भी यही प्रतिपादित किया है–

विधिलोकात्परोलोको वैकुण्ठ इति विश्रुतः ।....तस्योपरिष्टात् कौमारो लोको हि परमाद्भुतः ।
....ततः परमुमालोकः....तस्योपरिष्टाद्विज्ञेयः शिवलोकः....तत ऊर्ध्व न लोकाश्च.... ॥
अतएव रत्नत्रयपरीक्षा के अन्त में दीक्षितेन्द्र ने कहा है–

विद्वांसः शङ्करस्य श्रुतिमतिमहितोपासनावासनाभिः
लब्धस्वान्तप्रतिष्ठाः सुदृढमभिधया तं विलोक्यात्मनैव ।
गोलोकस्योर्ध्वभागादपि परमपदाद् वैष्णवादूर्ध्वदेशे
भास्वत्कोटिप्रभं यान्त्यपुनरपगमस्थानमानन्दरूपम् ॥ ८ ॥

इसी वैकुण्ठ से ऊँची स्थिति वाली क्रीडाभूमि को 'हरेमूर्ध्नि' बताया है जिसका अभिधार्थ तो 'विष्णु की मूर्धा पर' है किंतु लक्षणा से हरिशब्द वैकुण्ठपरक और मूर्धशब्द ऊर्ध्वपरक है ।

मेरु पर्वत पर भगवद्वास में कूर्मपुराण (पूर्व. ४५.५-९) प्रमाण है–

तत्र देवाधिदेवस्य शम्भोरमिततेजसः । दीप्तमायतनं शुभ्रं पुरस्ताद्ब्रह्मणः स्थितम् ॥
...देव्या सह महादेवः...रमते...परेश्वरः ॥...गृह्णाति पूजां शिरसा पार्वत्या परमेश्वरः ॥

मन्दराचल ने तपकर फलस्वरूप भगवान् की वासस्थलता पायी यह शिवपुराण में वर्णित है–महीधरवरः श्रीमान् मन्दरश्चित्रकन्दरः । दयितो देवदेवस्य निवासस्तपसोऽभवत् । तपो महत् कृतं तेन वोढुं स्वशिरसा शिवौ । चिरेण लब्धं तत्पादपङ्कजस्पर्शजं सुखम् ॥
(वायुसं. पू. २४.१-२)

हिमालय की शिवकेलिभूमिता तो सर्वप्रसिद्ध है । शिवपुराण के रुद्रखण्ड की पार्वती संहिता में (अध्य. ११) वर्णित है कि भगवान् हिमालय पर वास करने गये थे । तभी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हिमालय अपने को धन्य मानकर उनकी सेवा में उपस्थित होकर बोला—

मम भाग्योदयादत्र त्वमागत इह प्रभो । सनाथं कृतवान् मां त्वं वर्णितो दीनवत्सलः ॥
अद्य मे सफलं जन्म सफलं जीवनं मम । अद्य मे सफलं सर्वं यदत्र त्वं समागतः ॥
ज्ञात्वा मां दासमव्यग्रमाज्ञान्देहि महेश्वर । त्वत्सेवां च महाप्रीत्या कुर्यामहमनन्यधीः ॥
२१-२३ ॥

ज्ञानलभ्य शिवकेलिभूमि तो शिवरूप ही है । इसमें 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुंड. ३.२.९) आदि श्रुति प्रमाण है । जैसे ब्रह्म को ही ब्रह्मलोक कहा है (मुं. ३.२.६) वैसे शिव को ही शिवकेलिभूमि कहा है । यदि ब्रह्मलोक ब्रह्मरूप न हो तो याज्ञवल्क्य का यह कथन अनुपपन्न होगा कि ब्रह्मलोक कहाँ है, किसमें ओत प्रोत है यह पूछना गलत है ।

कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्च ? इति ! स होवाच—गार्गि !
माऽतिप्राक्षीः, मा ते मूर्धा व्यपप्तद्, अनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि । बृ. ३.६ ।

क्योंकि शिव किसी अन्य में प्रतिष्ठित न हो अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित हैं, या वस्तुतः उनके प्रतिष्ठित होने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता—'स्वे महिम्नि, यदि वा न महिम्नीति' (छां. ७.२४)—इसलिये ज्ञानलभ्या केलिभूमि को परा कहकर छोड़ दिया, मेरु आदि की तरह उसके अधिकरण का प्रसंग नहीं उठाया यह अनुसन्धेय है ।

भुजंगप्रयात छन्द है । 'भुजङ्गप्रयातं चतुर्भि र्यकारैः'—प्रतिपाद चार यगण हों तो भुजंगप्रयात छन्द होता है ।

(३६) कवची—वख्तर पहनने वाले । जिस प्रकार कवच सौन्दर्यवर्धक है उसी प्रकार नाम-रूप-कर्म से शिव की अनन्त शक्ति खिल उठती है एवं उनका सौन्दर्य प्रकट हो जाता है । अतः सोपाधिक ब्रह्म को ही कवची कहा जाता है ।

यह नाम भी श्रुतिसिद्ध है । नमकाध्याय में आया है 'कवचिने च नमो वर्मिणे च' । वर्म और कवच दोनों में विशेष अन्तर न होने से यहाँ एक ही नाम रख दिया है । कैलासवासी होने के लिये कवची को जानना आवश्यक है । कवच पर दृष्टि रखकर कैलासवासी हो नहीं सकते । शरीरद्वय ही कवच हैं । अथवा सूक्ष्मदेह वर्म और स्थूलदेह कवच है । अथवा नाम वर्म और रूप कवच है । प्रकृत में तो कवच से ही सबको समझना होगा । कवच का धारण करने वाला तो कभी यह तथ्य भूलता नहीं कि यह कवच नहीं है पर उसे देखने वाले कदाचित् भूल जाते हैं और क्योंकि प्रहार कवच पर ही करना है अतः कवच पर ही दृष्टि एकाग्र करना स्वाभाविक भी है । हम भी व्यवहारप्रधान रहेंगे तो कवच को ही देखते रह जायेंगे अतः कवचीदर्शन व्यवहार छोड़ने से ही सम्भव होता है ।

नामकल्पलतालवाल की व्याख्या है—

वर्माभावे परशरनयनैः स्पृश्यो दृश्यो भवति हि सकलः ।
स्वातन्त्र्येण द्वयमपि तिरयन् दुष्प्रापस्त्वात् प्रभवसि कवची ॥४२॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बख़्तर न होने पर सभी लोग अन्यों के बाणों से स्पृश्य व अन्यों के नेत्रों के दृश्य बनते हैं किन्तु आपका स्वरूप ही दुर्लभ होने से आप अन्य किसी सहायता के विना अन्यों के बाणों व नेत्रों को अपने से सम्बन्धित नहीं होने देते अतः कवची–कवचधारी–हो जाते हैं।

कवचधारण का प्रयोजन भगवत्स्वरूप से ही पूरा हो जाता है। अतः उनका स्वरूप ही कवच व उस स्वरूप वाले वे कवची हैं। स्व व स्वरूप में भेदोपचार प्रसिद्ध है। अविषयता ही प्रकृत स्वरूप है। बाण से क्रिया और नेत्र से ज्ञान जानने चाहिये। दोनों के विषय न बनने वाले परमशिव हैं। आत्मा के विषय में फलव्याप्ति न मानने से अथवा वृत्ति को ही विशेष मानकर निर्विशेष को वृत्ति का भी विषय न मानने से सभी मतों में ज्ञान की अविषयता जानी जा सकती है। पराधीनत्व न होना ही स्वातन्त्र्य होना है। अन्य कोई अर्थ करने में भेदोपचार आवश्यक होगा।

प्रयुक्त छन्द का नाम है भ्रमरविलसिता। 'मो गो नौ गो भ्रमरविलसिता'–प्रतिपाद मगण, तदुत्तर एक गुरु, तदनन्तर दो नगण व अन्त में एक गुरु वर्ण हों तो भ्रमरविलसिता छन्द होता है। इसे यों भी कह सकते हैं 'मो भो नो ल्गौ भ्रमरविलसिता'–मगण, भगण, नगण, लघु व गुरु वर्ण हों तो भ्रमरविलसिता छन्द होता है। इसमें चौथे और ग्यारहवें अक्षर पर यति होती है।

(३७) कठोरः– कठोरता वाले। समग्र ब्रह्माण्ड का भार भी शिव को किंचित् भी नहीं हिला सकता, अतः उनकी कठोरता स्पष्ट है। अथवा दुष्टों का दमन एवं महाप्रलय के समय का संहार भी उनकी कठोरता बताता है। अत्यन्त लावण्यमयी पार्वती ने जब शिव को जीतना चाहा तो वे कठोर बनकर एकान्त में चले गये। यह भी उनकी कठोरता का पुराणगत प्रमाण है। भक्त को ज्ञाननिष्ठा देकर अनन्त काल के लिये उसकी सभी उपाधियों को समाप्त करना भी तो कठोरता ही है।

कठ कृच्छ्रजीवने (भ्वा. प. से) धातु से औणादिक (१.६५) 'ओरः' प्रत्यय लग कर कठोरशब्द बनता है। कृच्छ्र तप को कहते ही हैं 'कृच्छ्रं सान्तपनादिकम्' (अमर.) अतः कर्मत्यागरूप तप करते हुए जीना ही कठोर होना है जो कवची को समझने का अनिवार्य साधन है। यद्यपि अकर्मण्यता सुख की अवस्था प्रतीत होती है पर 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' (गी. ३.५) न्याय से व अनुभव से यह निश्चित होता है कि कर्मत्याग वस्तुतः कठिनतम तप है। शरीरद्वय को अकर्मण्य बना पाना किसी विरले के ही बूते का काम है। स्थूलदेह को ही कर्म में प्रवृत्त न होने देना काफी मुश्किल है। अतः यही कठोरता अध्यात्म पथिक के लिये बतायी है। कठोर का क्रूरता वाला अर्थ तो उग्रनाम से कहा जा चुका है। अतः यहाँ दृढता का भाव व्यक्त किया जा रहा है। जबरदस्ती नहीं, अडिग निश्चय से कठोर होना विवक्षित है।

'कठोरः कठिनः क्रूरः' (हलायु.) आदि कोषसिद्ध क्रूर अर्थ को तथा शिष्टप्रयोगसिद्ध पूर्ण अर्थ को प्रकट करते हुए भास्करराय कहते हैं –

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

घोरैका ते तनुरन्या शिवेतिद्वे ते बिभ्रज्जगतां रक्षकोऽसि ।
दुष्टा जीवा दमनेनैव रक्ष्याः पूर्णत्वाद्वा कथितस्त्वं कठोरः ॥ ४३ ॥

आपकी एक मूर्ति घोर व दूसरी अघोर है, उन दोनों को धारण किये हुए आप जगत् के रक्षक हैं । दुष्ट जीव नियन्त्रण से ही रक्षणीय हैं । यों घोररूप होने से आप कठोर कहे गये हैं । अथवा परिपूर्ण होने से आप कठोर कहे गये हैं ।

भगवान् की ये दो मूर्तियाँ अनुशासनपर्व में (१६१.३-५) बतायी गयी हैं –

द्वे तनू तस्य देवस्य वेदज्ञा ब्राह्मणा विदुः । घोरामन्यां शिवामन्यां ते तनू बहुधा पुनः ॥
······ यास्य घोरतमा मूर्तिः जगत् संहरते तथा ।

श्रुति में भी 'अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यः' (महाना. १७.३), 'शिवा तनूरघोरा' (श्वे. ३.५) आदि से इन्हें बताया है । सज्जन तो समझाने से, औचित्य विचार से, सामाजिकता, लज्जा आदि से सन्मार्ग पर रखे जा सकते हैं अतः उनके लिये अघोर मूर्ति भी पर्याप्त हो सकती है पर दुष्टों को तो दण्ड से ही भयभीत रख रास्ते पर चलाया जा सकता है अतः घोर मूर्ति विशेषतः उनकी रक्षा के लिये है । सन्मार्ग पर चलाने से निरय से बचाना ही रक्षा है । किं च संसार के पदार्थों का नाश भी संसार की रक्षा के लिये आवश्यक है । उचित समय के बाद वस्तुएँ हानिकारक हो जाती हैं, तब उनको समाप्त करना रक्षक का कार्य है । जैसे बस्ती के आसपास घूमने वाले आदमखोर सिंह को मार देना ग्रामरक्षक का कर्तव्य है वैसे ही संसाररक्षा के लिये आवश्यक संहार करना रुद्र के घोर शरीर का काम है ।

टीकाकार वेङ्कटाचलपण्डित ने 'कठोरः कठिने पूर्णे' यह कोष प्रस्तुत किया है । शिशुपालवध महाकाव्यका यह प्रयोग भी दिखाया है 'कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः' (शिशु. १.२०) जहाँ कठोर शब्द पूर्णार्थक है कारण कि मल्लिनाथ ने 'कठोरताराधिपः पूर्णचन्द्रः' ऐसी व्याख्या की है । अतएव सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी टीका में भी 'कठोरः कठिनः पूर्णश्च' लिखा है । शिव की पूर्णता में तो 'पूर्णमदः' (बृ. ५.१) यह प्रसिद्ध श्रुति प्रमाण है । अनन्याधीन सत्ता-स्फूर्ति ही पूर्णता है । अथवा देश, काल व वस्तु कृत न्यूनता न होना पूर्णता है ।

वातोर्मि नाम के छन्द का प्रयोग किया है । 'वातोर्मीयं गदिता म्भौ तगौ गः' ।

क्रमशः मगण, भगण, तगण और दो गुरु वर्ण प्रतिचरण हों तो वातोर्मी छन्द कहा जाता है ।

(३८) त्रिपुरान्तकः –स्थूल, सूक्ष्म व कारण देह रूप तीनों पुरों का आत्यन्तिक नाश करने वाले । पुराणों में त्रिपुरासुर का दहन प्रसिद्ध है जिसमें शिव ने पृथ्वी को रथ, सूर्य व चन्द्र को पहिये, ब्रह्मा को सारथि, विष्णु को बाण, मेरु को धनुष, वासुकी को डोर आदि बनाकर उसके संहार का नाटक रचा था । समस्त संसार के देवता त्रिपुरदाहार्थ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ही हैं यही वहाँ भी सिद्ध किया है। विचारक तो व्यक्ति, समाज व देव ब्रह्माण्ड रूप प्रकृति या ईश्वर को ही त्रिपुर मानते हैं। इनमें अत्यन्त अभेद होना ही इनका नाश है।

त्रिपुरदाह शिवलीला का एक प्रमुख प्रसंग है। इसका वर्णन पुराणादि में नाना स्थलों पर आया है। कर्णपर्व में (३३-३४) बताया है कि तारकासुर के वध के अनन्तर उसके तीनों पुत्रों ने तपस्या के फलस्वरूप ब्रह्मा जी से इच्छानुसार चलने वाले व देवता आदि द्वारा अजेय नगर प्राप्त किये जो तभी नष्ट हो सकते थे जब वे तीनों इकट्ठे हों और एक ही बाण इतना सामर्थ्यशाली हो जो तीनों को बींध सके। स्वर्णपुर तारकाक्ष के, रजतपुर कमलाक्ष के और लोहपुर विद्युन्माली के अधिकार में था। वे तीनों विकट असुरों को शरण देते हुए समस्त सत्पुरुषों को कष्ट देने लगे। देवता जब उनके प्रतिकार में असफल रहे तो ब्रह्मा जी के निर्देश से महादेव जी के पास गये और उन्होंने उनसे तीनों नगरों का विनाश करने की प्रार्थना की। पहले भगवान् ने उन्हें कहा कि देवताओं को ही इकट्ठा होकर प्रयास करना चाहिये पर देवों ने बताया कि यह तो वे कर चुके थे। तब शिव ने कहा कि वे देवों को अपना आधा बल दे देंगे जिससे वे विजयी हों, किंतु देवता शिव के आधे बल को धारण करने में असमर्थ थे अतः सबने परमेश्वर से ही त्रिपुरसंहार करने का निवेदन किया। साथ ही सब देवताओं ने अपना आधा बल महादेव को अर्पित किया। महेश्वर ने सब स्वीकार कर कहा कि देवता उनके लिये रथ और धनुषबाण तैयार करें जिनसे वे रण-स्थल पर पहुँच राक्षस-विदारण करें।

रथ के अवयवों का बड़ा विस्तृत वर्णन उक्त स्थल पर तथा द्रोणपर्व में (२०२.७१-७९) किया है। आचार्य का संक्षेपाभिधान ही उसकी महत्ता समझ लेने के लिये पर्याप्त है –

> क्षोणी यस्य रथो रथाङ्गयुगलं चन्द्रार्कबिम्बद्वयं
> कोदण्डः कनकाचलो हरिरभूद्बाणो विधिः सारथिः।
> तूणीरो जलधि ईयाः श्रुतिचयो मौर्वी भुजङ्गाधिपः
> तस्मिन् मे हृदयं सुखेन रमतां साम्बे परब्रह्मणि ॥ दशश्लो. ३ ॥

देवताओं के अनुरोध से ब्रह्मा जी ने सारथि बनकर रथ चलाया। युद्ध का मानस जब भगवान् बनाने लगे तो सारे देवताओं से संघटित वह रथ शिथिल होने लगा अतः शरभाग से निकलकर विष्णु ने वृषभरूप धर कर उसे सहारा दिया –

> ततो नारायणस्तस्माच्छरभागाद्विनिःसृतः।
> वृषरूपं समास्थाय उज्जहार महारथम् ॥ कर्ण.३४.१०२ ॥

यों घोड़ों व वृषभ की पीठों पर खड़े हो महादेव ने दानवनगर देखा। पाशुपत अस्त्र का सन्धान कर तीनों पुरों के एकत्र होने का संकल्प किया और अन्त में विष्णु, वायु, अग्नि और यमात्मक उस एक वाण से त्रिपुरी का संहार किया बाण में विष्णु तो मुख्य भाग बने थे, अग्नि फल, वायु पंख और यम पूँछ बने थे –

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विष्णुं शरोत्तमं कृत्वा शल्यमग्निं तथैव च ।
वायुं कृत्वाथ वाजाभ्यां पुंखे वैवस्वतं यमम् ॥ द्रो. २०२-७७ ॥

इस महान् आडम्बर से त्रिपुरी के अन्तक महादेव हुए ।

यह सारा प्रसंग शिवपुराण में (युद्धखंड १-१२), मत्स्यपुराण में (१२९-१४०) सौरपुराण में (३४-३५), स्कन्दपुराण में (अवन्तिका व रेवा खण्ड) तथा अन्यत्र विस्तार से आया है । यह लीला भगवान् की इस दृष्टि को व्यक्त करती है कि किसी को हीनभावना न हो ऐसा काम करना चाहिये, अन्यथा इतने आयोजन का प्रयोजन क्या ? –

रथेन किं चेषुवरेण तस्य गणैश्च शम्भोस्त्रिपुरं दिधक्षतः ।
पुरत्रयं दग्धुमलुप्तशक्तेः किमेतदित्याहुरजेन्द्रमुख्याः ॥
मन्ये च नूनं भगवान् पिनाकी लीलार्थमेतत् सकलं प्रहर्तुम् ।
व्यवस्थितश्चेति तथाऽन्यथा चेदाडम्बरेणास्य फलं किमेतत् ॥ सौरपु. ३५.३१-३२ ॥

त्रिपुरान्तक शब्द यों बनता है – त्रयाणां पुराणां समाहारस्त्रिपुरं; अन्तयतीति अन्तकः; त्रिपुरस्य अन्तकः त्रिपुरान्तकः । यहाँ लिंग लोकाश्रित होने से 'त्रिपुरी' की जगह 'त्रिपुरम्' बना है । अथवा पात्रादिगण में मानने से व्यवस्था जाननी चाहिये । अति बन्धने (भ्वा. प. से.) धातु से 'तत्करोतीत्युपसंख्यानम्' इस वार्तिक से (सू. ३.१.२६ पर सूत्रयति आदि शब्दों के लिये यह वार्तिक है) णिच् प्रत्यय कर फिर अन्तयतीति अर्थ में ण्वुल् प्रत्यय (३.१.१३३) कर अन्तक शब्द बनता है । शिव नामों में यह शब्द अमर आदि कोषों में प्रसिद्ध है । 'यस्मिन् लयं याति पुरत्रयं च' (कै. १५) आदि श्रुतियाँ भी इसका मूल समझी जा सकती हैं ।

कवची का कवच त्रिपुर ही है । कठोरतापूर्वक कवची में संस्थिति का सीधा फल है कवची त्रिपुरान्तक बन जाते हैं । देहत्रय या नाम-रूप-कर्म को त्रिपुर समझना चाहिये । अगर तो स्त्री पुरं यस्यासौ त्रिपुरास्त्रिपुरश्चासावन्तकश्च त्रिपुरान्तकः – व्युत्पत्ति रुचिकर हो तब स्त्री अर्थात् माया ही पुर अर्थात् उपलब्धिस्थान है जिसका वह परमेश्वर ही त्रिपुर है और वही अन्तक भी है यह अर्थ होगा । 'अकल्पितस्य कल्पकत्त्वाऽयोगात्' इस मधुसूदनोक्ति से त्रिपुर परमात्मा ही सर्वान्तक है, स्त्रीरहित नहीं यह स्पष्ट है । माया के कार्यविशेष चरमवृत्तिरूप स्त्री में आरूढ उत्तम पुरुष ही अन्तक है यह तो सम्प्रदाय है ही । कथा के अवयवों की आध्यात्मिक प्रतीकात्मकता पर आचार्यों ने अन्यत्र प्रकाश डाला है ।

भास्करराय की व्याख्या है –

स्थूलं लिङ्गं करणमिति यत् त्रयं वपुषां नृणां
भक्तानां चेत्तदखिलमपि त्वमन्तयसि क्षणात् ।
यद्वा नाथ ! त्रिपुरदहनादलौकिकचर्यया
श्रीशैलेऽस्ति प्रथिततनुमानिति त्रिपुरान्तकः ॥ ४४ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हे नाथ ! स्थूल, सूक्ष्म और कारण जो तीन शरीर होते हैं वे आपसे पराङ्मुख पामरों के ही होते हैं क्योंकि यदि वे भक्तों के होते हैं तो आप तत्काल ही उन्हें समाप्त कर देते हैं। अतः आप त्रिपुरान्तक हैं। अथवा अलौकिक लीला से त्रिपुर का दाह करने वाले होने से आप त्रिपुरान्तक हैं। या फिर श्रीशैल में इस नाम से प्रसिद्ध मूर्ति वाले होने से आप त्रिपुरान्तक हैं।

अन्नमय प्रत्यक्ष दृश्यमान शरीर स्थूल, प्राण-इन्द्रियात्मक शरीर सूक्ष्म और उक्त शरीरद्वय का कारण अज्ञान कारण शरीर हैं। यद्यपि जीवमात्र के ये शरीर हैं तथापि शिवभक्त बनते ही शिव इन्हें भस्मसात् कर देते हैं अतः कहा कि अभक्तों के ही ये शरीर रहते हैं। भक्तों के तो क्षणभर में ही नष्ट हो जाते हैं। यहाँ यद्वपुषां त्रयं तन्नृणामेव, न तु भक्तानां, भक्तानां चेतत्त्वन्तदन्तयसि – ऐसा साध्याहार अन्वय समझ लेना चाहिये। देहत्रय की समाप्ति का अर्थ उनका बाध या उनमें अहन्त्वममत्व की आत्यन्तिक निवृत्ति है। अथवा अभक्तों की शरीरशृंखला चलती रहती है जबकि भक्तों का शरीर अन्तिम होता है, शिवभक्त को पुनः शरीर नहीं लेना पड़ता यह भाव है। त्रिपुरनाश की अलौकिक लीला बतायी ही जा चुकी है। लोक में लीला निष्प्रयोजन होती है। अतः लीला की अलौकिकता उसकी त्रिपुरनाशरूप प्रयोजनवत्ता है। आन्ध्रप्रदेश में कृष्णा नदी के तट पर श्रीशैलम् नाम पर्वतमस्तक पर महादेव का पावन मनोरम स्थान है जो मल्लिकार्जुन नामक ज्योतिर्लिंग है जिसका कोटिरुद्रसंहिता के पन्द्रहवें अध्याय में उल्लेख है। यद्यपि श्री शैलस्थ लिंग मल्लिकार्जुन नाम से ही प्रसिद्ध है तथापि जहाँ अड़सठ शिवक्षेत्र गिने हैं वहाँ 'श्री शैले त्रिपुरान्तकम्' कहा गया है अतः यहाँ ऐसी उक्ति है।

वृत्त भाराक्रान्ता है। 'भाराक्रान्ता मभनरसला गुरुः श्रुतिषड्हयैः' – प्रतिपाद क्रमशः मगण, भगण, नगण, रगण, सगण, लघु व गुरुवर्ण हों तथा चौथे, दसवें और सत्रहवें अक्षर पर यति हो तो भाराक्रान्ता छन्द होता है।

(३९) वृषाङ्कः –अपनी ध्वजा पर साँड को चिह्न रखने वाले। सभी सुखों का वर्षण करने वाले धर्मवृष को देखकर ही शिवस्थिति का निश्चय होने से वे वृषाङ्क हैं।

'वृषो हि भगवान् धर्मः' (मनु. ८.१६) इस स्मृति तथा 'सुकृते वृषभे वृषः' (अमर.) 'वृषो धर्मे बलीवर्दे' (मेदिनी) आदि कोष के आधार पर वृषांकनाम में वृषशब्द धर्मार्थक है। त्रिपुरान्तकता सिद्ध हो जाने पर स्वाभाविक धार्मिकता रह जाती है। त्रिपुर में रागादि से ही अधर्म होता है, त्रिपुर और उसमें अहन्त्वममत्त्व न होने से अधर्म होना असंभव है। जटाधर से अन्तरंगसाधनों की स्थिति बतायी थी। जो उसके भी अनधिकारी किन्तु मुमुक्षु हैं उनके लिये बहिरंगसाधनों का प्रबोधन कराना वृषांक से कहा जा रहा है।

आलवाल की व्याख्या है –

त्वं गवामनयतः कुपितोऽपि प्रार्थितोऽसि सुकृतेन वृषेण।
तेन तद्ध्वजरथो वृषशैले विश्रुतोऽस्यभिधयाऽपि वृषाङ्कः ॥ ४५ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

– हे भगवन् ! गायों के अनीतिपूर्ण व्यवहार से कुपित हुए भी आप धर्मरूप वृष द्वारा प्रार्थित हुए थे अतः आप उससे चिह्नित ध्वजा वाले रथ पर चलते हैं और वृषशैलक्षेत्र में इस नाम से प्रसिद्ध हैं इसलिये वृषांक हैं ।

एकदा भगवती द्वारा यह पूछे जाने पर कि भगवान् का वाहन वृषभ क्यों है, भगवान् ने स्वयं इतिहास बताया कि एक बार हिमालय पर भगवान् तप कर रहे थे । गायों ने दर्पयुक्त हो तपस्थली को बार-बार गन्दा किया । उनके इस दुष्ट आचरण से भगवान् को क्रोध आ गया । तब वृष ने उन्हें प्रार्थनापूर्वक शान्त किया । इस नीतिपूर्ण व शान्तिपूर्ण प्रवृत्ति से प्रसन्न हो तब से उन्होंने उसे अपना वाहन और ध्वजचिह्न बना लिया । अनुशासनपर्व में (१४१.९-१२) कुछ अन्यथा आख्यान है । देवी के वाहनविषयक उक्त प्रश्न का महेश्वर ने यह उत्तर दिया –ब्रह्मा द्वारा उत्पादित सुरभि नामक गाय के बछड़े के मुख से निकला फेन एक बार भगवान् के शरीर पर पड़ा जिससे उन्हें क्रोध आ गया । ब्रह्मा ने उसे शान्त किया व ध्वजचिह्न तथा वाहनरूप से उन्हें वृषभ दिया –

"तस्या वत्समुखोत्सृष्टः फेनो मद्गात्रमागतः । ततो दग्धा मया गावो नानावर्णत्वमागताः ॥
ततोऽहं लोकगुरुणा शमं नीतोऽर्थवेदिना । वृषं चैनं ध्वजार्थं मे ददौ वाहनमेव च ॥

वृषशैल किसी शिवक्षेत्रविशेष का नाम है । 'वृषशैलेऽभिधया विश्रुतः' और 'वृषशैले विश्रुतः अभिधयापि' दोनों अन्वय हैं । द्वितीय अन्वय में वृषांक नाम में एक और हेतु दिया जा रहा है कि वृषांकशब्द में शिववाचकता है । अतएव 'भीमो भर्गः कृत्तिवासा वृषाङ्कः' (हलायुध) आदि कोष हैं ।

स्वागतानामक छंद है । ' स्वागता रनभगैर्गुरुणा च' – रगण, नगण, भगण और दो गुरुवर्ण प्रतिचरण हों तो स्वागता छंद होता है ।

(४०) वृषभारूढः – धर्मवृष पर ही शिव चढ़ते हैं अतः वे वृषभारूढ हैं । यहाँ विवेक, वैराग्य, शमादि एवं मुमुक्षा रूप चार पैरों वाला निर्मल अन्तःकरण ही ज्ञानरूप शिव को धारण करता है यह द्योत्य है ।

ऋषी गतौ (तु. प. स.) धातु से औणादिक (३.१२३) अभच् प्रत्यय लगकर ऋषतीति ऋषभः और वृषु सेचने (भ्वा. प. से) से वर्षतीति वृषभः शब्द बनते हैं, जो दोनों हैं साँडवाचक । नाम में 'द्वितीया' (२.१.२४) इस योगविभाग के बल से वृषभमारूढः यह विग्रह है । वृषभ का एक अर्थ श्रेष्ठ भी है । अतः भगवान् श्रेष्ठ वाहन पर चढ़ते हैं यह अर्थ है । नन्दी साँड पर चढ़ने से तो वृषभारूढ हैं ही । जो धर्म न करते हुए केवल धर्म का प्रख्यापन मात्र करता है उसे धर्मध्वजी कहते हैं । वृषांक से कदाचित् यह भ्रम न हो जाये इसलिये वृषभारूढ नाम तुरन्त आया है । भगवान् ख्यापित भी धर्म को करते हैं व आचरण भी धर्म का करते हैं । यद्यपि प्रायः धर्म का प्रदर्शन निषिद्ध है तथापि लोकसंग्रही के लिये धर्मप्रदर्शन आवश्यक है क्योंकि प्रदर्शित धर्म ही लोगों को प्रेरणा दे सकता है, गुप्त नहीं, इसलिये तो वृषांक होना ज़रूरी है । किन्तु केवल प्रदर्शन ही होगा तो भी दर्शकों को हृदयंगम नहीं होगा अतः वृषभारूढ होना भी ज़रूरी है । शिव को वृषभ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाहन रूप से क्यों अपनाना पड़ा यह पूर्वनाम के अर्थवर्णन में आ चुका है। इस पर शंका हो सकती है कि क्या उसके पूर्व उनका कोई वाहन नहीं था ? इसका यह उत्तर समझ लेना चाहिये कि पूर्व-पूर्व कल्पीय एतादृश लीलाओं के अनुसार वृषभवाहनत्वादि पूर्वसिद्ध होते हुए भी तत्तत् कल्प की दृष्टि से उस प्रकार वर्णित है। नन्दिगायत्री तो महानारायण उपनिषत् में ही आ जाती है।

आलवाल का व्याख्यान है –

नन्यारोहात् त्रैपुरदाहे हरिणा पृष्ठे वेदाश्वानां गोवृषरूपैः समुपात्तत्त्वात्।
धर्मज्ञानैश्वर्यविरागेषु निरूढत्वाद् विख्यातोऽसि त्वं सुरवृन्दे वृषभारूढः ॥४६॥

क्योंकि आप नन्दी पर चढ़ते हैं इसलिये देवसमूह में आप वृषभारूढ नाम से प्रसिद्ध हैं। किं च त्रिपुरदाह के अवसर पर विष्णु ने वेदरूप अश्वों का वृषभरूप से धारण किया था जिससे तब भी आप परम्परया वृषभरूप विष्णु पर आरूढ हुए थे अतः भी वृषभारूढ हैं। और भी, आप सदा धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य और वैराग्य पर दृढ रहते हैं इसलिये भी देवगणों में प्रसिद्ध हैं कि आप वृषभारूढ हैं।

त्रिपुरलीलाप्रसंग पूर्व में (श्लो. ४४) आ चुका है। उसी के आधार पर द्वितीय अर्थ है। गोवृषशब्द मनुस्मृति (९.१५०) आदि में आया है जहाँ कुलूक भट्ट आदि ने उसका अर्थ 'गवां सेक्तावृषः' ही किया है, अतः यहाँ भी वृषार्थक ही गोवृषशब्द है। सहारा देने के लिये नाना भंगिमायें बनी थी ऐसा समझकर या आदर अर्थ में बहूक्ति है। नीलकण्ठदीक्षित ने तो यों वर्णन किया है –

जेतुं त्रीणि पुराणि येन सहसाऽऽरूढे धरित्रीरथे
वेदाश्वेषु च भग्नजानुषु वृषो भूत्वा प्रयास्यन् हरः।
वोढुं तेन रथं शशाक विधृतं शेषात्मनाऽपि स्वयम्
स स्वामी मम दैवतं तदितरो नाम्नाऽपि नाऽऽम्नायते ॥ शिवोत्कर्ष.-३७ ॥

व्यास जी तो वृषशब्द भगवान् से कई तरह जुड़ा पाते हैं (द्रोणपर्व. २०२-३९-४०)–

कपर्दिनं वृषावर्तं वृषनाभं वृषध्वजम्। वृषदर्पं वृषपतिं वृषशृंगं वृषर्षभम् ॥
वृषांकं वृषभोदारं वृषभं वृषभेक्षणम्। वृषायुधं वृषशरं वृषभूतं वृषेश्वरम् ॥

भास्करराय के तृतीय अर्थ में 'वृष + भा + आरूढः ऐसा विग्रह है। वृषशब्द शक्त्या धर्मपरक और धर्मसाध्य ऐश्वर्य में लाक्षणिक है। भाशब्द ज्ञानपरक और ज्ञानसम्बद्ध होने से वैराग्य में लाक्षणिक है। इन चारों में शिव आरूढ अर्थात् एकनिष्ठ हैं। यश और श्री तो ऐश्वर्य ही है।

गोवृष नामक छन्द है। 'वेदै र्दिग्भिः मस्तयसा गोवृष उक्तो गौ' – प्रतिपाद मगण,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तगण, यगण, सगण और दो गुरुवर्ण तथा चौथे व चौदहवें अक्षर पर यति हो तो गोवृष छंद होता है ।

(४१) भस्मोद्धूलितविग्रह :– भस्म को सारे शरीर पर लगाये हुए । संसार को समाप्त करने से अवशिष्ट जो भस्म वही उनके विग्रह पर रहता है । अथवा सारे प्रपंच का बाध करने वाली वृत्ति से अविद्या के जल जाने पर भी जो बाधितानुवृत्तिरूप अविद्यागन्ध है वही उनका आवरक होने से 'विमुक्तश्च विमुच्यते'(कठ. ५.१)इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार उनके शरीर पर लगा है । पुराण की दृष्टि से तो सती ने जिस अग्नि में शरीर जलाया था उसकी भस्म को उन्होंने शरीर पर धारण किया था अतः भस्मोद्धूलितविग्रह हैं । वैसे तो मानवदेह की चिता का भस्म व्यर्थ माना जाता है, उसे अपने शृंगार में काम में लेकर उसका गौरव बढ़ाकर अपना वैराग्य और दयालुता प्रकट करते हैं ।

भगवदाभरणभूत भस्म का स्वरूप बताते हुए बोधसार में नरहरियोगी कहते हैं –

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते किल । तेनैव भस्मना गात्रमुद्धूलयति धूर्जटिः ॥
भासते भिन्नभावानामपि भेदो न भस्मनि । स्वस्वभावस्वभावेन भस्म भर्गस्य वल्लभम् ॥
(शिवपूजाशतकम् श्लो. ३०-३१)

जले हुए कर्म शिवालंकार हैं जो दग्ध बीजों की तरह दीखने मात्र के लिये हैं । किं च भस्मीभूत हो जाने पर वस्तुओं के अन्तर मिट जाते हैं । अधिष्ठान से अभिन्न ज्ञात हो जाने पर अध्यस्तों के भेद भी समाप्त हो जाते हैं । अतः अपनी विशेषता के समान विशेषता वाली भस्म भगवान् को क्यों प्रिय न हो ? वृषभारूढ अर्थात् धर्माचरण करते हुए भस्मोद्धूलितविग्रह वाला बने रहना आवश्यक है । ध्वजा तो दूर से देखने वालों के लिये होती है । विग्रहदर्शन तो नैकटिकों को ही होता है । अनधिकारी को सिद्धचर्या से धर्मानुष्ठान की प्रेरणा मिलनी चाहिये किन्तु अधिकारी को यह स्पष्ट भान भी होना चाहिये कि वह बहिरंगसाधन है, अन्तरंग तो विरक्ति आदि हैं ।

शिव के भस्मधारण का उद्देश्य यह सूचित करना भी है कि हमें अवश्य भस्मधारण करना चाहिये । श्रुति, स्मृति व पुराण सहित शिष्टाचार भस्मधारण की कर्तव्यता के विषय में ऐकमत्य वाला है । मुण्डकोक्त शिरोव्रत भस्मावलेपरूप है इसमें स्कन्दपुराण की सौरसंहिता प्रमाण है । सूतसंहिता के यज्ञवैभवखण्ड में (अ. ३०) विस्तार से इसका माहात्म्य व विधान बताया है । शिवपुराण की विद्येश्वरसंहिता में (अ. २४) भी भस्ममाहात्म्य वर्णन है । शिवगीता में स्वयं महादेव ने इसकी कर्तव्यता का विधान किया है । बोधायनगृह्य सूत्र में 'भूत्यै न प्रमदितव्यम्' (तै. १.११.१) विधि को आधार मानकर भस्मधारण का प्रकार प्रोक्त है । शिष्ट सभी संप्रदायों में सन्ध्यादि नित्यकर्म के अंगरूप से वैधतया भस्म धारण ही कर सकते हैं । इस महत्त्वपूर्ण धर्म को लोकप्रतिष्ठित करने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के लिये ही भगवान् भी भस्मधारण करते हैं –

किमर्थमकरोद् ब्रूहि साधकस्योदितं मुने ? तस्मात् सुदुर्लभं नृणामिति ज्ञात्वा महेश्वरः ॥ त्रिपुण्ड्रधारणं भस्मगुण्ठनं चाकरोत् सदा । ·····स्वलाभमन्तरेणाऽपि पराचारार्थमास्तिक । निष्पन्नेनापि कर्तव्यं यथा सर्वेश्वरेण तु ॥ (पराशरोपपुराण अ. १४) ॥

कामदेव के जलने पर हुई भस्म महादेव ने रमाई थी इसमें कालिकापुराण (अ. ४१) प्रमाण है –

महादेवोऽथ तद्भस्म मनोभवशरीरजम् । आदाय सर्वगात्रेषु भूतिलेपं तदाऽकरोत् ॥

श्मशानभस्म शिव का अंगराग है इसमें 'चिताभस्मालेपः' (देव्यप. ८) 'चितारजःपुञ्जविचर्चिताय' (अर्धनारीश्वरस्तो. २), 'तदङ्गसंसर्गमवाप्य कल्पते ध्रुवं चिताभस्मरजो विशुद्धये' (कुमार.५.७९) आदि वचन प्रमाण हैं । भस भर्त्सनदीप्त्योः (जु.प.से.) धातु से औणादिक मनिन् प्रत्यय (४.१४७) होकर बभस्तीति भस्म इस प्रकार भासन अर्थ वाला भस्म शब्द बनता है । इसे दृष्टि में रख स्पन्दवार्तिक में (८.६५) जयमङ्गलस्वामी ने कहा है –

नामरूपजगद्बाधे दग्धे ज्ञानमहाग्निना । शिष्यते भासनाद्भस्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥

इस प्रकार धार्मिक व दार्शनिक माहात्म्य वाला भस्मोद्धूलन शिव द्वारा प्रकाशित किया गया है ।

अतएव भास्करीय विवृति है –

स्वाङ्गे भस्म विलिम्पन् नाथ ! ज्ञानां शिरोव्रतमुपदिशसि ।
भूतेशाभिधतीर्थेऽपि त्वं भस्मोद्धूलितविग्रहनामा ॥ ४७ ॥

हे नाथ ! अपने शरीर पर भस्म रमाकर आप शिवतत्त्व की जानकारी चाहने वालों के लिये आवश्यक शिरोव्रत की कर्तव्यता बताते हैं और भूतेश नामक तीर्थ में आप इस नाम से प्रतिष्ठित हैं अतः भस्मोद्धुलितविग्रह नाम वाले हैं ।

स्कन्दपुराण की सौरसंहिता का वचन है –

अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैः षड्भिः शुद्धेन भस्मना । सर्वाङ्गोद्धूलनं कुर्यात् शिरोव्रतसमाह्वयम् ॥

सूतसंहिता के यज्ञवैभवखण्ड में भस्मधारण की अनिवार्यता बतायी है –

उद्धूलनं त्रिपुण्ड्रं च मायापाशनिवृत्तये । आमनन्ति मुनिश्रेष्ठा अथर्वशिरसि स्थिताः ॥

उद्धूलनं त्रिपुण्ड्रं च ज्ञानाङ्गत्वेन केवलम् । आमनन्ति मुनिश्रेष्ठाः साक्षात् कैवल्यशाखिनः ॥ ३०.२७,३० ॥

मुण्डकोपनिषत् की श्रुति है 'तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्' (३.२.१०) ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संभवतः अर्थववेदीय इस वचन को दृष्टि में रख सूतसंहिता के शिवमाहात्म्यखण्ड में कहा होगा –

समुद्धूल्य मुनिश्रेष्ठा आपादतलमस्तकम् । सितेन भस्मना तेन ब्रह्मभूतेन भावनात् ॥
ललाटे हृदये कुक्षौ दोर्द्वंद्वे च सुरोत्तमाः । त्रिपुण्ड्रधारणं कृत्त्वा ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् ॥
एवं कृत्त्वा व्रतं देवा अथर्वशिरसि स्थितम् । शान्ता दान्ता विरक्ताश्च त्यकृत्वा कर्माणि सुव्रताः ॥ (२.१७-१९) ॥

अतः भास्करराय भी शिरोव्रत से भस्मोद्धूलन समझते हैं । 'ज्ञानाम्' भविष्यदृष्ट्या कहा है, 'विविदिषूणाम्' अर्थ है । भूतेश किसी तीर्थविशेष का नाम है ।

पादाकुलक छन्द है । इसमें केवल इतना नियम है कि प्रतिपाद सोलह मात्रायें हों ।

(४२) **सामप्रिय** :– सामवेद के प्रिय । गानात्मक सामवेद में रुद्र की ही स्तुति प्रधान है । अतः मानो वे सामवेद के आराध्य हैं । अथवा सामवेद सुनकर वे अत्यधिक प्रसन्न होते हैं अतः सामप्रिय हैं । सामं का अर्थ शान्ति भी है । अतः सदा शान्तिप्रिय होने से शिव सामप्रिय हैं । अशान्ति से प्रेम न होने के कारण ही कैलास जैसे एकान्त स्थान में बसते हैं ।

कौटिल्य के अनुसार दुर्बल को स्वपक्ष के अनुकूल करने के लिये साम का प्रयोग होना चाहिये – 'सामदानाभ्यां दुर्बलानुपनमयेत्' (अर्थशा. अध्य. १६ प्र. १२१) । साम का स्वरूप भी वे बताते हैं – 'ग्रामारण्योपजीविव्रजवणिक्पथानुपालनम् उज्झितापसृतापकारिणां चार्पणमिति सान्त्वमाचरेत् ।' और दान का स्वरूप है – भूमिद्रव्यकन्यादानम् अभयस्य चेति दानमाचरेत्' (वहीं) । प्रकृत में भी साम दान का उपलक्षक है । एवं च भक्त को स्वाभिमुख करने के लिये शिव इन उपायों का ही विशेष उपयोग करना चाहते हैं, दण्ड आदि का नहीं, अतः सामप्रिय हैं ।

मत्स्यपुराण के (अध्य. २२२) अनुसार तो साधुपुरुष को अनुकूल करने में साम का विनियोग है –

महाकुलीना ऋजवो धर्मनित्या जितेन्द्रियाः । सामसाध्या न चातथ्यं तेषु साम प्रयोजयेत् ॥
तथ्यं साम च कर्तव्यं कुलशीलादिवर्णनम् । तथा तदुपचाराणां कृतानां चैव वर्णनम् ॥
अनयैव तथा युक्त्या कृतज्ञाख्यापनं स्वकम् । एवं साम्ना च कर्तव्या वशगा धर्मतत्पराः ॥
(श्लो ५-७)

क्योंकि शिव की ऋजुता निःसीम है अतः शिव को अपने अनुकूल करने के लिये हमें सामनामक उपाय का ही सहारा लेना चाहिये, यही उन्हें प्रिय है, यह भी उक्त नाम का अर्थ है ।

विद्वान् ब्रह्मवेत्ता की मस्त अवस्था का वर्णन करते हुए तैत्तिरीयोपनिषत् कहती है 'एतत् साम गायन्नास्ते' (३.१०) । वृषभारूढता की व्यस्तता और भस्मोद्धूलन की रूक्षता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से यदि साधक को सिद्ध की कृतकृत्यता व तत्प्रयुक्त मस्ती का पता न चला तो संभवतः वह साधना से विमुख हो जायेगा । ब्रह्मनिष्ठ में स्पष्ट आनन्द अभिलक्षित होना चाहिये यह सामप्रिय नाम का सन्देश है । अतएव विवेकचूडामणि (श्लो. ४८९ आदि), पंचदशी (प्र. ७ व १४) आदि में मुक्त की धन्यता का असकृत् विज्ञापन है ।

दुःख-नाशक को साम कहते हैं दुःखं स्यति छिनत्तीति साम (उण.४.१५४) । चरमवृत्ति ही समूल दुःखनाशिका होने से साम है, वही शिव को प्रिय है ।

आलवाल में इसे यों समझाया है –

चन्दनस्पर्शशीतामृतस्यन्दिनी सान्त्ववाक् सामवेदोऽथ सामानि वा ।
तैः प्रयुक्तैरतीवेश ! सम्प्रीयसे गीयसे तेन लोकेषु सामप्रियः ॥ ४८ ॥

हे ईश ! चन्दन के स्पर्श सी चित्तसुखदायिनी, अमृत बहाती मधुर वाणी का प्रयोग किये जाने पर, या सामवेद गाये जाने पर, या गीत गाये जाने पर आप अत्यन्त प्रसन्न होते हैं अतः लोक में सामप्रिय नाम से जाने जाते हैं ।

मेदिनी सामशब्द के दो अर्थ बताता है 'साम क्लीबमुपायस्य भेदे वेदान्तरेऽपि च' । हलायुध में भी कहा है 'साम सान्त्वमिति स्मृतम्' । धातु भी साम सान्त्वप्रयोगे (चु. उ.सं.) है । इसी अर्थ से प्रथम विकल्प है । उद्गातृवेद की संज्ञा भी साम है । इसका गान शिव को अच्छा लगता है । वेदसारनामक शिवसहस्रनाम में (श्लो. ६२) 'सामगानप्रियाय च' ऐसा कहा भी हैं । सामवेद भगवद्विभूति तो है ही (भगवद्गी. १०.२२) अतः उन्हें प्रिय होना स्वाभाविक है । प्रमुख उपदेश वाक्य तत्त्वमसि अपने पूरे प्रसंग में अतिस्पष्टरूप से सामवेद में ही मिलता है इसलिये भी भगवान् को यह वेद प्रिय है । 'गीतिषु सामाख्या' (पू. मी. २.१.३६) इस अध्वरमीमांसोक्त लक्षण से तो सभी गीत साम हैं । शिव संगीत के आद्याचार्य हैं ही अतः वे गीतप्रिय होने से सामप्रिय हैं । अतएव याज्ञवल्क्य स्मृति में (प्रायश्चि. यतिधर्म. १०५-१०६) कहा है कि संगीत के निर्दुष्ट अभ्यास का फल योगमार्ग की प्राप्ति और न्यूनता रह जाने पर रुद्रलोक की प्राप्ति है –

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः । तालज्ञश्चाऽप्रयासेन योगमार्गं निगच्छति ॥
गीतिज्ञो यदि योगेन नाप्नोति परमं पदम् । रुद्रस्यानुचरो भूत्त्वा तेनैव सह मोदते ॥

जगद्धर भट्ट ने भी बताया है कि भैरवादि रागों से भगवान् को सन्तुष्ट करने वालों की क्या महत्ता है –

ते विश्वमेव चरितैरभिभूषयन्ति क्रुद्धान् विरुद्धहृदयाँश्च न दूषयन्ति ।
नात्युद्भटान् यमभटानपि रोषयन्ति रागेण ये शिव ! मनस्तव तोषयन्ति ॥ स्तु.कु.३६.२७ ॥

छन्द का नाम स्रग्विणी है । 'कीर्तितैषा चतूरेफिका स्रग्विणी' – प्रतिपाद चार रगण हों तो स्रग्विणी छन्द होता है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(४३) स्वरमयः –शिव सातों स्वरों में निवास करते हैं अतः स्वरमय हैं । अथवा स्वररूप अधिष्ठान पर ही व्यंजन आरूढ होते हैं अतः जिस शिव पर नाम-रूप-कर्म आरूढ हैं वे स्वरस्थानीय होने से स्वरमय हैं, अधिष्ठानस्वरूप हैं । समग्र वाणी स्वर का ही विकार है ।

कैलासवासी से प्रारम्भ कर आठ नामों से विद्वच्चर्या का निर्देश किया । अब उपास्य मूर्ति का वर्णन किया जा रहा है । सामप्रिय की एक व्याख्या थी–जिन्हें प्रसन्न करने के लिये सामनामक उपाय प्रयोग किया जाना चाहिये क्योंकि यही उनको प्रिय है । उसी उपाय का प्रयोग उनके ध्येयादि स्वरूप के वर्णन द्वारा किया जा रहा है । स्वृ शब्दोपतापयोः (भ्वा. प. अ.) धातु से घ-प्रत्यय (३.३.११८) कर स्वरशब्द बनता है जिसका अर्थ है–जिसके द्वारा उच्चारण होता है स्वर्यन्तेऽनेनेति स्वरः । एवं च स्वरशब्द का अर्थ है ध्वनि 'प्राणिनां च स्वने स्वरः' (हलायुध) । औपनिषदभाषा में इसे 'नाम' का पर्याय समझ सकते हैं । अतः सारे नामप्रपंच के रूप में शिव प्रकट हैं जिससे वे स्वरमय हैं । प्रत्येक ध्वनि सुनते हुए उसमें शिवदृष्टि करनी चाहिये । अथवा शिव, ॐ आदि विशेष शब्दों में यह अभ्यास करना चाहिये । या वैयाकरणाभिमत शब्द को समझ लेना चाहिये । उस मत में ब्रह्म शब्दात्मक है ।

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदव्ययम् । विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥
वाक्यप. १.१ ॥

इस अर्थ में यद्यपि एकदेशीय मतानुसार (द्र. ब्र. सि. पृ. १६-१९) ब्रह्म का पारमार्थिक स्वरूप शब्द है तथापि सिद्धान्त में शब्द को उपाधि ही माना है । अथवा 'स्वरो नासा समीरणे' (मेदिनी) इस कोष के अनुसार श्वास-प्रश्वास को स्वर कहते हैं । शिव ही इस रूप में उपस्थित हो हमें जीवित रख रहे हैं । इसमें 'नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि' (तै. १.१) आदि वचन प्रमाण हैं । 'सोहं-हंसः' जप भी श्वास के साथ किया जा सकता है । प्राणोपासना के नाना भेद उपनिषदों में विस्तार से वर्णित ही हैं ।

भास्कररायकृत व्याख्यान यह है–

षड्जोदात्तमुखाः स्वरा अवयवा वेदैकवपुषः
साम्ब ! व्यञ्जनको भवान् स्वरमयी शक्तिस्तव मता ।
ओङ्कारावयवेषु मप्रभृतयो रुद्रेश्वरशिवाः
सर्वे यस्य विभूतितां विदधते सोऽसि स्वरमयः ॥ ४९ ॥

हे साम्ब ! षड्जादि व उदात्तादि स्वर वेदरूप शरीर वाले आपके ही अवयव हैं; आप व्यंजन रूप व आपकी शक्ति स्वरात्मिका है; ओङ्कार के अवयवों में मकार आदिरूप रुद्र, ईश्वर व शिव–सभी जिन आपकी विभूति हैं वे आप स्वरमय हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

षड्ज आदि से ऋषभ, गान्धार आदि संगीत प्रसिद्ध स्वर तथा उदात्त आदि से अनुदात्त और स्वरित भी समझने चाहिये। उदात्तादि का ऋगादि में षड्जादि का सामवेद में प्रयोग है। वेद भगवान् का रूप है। बाणभट्ट ने 'त्रयीमयाय' ऐसा कादम्बरीमंगल में कहा ही है। इस प्रकार भगवान् अपने वेदरूप शरीर में स्वरमय हैं। अथवा स्वरशब्द सब वर्णों को कहता है। तब भी वेदशरीर से भगवान् स्वरमय हैं। अथवा शैवतन्त्र के अनुसार–

अकारादिविसर्गान्ताः स्वराः शक्तिरुदीरिताः। ककारादिक्षकारान्ताः वर्गाः परशिवः स्मृताः॥

अ, इ, उ आदि स्वर शक्तिरूप व व्यञ्जन शिवरूप हैं। शिव का और शक्ति का तो अभेद है। अतः शिव को स्वरमय कह सकते हैं। शिव ही अपनी शक्तिरूप से स्वरमय हैं। या 'यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तः' (महाना. १०.७) आदि श्रुति के अनुसार ॐकार ही स्वर है। उसके अवयव मकार आदि हैं। आदि से उकार व अकार को तथा नाद और बिन्दु को भी समझ लेना चाहिये। इनके देवता ये हैं–अकार के ब्रह्मा, उकार के विष्णु, मकार के रुद्र, नाद के ईश्वर और बिन्दु के शिव। यहाँ तीन कहे हैं जो अन्य दो के भी उपलक्षक हैं। पाँचों ही जिस प्रपंचोपशम शिव की विभूति हैं वे स्वरमय हैं। प्रणव की शिवरूपता में 'परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः' (प्र. ५.२) आदि श्रुति प्रमाण है।

शिव की अक्षरात्मकता की दृष्टि से ही नाना वर्णमालास्तोत्र बने हैं। सूतसंहिता के यज्ञवैभव खण्ड में (अ. २९) विष्णुकृत शिवस्तोत्र है जिसमें अ, आ, इ, ई आदि क्ष तक सभी वर्णों के रूप में भगवान् को नमन किया है। उसी में अ-क-च-ट-त्त-प-य-श इन आठों वर्गों में भगवान् ही बँटे हैं ऐसा कहा है–

अष्टधा चाष्टवर्गैस्तु विभक्तायामलात्मने। अशेषशब्दभूताय तत्तदर्थाय वै नमः॥ ६१॥

भगवच्छक्ति ही शब्दात्मिका है, भगवान् तो शक्तिमान् होने से शब्दात्मक कह दिये जाते हैं यह भी समझा जा सकता है। इससे यह नीलकण्ठोक्ति संगत हो जाती है 'शब्दग्राममयी यदीयगृहिणी' (शिवोत्क. २७)। तन्त्रादि में भी 'अकचटतपयाद्यैः सप्तभि र्वर्ण वर्गैः' (प्रपं. सा. प्र. पं.) आदि से देवीविग्रह का वर्णन इसी तरह समझना चाहिये।

छन्द का नाम शार्दूलललित है। 'मः सो जः सतसा दिनेशऋतुभिः शार्दूलललितम्'– प्रतिचरण मगण, सगण, जगण, सगण, तगण व सगण हों तथा बारहवें व अठारहवें अक्षर पर यति हो तो शार्दूलललित छन्द होता है।

(४४) **त्रयीमूर्तिः** –वेदरूप मूर्ति वाले। वेद भगवान् की मूर्ति है। वेद शिववाणी है। वेद का पूजन पाठ आदि शिवपूजन ही है। वेद को धारण करने वाला ब्राह्मण भी वेद की जीवित पुस्तक होने से ही तो पूज्य है। लिंग वस्तुतः त्रयी ही है। अतः शिव त्रयीमूर्ति है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्रयी शब्द का अर्थ वेद है 'श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायस्त्रयी' (अमर.)। वेद किसे कहते हैं ? इस प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर सायणाचार्य ने यह दिया है– 'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः' (तै. सं. भाष्योपोद्घात)। इसमें अपौरुषेयत्त्व का भी निवेश कर लेना चाहिये। 'वाचा विरूपनित्यया' (ऋ. सं. ८.७५.६) और 'ऋचः सामानि जज्ञिरे' (ऋ. सं. १०.९०.९) आदि विरोधितया प्रतीयमान वाक्यों की संगति भी उन्होंने व्यवस्थित वहीं की है–

'नित्यत्वस्य व्यावहारिकत्वात्। सृष्टेरूर्ध्वं संहारात् पूर्वं व्यवहारकालः। तस्मिन् उत्पादविनाशादर्शनात्। कालाकाशादयो यथा नित्या एवं वेदोऽपि व्यवहारकाले, कालिदासादिवाक्यवत् पुरुषविरचितत्त्वाभावेन, नित्यः। आदिसृष्टौ तु कालाकाशादिवदेव ब्रह्मणः सकाशाद् वेदोत्पत्तिराम्नायते।'

वेद किसी पुरुष की कृति है इसमें न कोई प्रमाण है व अतएव न कोई तर्क है। स्वानुभव के आधार पर केवल सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि अवश्य इसका कोई एक या अनेक रचयिता होगा। किंतु यह वैसा ही है जैसे वह व्यक्ति जिसने केवल नहरें और नालियाँ देखी हैं, यह संभावना व्यक्त करे कि सिन्धु आदि को भी किन्हीं पुरुषों ने खोदकर तैयार किया होगा! अतः प्रमाण का आदर करने वाले को मानना ही होगा कि वेद पुरुषकृत नहीं। उसकी ईश्वरकृतता में तो स्वयं वेद प्रमाण है। अलौकिक फलक उपायबोधक होने से उसका लौकिक प्रमाणों से विरोध नहीं, दोनों का क्षेत्र वैसे ही अलग है जैसे आँख और घ्राणेन्द्रिय का। यद्यपि अन्य ग्रन्थ भी अलौकिक उपाय बताते पाये जाते हैं तथापि सभी स्वयं अपने को पौरुषेय बताते हैं। अतएव पुरुषगतदोष की संभावना से उन ग्रंथों में भी दोष संभावित हो जाते हैं जिससे वे प्रेरक नहीं हो सकते। एवं च अनादि व अनवच्छिन्न गुरुपरम्परा से प्राप्त विशिष्ट आनुपूर्वी वाली शब्दराशि वेद है जो धर्म व परमेश्वर के विषय में अन्य किसी के संवाद के विना ही प्रमाण है।

वेद के दो प्रकार के विभाजन हैं–(१) रचनाप्रकार के आधार पर और (२) यज्ञकार्य के आधार पर। रचनायें गद्य, पद्य व गीत–तीन तरह की ही संभव हैं। अतः वेद के भी उन उन भागों को एक-एक संज्ञा से कहा जाता है। पद्य को ऋक्, गीत को साम व अवशिष्ट (गद्य) को यजु कहते हैं। यह मीमांसासूत्रों में (२.१.१०) स्पष्ट किया गया है। इसी दृष्टि से 'तीन अवयवों वाला' अर्थ में 'त्रयी' शब्द वेद को विषय करता है, जैसा अमरकोष में ही कहा है 'स्त्रियामृक्सामयजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी'। यहाँ 'त्रयो वेदाः' का अर्थ है 'त्रिप्रकारको वेदः'। दूसरा विभाजन यज्ञकार्यानुसारी है। होता नामक ऋत्विक् के लिये आवश्यक वाक्य ऋग्वेद हैं। अध्वर्यु के लिये यजुर्वेद है। उद्गाता के लिये सामवेद और ब्रह्मा के लिये अथर्ववेद है। इस दृष्टि से वेद चार कहे जाते हैं। अतः यह अत्यन्त अविचारपूर्ण बात है जो कभी कही जाती है कि अथर्ववेद वेद ही नहीं है या परवर्ती ग्रंथ है। यजुर्वेद के शतपथब्राह्मणान्तर्गत बृहदारण्यक उपनिषत्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri
में ही 'त्रीन् वेदाननु ब्रुवीत' (बृ. ६.४.१८) कहकर 'सर्वान् वेदाननुब्रुवीत' (बृ. ६.४.१८) पृथक् कहा गया है जो स्पष्ट ही तीन से अधिक वेदों की स्वीकृति का द्योतक है। तैत्तिरीय में भी 'अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा' (तै. २.३) यों अलगकर अथर्व का नामोल्लेख है। नारदजी भी स्वयं बताते हैं कि उन्होंने अथर्ववेद पढ़ा था 'स होवाचर्ग्वेदं भगवोध्येमि यजुर्वेद, सामवेदमाथर्वणम्' (छां. ७.१); यह सामवेद का वाक्य है। स्वयं ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में ऋक्, साम, यजु से पृथक् छन्द कहा है जो हर दृष्टि से अथर्व का ही उल्लेख समझना उचित है। अथर्व के वेदत्त्व का सप्रमाण प्रतिपादन अथर्वसंहिता के सायणभाष्य के उपोद्घात में विस्तार से किया गया है। अतः प्रकृत नाम का त्रयी शब्द समस्त वेद को बताता है यह निश्चित है। शिवगीता में स्वयं शिवोक्ति है–

ऋग्वेदोऽहं यजुर्वेदः सामवेदोऽहमात्मभूः। अथर्वणश्च मन्त्रोऽहं तथा चाङ्गिरसो वरः ॥६.१६॥

इसी प्रकार शिव की वेदात्मकता अन्यत्र भी कही है। दार्शनिक विधि से वेदों की शिवरूपता आचार्य ने तैत्तिरीय उपनिषत् में यों मानी है–

'मनसो हि स्थानप्रयत्ननादस्वरवर्णपदवाक्यविषया तत्सङ्कल्पात्मिका तद्भाविता वृत्तिः श्रोत्रादिकरणद्वारा यजुःसङ्केतविशिष्टा यजुरित्युच्यते। एवमृगेवं साम च।......तस्मात् मनोवृत्त्युपाधिपरिच्छिन्नं मनोवृत्तिनिष्ठमात्मचैतन्यमनादिनिधनं यजुःशब्दवाच्यमात्मविज्ञानं मन्त्रा इति।' (२.३ शां. भा.)।

यद्यपि स्वरमय कहकर समस्त नामप्रपंच शिवरूप कहा जा चुका है तथापि वेद के वैशिष्ट्य के कारण भगवान् के इस रूप को पृथक् कर भी कहना असंगत नहीं है। जैसे समस्त जगत् के जन्मादि का कारण परमेश्वर को बताकर भी बादरायण मुनि ने उन्हें शास्त्र अर्थात् वेद का कारण पृथक् से भी कहा, वैसे यहाँ भी जानना चाहिये। इस मूर्ति की उपासना यह है कि अधिकारी को यथासंभव इसका अर्थ जानते हुए इसे कण्ठ करना चाहिये अन्यों को प्रेरित करना चाहिये व कोई इसे कण्ठ कर रहा हो या कर चुका हो तो उसकी अन्न, वस्त्र आदि से व्यवस्था करनी चाहिये। इस मूर्ति के सेवक स्थानीय शिक्षा, कल्प, निरुक्त, भाष्य आदि ग्रंथों को मूल व अनुवादरूप से प्रकाशित करना भी त्रयीमूर्ति की ही सेवा है।

आलवाल में वेदघटित विग्रह ऐसे बताया है–

साम्ब! ऋग्वेदकोऽस्यागलान्तात् आ च नाभे र्यजुर्वेदरूपः।
नाभिदेशादधः सामवेदः तेन तेऽभूत् त्रयीमूर्त्तिनाम ॥ ५० ॥

हे साम्ब! आप सिर से गले तक ऋग्वेदरूप हैं, गले से नाभि तक यजुर्वेदरूप हैं और नाभि से नीचे सामवेदरूप हैं। इसी से आपका त्रयीमूर्ति नाम हो गया है।

ऋचाओं वाला वेद ऋग्वेद है। ऋचा कहते हैं स्तुतिसाधन को ऋच्यते स्तूयतेऽनयेति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
ऋक् । ऋच स्तुतौ (तु. प. से.) धातु से क्विप् प्रत्यय है (३.२.१७८) । स्तुति का मुख्य साधन मुँह है, अतः ऋग्वेद का मुँह से सम्बन्ध है । यजुस्-समूह वाला वेद यजुर्वेद है । जिनके द्वारा यज्ञ किया जाता है वे यजुस् हैं–इज्यतेऽनेनेति; यज देवपूजायाम् (भ्वा. उ. अ.) धातु से औणादिक (२.११८) उस् प्रत्यय लगकर यजुस्शब्द बनता है । यज्ञ करने में प्रधान हाथ हैं अतः हाथों वाला देहभाग यजुस् से सम्बद्ध बताया । पारिशेष्यन्याय से अधोभाग साम है । अथवा, सामवेद की ध्वनि अशुचि होने से देह के जिस भाग में अशुचि अंग हैं वे सामवेद से सम्बद्ध हैं । सामध्वनि की अशुचिता में मनु (४.१२३) प्रमाण हैं–

ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः । सामवेदः स्मृतः पित्र्यः तस्मात्तस्याशुचिर्ध्वनिः ॥

प्रकृत श्लोक में रचनात्मक विभाजन को दृष्टि में रख तीन विभाग कहे हैं । शरीररूपक की कल्पना में वेदों को तैत्तिरीयोपनिषत् में (२.३) व्यवस्थित किया है जिसमें ब्राह्मणों को पृथक् कर अथर्व सहित वेद के पाँच भागों का उल्लेख है ।

वृत्त का नाम भी त्रयी है । 'रास्त्रयश्चेत् त्रयी नामकं गः'–तीन रगण और एक गुरु वर्ण प्रतिपाद हो तो त्रयीनामक छन्द होता है ।

(४५) अनीश्वरः –किसी को अपना ईश्वर न स्वीकारने वाले । यदि कोई उनसे बड़ा हो तो वे उसे ईश्वर स्वीकारें । ब्रह्मा-विष्णु तो उनका ज्योतिर्लिंग ही पूरा न देख सके थे व नित्य उनका पूजन करते हैं । अतः इन्द्र, वरुण आदि उनसे बड़े हों इसकी संभावना ही कहाँ ? इस प्रकार पुराणदृष्ट्या शिव महेश्वर होने से ही अनीश्वर हैं । इतिहास-दृष्टि से जब वे सृष्टि का संहार करेंगे तो अन्त में वे ही बचेंगे । अग्रिम कल्प फिर उनसे ही प्रारम्भ होगा । वे किसी से उत्पन्न नहीं और सबके उत्पादक हैं, अतः अनीश्वर हैं । सारा अध्यस्त प्रपंच अधिष्ठान के अधीन होता है, स्वयं अधिष्ठान किसी के अधीन नहीं ।

'न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके न चेशिता' (श्वे. ६.९); 'ईश्वरः सर्वभूतानाम्' (महाः १७.५) आदि श्रुतियों से महादेव की स्वतन्त्र ईश्वरता सिद्ध होती है । इसीसे साहित्यकारों ने ईश्वरशब्द को यथार्थ अक्षरों वाला शिव को विषय करते हुए ही माना है 'यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः' (विक्रमो. १.१) । सौरपुराण में वेदों ने कहा है–

ब्रह्मविष्णिवन्द्रचन्द्राद्या यस्य देवस्य किङ्कराः । यस्य प्रसादाज्जीवन्ति स देवः पार्वतीपतिः ॥
न यथा कूर्मरोमाणि शृङ्गं न शशमस्तके । न यथाऽस्ति वियत्पुष्पं तथा नास्ति हरात् परम् ॥
२. ३२, ३५ ॥

कूर्मपुराण में (पूर्व. ३४.४१) भी शिव को स्वयम्प्रभु कहा है–

अलिङ्गमालोकविहीनरूपं स्वयंप्रभुं चित्प्रतिमैकरुद्रम् । तं ब्रह्मपारं परमेश्वरं त्वां नमस्करिष्ये न यतोऽन्यदस्ति ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऐसे ही मत्स्य पुराण में (१९३.३७) स्पष्ट किया है कि महेश से परम और कोई नहीं–

सत्त्वं रजस्तमस्त्वं स्थित्युत्पत्त्यो र्विनाशने देव । त्वां मुक्त्वा भुवनपते ! भुवनेश्वर ! नैव दैवतं किंचित् ॥

नारदीयमहापुराण व्रह्मा व विष्णु को भी शिवाज्ञावशवर्ती कहता है–

हरं सुरनियन्तारं हरन्तमहमानतः । यदाज्ञया जगत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥
तं नमामि महादेवं यन्नियोगादिदं जगत् । कल्पादौ भगवान् धाता यथापूर्वमकल्पयत् ॥
उत्तर. ७३. ५५-५६ ॥

इसी प्रकार महाभारत (अनु. १४.२२९) का कथन है कि शिव से परे कोई नहीं यह सब देवता मानते हैं–

प्रत्यक्षं ननु ते सुरेश विदितं संयोगलिङ्गोद्भवं त्रैलोक्यं सविकारनिर्गुणगणं ब्रह्मादिरेतोद्भवम् । यद्ब्रह्मेन्द्रहुताशविष्णुसहिता देवाश्च दैत्येश्वरा नान्यत्कामसहस्रकल्पितधियः शंसन्ति ईशात् परम् ॥

हरिवंश में (विष्णुपर्व ७४.२४) स्वयं श्रीकृष्ण ने परममहेश्वरता व्यक्त की है–

यस्मादीशो महतामीश्वराणां भवानाद्यः प्रीतिदः प्राणदश्च ।
तस्माद्धि त्वामीश्वरं प्राहुरीशं सन्तो विद्वांसः सर्वशास्त्रार्थतज्ज्ञाः ॥

इसी दृष्टि से शिवभुजंग में (३४-३५) कहा है–

अनुद्यल्ललाटाक्षिवह्निप्ररोहै – रवामस्फुरच्चारुवामोरुशोभैः ।
अनङ्गभ्रमद्भोगिभूषाविशेषै – रचन्द्रार्धचूडैरलं दैवतै र्नः ॥
अकण्ठे कलङ्कादनङ्गे भुजङ्गा – दपाणौ कपालादफालेऽनलाक्षात् ।
अमौलौ शशाङ्कादवामे कलत्रा – दहं देवमन्यं न मन्ये न मन्ये ॥

इस प्रकार श्रुति, स्मृति, पुराण व शिष्टोक्तियों की इसमें एकवाक्यता है कि शम्भु से परम कोई तत्त्व नहीं । कुछ आधुनिक समीक्षक श्रौत वचनों का ऐसा अर्थ बताते हैं जिससे यह प्रतीत हो कि वेदप्रतिपाद्य रुद्र ईश्वर न होकर कोई कष्टप्रद देवताविशेष है । किन्तु घोर व अघोर दोनों रूपों का समन्वय न करने से ही यह भ्रम होता है । शिवा तनू भी रुद्र का ही है यह नमक श्रुति में स्पष्ट है । ईश्वर का शासकस्वरूप क्रूर हो यह संगत भी है । अतः वैदिक रुद्र और शिव ये दो देवता नहीं, दोनों नामों से सर्वेश्वर को ही कहा गया है । इसी प्रकार पुराणोक्त दक्षमखध्वंस का यह तात्पर्य नहीं निकालना चाहिये कि देवता व ऋषि महादेव को नहीं मानते थे, जबरदस्ती उन्होंने अपनी मान्यता कराई । मखारम्भ के पूर्व ही दधीच आदि मुनियों ने शिव के विना यज्ञ की अयज्ञता बताई थी–

अयज्ञोऽयं महाजातो विना तेन शिवेन हि । विनाशोऽपि विशेषेण ह्यत्र ते हि भविष्यति ॥
सतीखं. २७.४७ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और यज्ञ का बहिष्कार कर दिया था। मख के परमध्वंस के पहले विष्णु ने भी शिव की पूज्यता की आवश्यकता और मोहवश ही उनका अनादर बताया था–

अवज्ञा हि कृता दक्ष त्वय तत्त्वमजानता। सकलाधीश्वरस्यैव शंकरस्य परात्मनः॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन माननीयो वृषध्वजः। अमानितान्महेशाच्च महद्भयमुपस्थितम्॥
सतीखं. ३५. ७, १०॥

किं च, दक्ष ने शिव के तिरस्कार का कार्यक्रम बनाया यही इसमें प्रमाण है कि उससे पूर्व यज्ञ में शिव का स्थान था। यदि होता ही नहीं तो तिरस्कार का प्रश्न ही न उठता। अतः पुराण की इन कथाओं के मुख्य तात्पर्य को छोड़ अनर्गल अर्थ निकालना सर्वथा असंगत है।

भास्करीय संक्षिप्त अर्थ है–

ईश्वरत्त्वावधिर्यः स सर्वेश्वरः।
तस्य नेशः परः[1] त्वं ततोऽनीश्वरः॥ ५१॥

हे भगवन्! ईश्वरता की जो सीमा है वह आप सर्वेश्वर ही हैं। उन आपका कोई अन्य नियन्ता है नहीं। अतः आप अनीश्वर हैं।

नास्तीश्वरो यस्यासावनीश्वरः–यह अनीश्वरपद का विग्रह है। जिसका कोई ईश्वर नहीं वह अनीश्वर कहा जाता है। शासन जिसका शील है वह ईश्वर होता है; ईश ऐश्वर्ये (अ. आ. से.) धातु से ताच्छील्यार्थक वरच् प्रत्यय–'स्थेशभासपिसकसो वरच्' (३.२.१७५) से है। अतः जो शासन ही करता है, कभी शासित नहीं होता वही ईश्वर है। इस प्रकार ईश्वर का शासक अत्यन्त अप्रसिद्ध होने से अनीश्वर शब्द में 'अन्तरिक्ष में अग्नि-चयन न करे' इत्यादि की तरह अप्राप्त-निषेध मानना होगा। अथवा कर्मों को ईश्वर का नियामक सामान्यतः माना जाता है क्योंकि कर्मों के अनुसार ईश्वर फल देता है। किन्तु शिव उसे भी नहीं स्वीकारते अतः अनीश्वर हैं। क्योंकि कर्म भी वे ही कराते हैं अतः कर्मनिरूपित पारतन्त्र्य का प्रश्न नहीं। क्योंकि जीवरूप से वे ही करते भी हैं। इसलिये वैषम्यादि की भी प्राप्ति नहीं। अथवा अनीश्वर शब्द का अर्थ है ईश्वर-भिन्न। सविशेष की अधिष्ठानभूमि को अनीश्वर कहा है। शिव की यही वास्तविक महिमा है अतः इसका यहाँ कीर्तन उचित है।

विमोहा छन्द है। 'रौ विमोहा यदि'–प्रतिपाद दो रगण हों तो विमोहा छन्द होता है।

(४६) सर्वज्ञः –सब कुछ जानने वाले। निरुपाधिक रूप से ज्ञानात्मक होने के कारण वे सर्वाकार में विवर्तित हैं अतः सर्वज्ञ हैं। सोपाधिक रूप से मायावी होकर सब वृत्तियों

१. परमिति मुद्रितेपि पाठे टीकायां 'परः अन्यः' इति दृष्टेः स एव पाठ आदृतः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
के साक्षी हैं, अतः सर्वज्ञ हैं। सिवाय शिव के और कोई सर्वज्ञ नहीं। क्योंकि प्रलयकाल में वे ही रहते हैं इसलिये प्रलयकाल का ज्ञान शिवसे भिन्न किसी देवता को नहीं हो सकता।

'सर्वज्ञता तृप्तिरनादि बोधः' (वायुपु. पू. १२.३१) आदि पुराणोक्ति से सर्वज्ञता तो शिव का अंग ही है अतः वे सर्वज्ञ हैं। श्रुति भी कहती है 'सर्वविद्यः' (श्वे. ६.२), 'यः सर्वज्ञः' (मुं. १.९), 'एष सर्वज्ञः' (मां. ६) इत्यादि। सर्वज्ञ शब्द दो तरह से बनता है–(१) जानातीति ज्ञः, 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (३.१.१३५); सर्वश्चासौ ज्ञश्चेति सर्वज्ञः। तथा (२) सर्वं जानातीति सर्वज्ञः, 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३.२.३)। प्रथम व्युत्पत्ति में सर्वरूप व ज्ञानरूप होने से शिव सर्वज्ञ हैं व द्वितीय में सर्वविषयक ज्ञान वाले होने से वे सर्वज्ञ हैं। वे ही निरुपाधिक व सोपाधिक हैं यही रहस्य है ब्रह्मा का भी जो उपदेष्टा, उसकी सर्वज्ञता में शंका कहाँ ? 'यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वे. ६.१८)। वेदों का भी कारणभूत शिव सर्वज्ञनाम से ही आचार्य द्वारा स्मृत है '....यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद्भवति' (ब्र. सू. भा. १.१.२), 'नहीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति' (वहीं १.१.३)। सर्वज्ञ शब्द शिव-अर्थ में कोषप्रसिद्ध है–'सर्वज्ञः शिवबुद्धयोः' (मेदि.), 'सर्वज्ञः शङ्करे बुद्धे' (विश्व.), 'सर्वज्ञः शङ्करे जिने' (त्रिकां.)। अन्यत्र भी 'सर्वज्ञस्त्वं निरवधिकृपासागरः' (आत्मार्प. ३१), 'सर्वज्ञस्य दयाकरस्यं भवतः' (शिवानं. ३५) आदि प्रयोग हैं। अनन्याधीन ऐश्वर्य भी सर्वज्ञता के कारण है। अल्पज्ञ पर किसी न किसी तरह अधिक जानने वाले का प्रभाव रहता ही है।

कुछ तार्किकंमन्य युक्ति देते हैं कि जैसे हम चेतन हैं और सर्वज्ञ नहीं ऐसे ईश्वर भी यदि चेतन है तो सर्वज्ञ नहीं हो सकता, और यदि चेतन ही नहीं तब तो सर्वज्ञ होने का प्रश्न ही नहीं। किन्तु यह युक्ति गलत है, कारण कि इससे यदि हम लोगों की असर्वज्ञता बतायी जा रही है तब सिद्धसाधन दोष है, और यदि ईश्वर की असर्वज्ञता विवक्षित है तो ईश्वर ही अज्ञात होने से तद्गत चैतन्यरूप हेतु अज्ञात होगा जिससे हेत्वसिद्धि दोष होगा। आत्मत्व रूप से ईश्वर ज्ञात है यह भी नहीं कह सकते क्योंकि जो तुम्हारे मत में है ही नहीं उसका किसी रूप से ज्ञान असंभव है। और यदि आत्मत्वजाति में सर्वज्ञवृत्तित्वाभाव–सर्वज्ञ में न रहना–सिद्ध करना चाहो तो तुम्हारे मत में सर्वज्ञ अप्रसिद्ध होने से–कोई सर्वज्ञ है ही नहीं ऐसा मान्य होने से–साध्य ही अप्रसिद्ध होगा। ईश्वर का ज्ञान यदि शास्त्र से कर फिर उसकी सर्वज्ञता का निषेध करने के प्रयास को तो पक्षबोधक प्रमाण होने से शास्त्र ही निष्फल कर देगा क्योंकि वह सर्वज्ञत्वविशिष्ट ईश्वर का ही ज्ञान करायेगा। यदि शास्त्र को प्रमाण न मानो तब तो ईश्वररूप पक्ष ही सिद्ध न होगा। इन तर्कों का संग्रह कुसुमांजलिकारिका में (३.४, ५) यो किया है–

इष्टसिद्धिः प्रसिद्धेशो हेत्वसिद्धिरगोचरे। नान्या सामान्यतः सिद्धिः जातावपि तथैव सा॥
आगमादेः प्रमाणत्वे बाधनादनिषेधनम्। आभासत्वे तु सैव स्याद् आश्रयासिद्धिरुद्धता॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस प्रकार ईश्वर न मानने वाले के लिये यही श्रेयस्कर है कि वह उसके बारे में कुछ न बोले। ईश्वरसिद्धि यद्यपि केवल शास्त्र से होती है क्योंकि उसी प्रमाण का वह विषय है जैसे रूप चक्षु का, तथापि तर्करसिकों के लिये युक्ति का प्रयोग भी किया जाता है। केनवाक्यभाष्य में (तृतीय खण्ड) यह प्रसंग विस्तार से दर्शनीय है। सर्वज्ञरूप की उपासना का प्रकार है यह स्मरण रखना कि हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति का–चाहे वह मानस हो चाहे शारीरिक–स्पष्ट ज्ञान महेश्वर को है। छोटे से छोटा पाप भी हम उससे छिपा सकें यह असम्भव है।

आलवाल में इस नाम की यह व्याख्या है–

षट्त्रिंशत्तत्त्वी त्वय्येवाध्यस्ता।
सर्वाधिष्ठानं तत्त्वं सर्वज्ञः ॥ ५२ ॥

छत्तीसों तत्त्व आपमें ही अध्यस्त हैं क्योंकि आप सबके अधिष्ठान हैं। अतः अपने में अध्यस्त सबके जानकार होने से और जो कुछ है वह आपमें ही अध्यस्त होने से आप सर्वज्ञ हैं।

छत्तीस तत्त्वों का समाहार षट्त्रिंशत्तत्त्वी है। इन्हें सुरेश्वराचार्य ने मानसोल्लास में (२.३१-४३) एकत्र कहा है। वे सभी स्वकीयसत्ताशून्य हैं, केवल शिवसत्ता से सत्तान्वित हैं अतः शिव मेंअधिष्ठित हैं। शिव स्वयं ज्ञानरूप हैं अतः उनसे जो कुछ सम्बद्ध होता है उसे वे जानते हैं। सभी तत्त्व–अर्थात् सारा प्रपंच–उनसे सम्बद्ध है–उनमें अध्यस्त है–अतः वे सबको जानते हैं : सर्वज्ञ हैं।

छन्द का नाम भी सर्वज्ञ है। 'मो गौ सर्वज्ञः'–प्रतिपाद एक मगण व दो गुरुवर्ण होने से सर्वज्ञ छन्द होता है।

(४७) परमात्मा–सबका आपा। घर, स्त्री, पुत्रादि भी आत्मा हैं। देह, मन आदि भी आत्मा हैं। पर ये सब जिस चेतन के सम्बन्धी होने पर आत्मा कहे जाते हैं वही परमात्मा शिव है।

अनीश्वर व सर्वज्ञ से तत्पदार्थरूप विभूति बताकर शिव की स्तुति के लिये त्वम्पदार्थरूप विभूतिं इस नाम से बतायी है। अतिशय प्रेम प्रकट करने के लिये किसी को अपना आत्मा कहा जाता है। यों कहने पर वह व्यक्ति प्रसन्न होता है। यों शिव को अपना प्रत्यक्तम आत्मा कहकर प्रसन्न किया जा रहा है। शिव को स्वस्वरूप समझना आदि का अहंग्रहोपासना में तात्पर्य समझना चाहिये। 'मैं'–इस शब्द व प्रतीति का विषय आत्मा है। 'मैं'–का प्रयोग नाना वस्तुओं के लिये होता है किंतु एकत्र तो यह मुख्य है, अन्यत्र गौण या मिथ्या। गौण व मिथ्या अहमर्थों की व्यावृत्ति के लिये 'परम' विशेषण है। आत्मत्रैविध्य विद्यारण्यमुनि की पंचदशी में (१२.३९-४२) बताया है–

गौणमिथ्यामुख्यभेदैरात्मायं भवति त्रिधा ॥ देवदत्तस्तु सिंहोयमित्यैक्यं गौणमेतयोः।
भेदस्य भासमानत्वात् पुत्रादेरात्मता तथा ॥ भेदोऽस्ति पंचकोशेषु साक्षिणो न तु भात्यसौ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मिथ्यात्मताऽतः कोशानां स्थाणोश्चौरात्मता यथा ॥ न भाति भेदो नाप्यस्ति साक्षिणोऽप्रतियोगिनः ।

सर्वान्तरत्त्वात्तस्यैव मुख्यमात्त्वमिष्यते ॥

सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह में (५२०-५८०) भी पुत्रादि को आत्मा मानने वाले लौकिकों का उल्लेख कर तथा उसे औपचारिक आत्मा (५३३) सिद्ध कर देहादि शून्यान्त आत्मवादियों को बताया है । गीताभाष्य में (१८.६६) गौणात्मा व मिथ्यात्मा का भेद आचार्य ने व्यक्त किया है–

'.....यस्तु.....पुत्रेऽहंप्रत्ययः स तु जन्यजनकसम्बन्धनिमित्तो गौणः ।.....न गौणा आत्मनो देहेन्द्रियादयः । कथं तर्हि ? मिथ्याप्रत्ययेनैवासंगस्यात्मनः संगत्यात्मत्वमापाद्यते ।' (आनन्दाश्रमसं. पृ. ५३१–५३४) ।

इस प्रकार वेदान्तसम्प्रदाय में अनुभव की व्यवस्था आत्मत्रैविध्य से बनायी गयी है । शिव मुख्यात्मा हैं, गौण या मिथ्या आत्मा नहीं यह परमशब्द विशेषित आत्मशब्द से कहा जा रहा है । आत्मपदार्थ वायुपुराण में कहा है–

यदाप्नोति यदादत्ते यच्चास्ति विषयं प्रति । तच्चास्य सततं भावस्तस्मादात्मा निरुच्यते ॥ पूर्व. ५.३२ ॥

लिंगपुराण के (७.९६) अनुसार तो–

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह । यच्चास्य सन्ततो भावः तस्मादात्मेति कीर्त्यते ॥

इसीके आधार पर 'आत्माप्नोतेरत्तेरततेर्वा' (ऐ. १.१) यह भाष्यवचन है । महर्षि यास्क ने तो अत सातत्यगमने (भ्वा. प. से.) धातु से औणादिक मनिण् प्रत्यय (४.१५३) कर, या आप्लृ व्याप्तौ (स्वा. प. अ.) धातु से औणादिक (४.१४६) मनिन् प्रत्यय कर पृषोदरादि मानकर पकार का तकार कर आत्मशब्द बनाया है–

'आत्माऽतते र्वाऽप्ते र्वाऽपिवाऽऽप्त इव स्याद् यावद् व्याप्तिभूत इति ।' (३.३.१५)

कल्पलतालवालकार की व्याख्या है–

अन्तर्यमयंस्त्वं भूतान्यखिलानि ।
भूयः कथितोऽसि श्रुत्या परमात्मा ॥ ५३ ॥

समस्त प्राणियों को अन्दर से शासित करने के कारण श्रुतिद्वारा आप अनेकत्र परमात्मा कहे गये हैं ।

'परमात्मा' शिव का श्रुतिप्रसिद्ध नाम है–'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' (महाना. ११.१३) । गीता में भी ईश्वर के लिये कहा है 'परमात्मेत्युदाहृतः' (१५. १७) । शासन दो तरह से होता है–बाहर से व अंदर से । बाहर का शासन तो दण्डादिभय से राजशासनादिवत् प्रसिद्ध है । अन्तःशासन का अर्थ है शासित से अभिन्न

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होकर उसका शासन करना। आचार्यपाद ने ईशभाष्यारम्भ में ही कह दिया है–

'स हि सर्वमीष्टे सर्वजन्तूनामात्मा सन् प्रत्यगात्मतया'।

इसका सुन्दर व्याख्यान आनन्दगिरि स्वामी ने किया है : जैसे देवदत्त अपने प्रतिबिम्वों का आत्मा हुआ हुआ उनका शासन करता है वैसे प्रतिबिम्बस्थानीय जीव का आत्मा हुआ हुआ विम्वस्थानीय ईश्वर शासन करता है ! परमात्मा की अन्तर्यामिता का उल्लेख माण्डूक्योपनिषत् में (६) तथा विस्तार से प्रतिपादन बृहदारण्यक में (३.७) दर्शनीय है।

वृत्त का नाम है तनुमध्या। 'त्यौ चेत् तनुमध्या'–प्रतिपाद एक तगण व एक यगण होने से तनुमध्या छन्द होता है।

(४८) **सोमसूर्याग्निलोचनः** –चन्द्रमा, सूर्य व अग्नि–इन तीन आँखों वाले। वस्तुतः इडा, पिंगला व सुषुम्णा–इन तीन नाडियों से प्रकाश देकर भोग, सद्गति व अगति का प्रकाश करने से वे सोमसूर्याग्निलोचन हैं। वैसे सोम भक्ति, सूर्य ज्ञान एवं अग्नि कर्म का भी प्रतीक है। क्योंकि शिव इन तीनों से प्रकाश देते हैं इसलिये सोमसूर्याग्निलोचन हैं।

विरूपाक्ष ललाटाक्ष द्वारा त्रिनेत्रता सूचित हो चुकी है, अब उन नेत्रों का स्वरूप बताने वाला नाम लिया गया है। लोक में अतिमहत्त्वशाली सूर्यादि प्रकाशस्रोत जिनके नेत्र हैं उनकी महत्ता का क्या कहना ? 'चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ' (मुं. २.१.४) आदि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। सूर्यादि में कम से कम एक तो हर कर्म का साक्षी होता है। अतः शिव की सर्वज्ञता भी उपपन्न हो जाती है। तृतीय नेत्र की उत्पत्ति के विषय में बताया जा चुका है कि भगवान् को क्षणभर के लिये भी सहन न हुआ कि उनकी आँख संसार पर न रहे, क्योंकि वैसा होने से सब अन्धकारमय तो हो ही जाते, साथ ही तब किये समस्त शुभाशुभ कर्म निःसाक्षिक रह जाते। द्रोणपर्व में भी कहा है–

निमीलिताभ्यां नेत्राभ्यां बलाद् देवो महेश्वरः। ललाटे नेत्रमसृजत् तेन त्र्यक्षः स उच्यते ॥
२०२.१३८ ॥

यह भी इसीलिये कि सूर्य व चन्द्र के अतिरिक्त व्यवहार्य प्रकाश लोगों को मिल सके तथा उनके कर्म व्यर्थ न जायें। सोमादि तीनों भगवान् की मूर्त्तियाँ भी हैं। '.....अनलः .....अहर्नाथो हिमांशुः' (दक्षिणामू.९) आदि में यह व्यक्त है। तथा च जो सोम, सूर्य व अग्निरूपों से सबके लोचन–सब देख पायें इसके कारण हैं–वे सोमसूर्याग्निलोचन कहे गये हैं।

जगद्धरभट्ट की मान्यता तो यह है कि अज्ञानरूप अन्धकार, आध्यात्मिक आदि संताप और विपत्तिरूप हिमपात–इन तीन कष्टों से भक्तों को बचाने के लिये भगवान् ने सूर्यादि को नेत्रों में स्थान दिया है–

घोरान्धकारविधुरं विविधोपताप–तप्तं विपद्गुरुतुषारपराहतं माम्।
त्वं चेज्जहासि वद कस्तपनेन्दुवह्नि–नेत्रो हरिष्यति परस्त्रिविधां ममार्तिम् ॥
स्तु. कु. ११.९१ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किं च सूर्यादि भगवन्नेत्र हैं कहकर यह भी सूचित कर दिया कि जैसे हम अपने नेत्रों से सबको देखते हैं पर वे नेत्र हमें नहीं देख सकते, ऐसे लौकिक प्रकाश शिवको विषय नहीं कर सकते। इसी आशय से भास्करराय की गेय व्याख्या है—

भास्वदादयो लोचनानि ते मानसातिगं त्वां विदन्ति नो।
भान्तमन्वमी भान्ति साम्प्रतं तेन सोमसूर्याग्निलोचनः ॥ ५४ ॥'

आपके सूर्यादि लोचन मन-वाणी से अतीत आपको विषय नहीं करते। स्वतः प्रकाशमान आपके कारण ये सूर्यादि उचित प्रकाशन करते हैं। अतः आप सोमसूर्याग्निलोचन हैं।

इस विषय में श्रुति, स्मृति व न्याय प्रसिद्ध हैं। श्रुति मुण्डक (२.२.१०), कठ (२.५.१५), श्वेताश्वतर (६.१४) में है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

स्मृति तो यह गीतोक्ति है ही—'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः' (१५.६)। न्याय की स्थापना 'अनुकृतेस्तस्य च' (ब्र. सू. १.३.६.२२) में द्रष्टव्य है। श्लोकस्थ मानसपद सर्वेन्द्रियोपलक्षक है। 'यं चक्षु र्न वेद' (बृ. ३.७.१८) आदि शतपथ इसमें प्रमाण है। प्रथमार्धानुसारी विग्रह है सोमसूर्याग्नयो लोचनानि यस्य। द्वितीयार्ध में विवक्षित है कि परमेश्वर के कारण ही सूर्यादि प्रकाशित होते हैं। अतः तदनुसारी विग्रह होगा—सोमसूर्याग्नीन् लोचयति प्रकाशयतीति। ण्यन्त रुच धातु नन्द्यादिगण में है ही, र व ल का अभेद स्वीकृत है अतः दशमगणीय लोचृ (उ. से) धातु से या ण्यन्त भ्वादिगणीय लोचृ दर्शने (आ. से.) धातु से ल्युप्रत्यय (३.१.१३४) कर लोचन शब्द समझना चाहिये।

प्रयुक्त छन्द भी लोचनसंज्ञक है। 'रो यजौ गुरु र्लोचनं भवेत्'—प्रतिचरण रगण, यगण, जगण व एक गुरु वर्ण हो तो लोचन छंद होता है।

(४९) हविः—आहुति के द्रव्यरूप। शिव ही हवि बनकर भक्तहृदय की कामना को पूर्ण करते हैं। वेदसिद्धान्त से तो प्रत्येक इन्द्रिय में प्रतिक्षण रूप रसादि हवि पड़ती है। अतः शिव सर्वरूप धारण कर स्वयं को दृश्यरूप से अनुभव कराते हैं अतः हवि हैं। परमात्मा होने से दृक् रूप भी वे ही हैं यह रहस्य है।

जिसका होम किया जाता है उसे हवि कहते हैं हूयते यत्तद्धविः; हु (जु. प. अ.) धातु से औणादिक (२.११०) इस् प्रत्यय लगा है। हुधातु देने, खाने, लेने, व प्रसन्न करने के अर्थ वाला है : 'हु दानादनयोः, आदाने चेत्येके, प्रीणनेऽपीति भाष्यम्' (सि.कौ.)। देने से यहाँ देवतादि के उद्देश्य से किया प्रक्षेप ही विवक्षित है क्योंकि उसी अर्थ में प्रयोग

---

१. पाठान्तरस्य 'ख'—नामकपुस्तकस्थस्यादरष्टीकानुरोधात्संगततरत्वाच्च।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रसिद्ध है। इसी अर्थ में श्रीकृष्ण ने परमशिव को हवि कहा है 'ब्रह्म हविः' (४.२४)। उसी प्रसंग में औपाधिक आत्मा की हवि-रूपता भी बतायी है 'यज्ञम्.....उपजुह्वति' (४.२५)। यज्ञशब्द आत्मार्थक मेदिनी में बताया है 'यज्ञः स्यादात्मनि मखे नारायणहुताशयोः'। अतएव उक्त गीता का भाष्यव्याख्यान है 'यज्ञं, यज्ञशब्दवाच्य आत्मा.....तं..... अध्यस्तसर्वोपाधिधर्मकम्.....। सोपाधिकस्यात्मनो निरुपाधिकेन परब्रह्मस्वरूपेण यद् दर्शनं स तस्मिन् होमः.....।' इन्द्रियों को, विषयों को (४.२६), इन्द्रियों व प्राणों के कर्मों को (४.२७), तथा प्राण को (४.२९-३०) भी हवि बताया है। इस प्रकार जो भी हम शिवार्पण करते हैं या किसी के भी उद्देश्य से देते हैं वह वस्तु शिवरूप ही जाननी चाहिये। ऐसे ही जो भी हम ग्रहण करते हैं उसमें भी शिवदृष्टि कर्तव्य है। भोजन करना भी एक तरह का ग्रहण करना है। इसी आशय से विद्वान् की खाद्यसामग्री हवि बतायी गयी है 'यदश्नाति तद्धविः' (महा. २५.१)। किम्बहुना, जिस किसी से हम व्यवहार करें, जो हमारे या किसी के भी प्रति शेष बनता हो वह हवि है और उसे शिव जानना हवि रूप की उपासना है। अतएव मैत्रायण्युपनिषत् में (६.१६) कहा है–

होता भोक्ता हवि र्मन्त्रो यज्ञो विष्णुः प्रजापतिः। सर्वः कश्चित् प्रभुः साक्षी योऽमुष्मिन् भाति मण्डले ॥

अथवा प्रीणनार्थक मानकर आनन्ददायक शिव हवि हैं। जुहोति प्रीणातीति हविः, या हूयतेऽनेनेति हविः। अतएव शिवसहस्रनाम (श्लो. २०) की व्याख्या में परमशिवेन्द्र सरस्वती ने कहा है–

'यद्वा, सर्वानन्दकरत्त्वाद् हविः परमशिवः, 'आनन्दयति दुःखाढ्यं जीवात्मानं कृपाबलात्' इति ब्रह्मगीतावचनात्। 'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति' इति श्रुतिः।'

'घृतमाज्यं हविः' (अमर.), 'हवि र्होतव्यमात्रे च सर्पिष्यपि नपुंसकम्' (मेदिनी) आदि कोषों से हविःशब्द घृतार्थक मानते हुए इस नाम का आलवाल में यह तात्पर्य निरूपित है–

दुग्धमात्रस्य कुहरे यथा घृतं प्राणिमात्रस्य दहरे तथा भवान्।
चेतसा संमथित एव लभ्यते हूयमानं त्वमखिलं ततो हविः ॥ ५५ ॥

जैसे सारे दूध के अन्दर घी होता है वैसे सभी प्राणियों के हृदय में आप हैं तथापि मन से मन्थन करने पर ही आप स्पष्ट पाये जाते हैं। यों घी सदृश होने से आप हवि हैं। जो कुछ भी होम में अर्पित किया जाता है वह आप ही हैं, इसलिये भी आप हवि हैं।

दूध को दही बनाकर मथने से घी व्यक्त होता है। प्राणी की भी शुद्धि करने के बाद ही मंथन से शिव व्यक्त होते हैं। इस विषय में ब्रह्मबिन्दूपनिषत् (२०) का वचन रमणीय है–

घृतमिव पयसि निगूढं भूते भूते वसति च विज्ञानम्।
सततं मन्थयितव्यं मनसा मन्थानभूतेन ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महादेव घी की भी मलाई की तरह हैं यह श्वेताश्वतर (४.१६) में भी बताया है 'घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्त्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम्' । यद्यपि सब क्षेत्रों के क्षेत्रज्ञ शिव ही हैं तथापि मंथन के विना उनका वहाँ होना व्यक्त नहीं होता । मथने से होता यह है कि अघृतांश से घृतांश पृथक् हो जाता है । ऐसे ही 'मैं'–इस अपने स्वरूप का विवेक कर इसमें स्थित अनात्मांश से आत्मांश पृथक् करने से आत्मरूप शिव स्पष्ट हो जाते हैं । मंथन के लिये हाथ दो दिशाओं में चलाने पड़ते हैं–एक बार आगे की ओर दूसरी बार पीछे की ओर । इसी प्रकार अन्वय व व्यतिरेक से विवेक होता है । यह प्रथम अर्थ का भाव है । द्वितीय अर्थ में तो होतव्यार्थक हविः शब्द है यह स्पष्ट है ।

छन्द का नाम दुग्ध है । 'दुग्धवृत्तं रभजरैरुदीरितम्'–रगण, भगण, जगण, रगण का प्रतिपाद प्रयोग होने पर छन्द का नाम दुग्ध होता है ।

(५०) **यज्ञमयः** –यज्ञरूप । सभी यज्ञ वस्तुतः शिवरूप ही हैं । सभी यज्ञों के अधिष्ठाता व फलदाता एकमात्र वे ही हैं । कर्मकाण्डी इसे न समझकर यह मानते हुए भ्रान्त होते हैं कि विभिन्न देवता या कर्म ही फल देते हैं । इसी भूल से दक्ष ने अपना सर्वस्व नष्ट कर दिया था । भिन्न-भिन्न यज्ञ अनेक प्रकार की रुचि वाले साधकों को शिवप्रसन्नता प्राप्त कराने के भिन्न-भिन्न साधन हैं । उद्देश्य यही है कि उनमें से किसी साधन द्वारा शिव को प्रसन्न किया जाये ।

हवि व देवता ही शिव नहीं है, होम भी शिव ही हैं–'ब्रह्मार्पणम्' (गी. ४.२४) । देवपूजा आदि अर्थ वाले यज (भ्वा.उ.आ) धातु से नङ् प्रत्यय (३.३.९०) हो इज्यतेऽत्र अर्थ में यज्ञशब्द वनता है । अतः देवप्रीत्यर्थ जो कुछ भी किया जाये, यज्ञ ही है । उपनिषदों में (छां. ३.१६) तो पुरुषजीवन ही यज्ञ है ऐसा बताया है । जो अपने कारण सबको पवित्र करता है वह यज्ञ है (द्र. छां. ४.१६.१) । वाणी, चक्षु, प्राण आदि होता, अध्वर्यु, उद्गाता आदि हैं (द्र. बृ. ३.१) । रूपक को जीवन में घटाकर महानारायण के अन्त में (२५) दिखाया है । गीता में भी पर्याप्त विस्तृत अर्थ में यज्ञशब्द का प्रयोग कर यह स्पष्ट किया है कि केवल मन्त्रोच्चारणपूर्वक देवता के लिये हवि का त्याग ही यज्ञ नहीं है । वह भी एक यज्ञ तो है ही । 'शिवो यजति यज्ञश्च' आदि वचन भगवान् यज्ञरूप भी हैं यह बताते हैं । प्रकृत-प्राचुर्य (५.४.२१), विकार, अवयव (४.३.१४३), आगत (४.३.८२) आदि अर्थों में मयट् प्रसिद्ध है किंतु स्वार्थ में भी मयट् स्वीकार्य है । अतएव आनन्दमयाधिकरण की भास्करीय व्याख्या में 'तत्र स्वार्थे मयट्प्रत्ययः' ऐसा कहा है व उसका यह खण्डन न कर कि स्वार्थ में मयट् होता ही नहीं, वैयाकरणचण अनुभूतिस्वरूपाचार्य अन्यान्य युक्तियों से उस व्याख्या का विरोध कर कहते हैं–'.....तदेवं .....न प्राचुर्यार्थो मयडानन्दमये....., नापि स्वार्थः' (प्रकटार्थ. पृ. ११५–११६) । इसी नीति से यज्ञ ही यज्ञमय है और वह शिवरूप है । अथवा द्रुतगन्ता को मय कहते हैं । मय गतौ (भ्वा. आ. से.) से अच् प्रत्यय (३.१.१३४) लग मयत इति मयः शब्द बनता है । जिसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यज्ञ जल्दी पहुँचता है—यज्ञो मयो यस्य—वह शिव यज्ञमय हैं। हमारी सूक्ष्मतम भी चेष्टा साक्षी को तुरन्त ज्ञात हो जाती है। इसी तरह जो यज्ञ को प्राप्त होते हैं वे भी यज्ञमय हैं—यज्ञं मयतइति। जहाँ कहीं जब कभी जो कोई भी यज्ञ करे, शिव उसे ग्रहण करने तुरन्त उपस्थित होते हैं जिससे वे यज्ञमय हैं।

जिस तरह हरिवंश में (भविष्य. ३४.३४-४४) यज्ञवराह का वर्णन है उसी तरह यज्ञमय का वर्णन भास्करराय करते हैं—

वेदः पादो यूपो दंष्ट्राऽनलचयनरसनवदनस्तनूरुहधर्मकः

स्रौवश्चञ्चुः सर्पिर्नासो दिवसरजनिनयनयुगः करः सवनत्रयम्।

औद्गात्रान्त्रो वेदीस्कन्धश्चरणयुगलमुपनिषदः प्रवर्ग्यकचभ्रमिः

वक्षो दाक्षिण्यो मन्त्रस्फिग् विविधमखकरणतनुकोऽसि यज्ञमयः॥ ५६॥

आपका एक चौथाई शरीर वेदरूप है। यूप आपकी दाढ है। आप अग्निरूप जिह्वा वाले और चयनरूप मुख वाले हैं। आप धर्मरूप रोम वाले हैं। स्रुवा आपकी नाक की नोक है। घी आपकी नाक है। दिन व रात आपकी दोनों आँखें हैं। तीन सवन आपका हाथ है। आप औद्गात्ररूप आँत वाले हैं। वेदीरूप कन्धे वाले आप हैं। उपनिषदें आपके दोनों पैर हैं। आप प्रवर्ग्यरूप जटाग्रन्थि वाले हैं। दक्षिणा आपका सीना है। मंत्ररूप नितम्ब वाले आप हैं। इस प्रकार यज्ञ के नाना साधनों से घटित आपका शरीर है अतः आप यज्ञमय हैं।

यज्ञ कैसे किया जाये—यह वेद से ही पता चलता है। यज्ञादि की उत्पत्तिविधि ब्राह्मण में ही होती है ऐसी पूर्वकाण्डमर्यादा है। वही भाग यहाँ वेदशब्द से कहा है। वह भाग यज्ञार्थ होने से यज्ञांग है ही। जिस काष्ठस्तम्भ का शास्त्रीय छेदन, तक्षण आदि किया जाता है व जिस पर यज्ञीय पशुवन्धन होता है वह यूप कहा जाता है। 'अनल' इत्यादि शब्द में 'अनलरसन' और 'चयनवदन' ऐसा यथाक्रम अन्वय है। आहवनीयादि अग्नि प्रसिद्ध है। चयन अग्न्याधान को कहते हैं जिसमें वैध अग्नि की नियमतः परिचर्या का भार लिया जाता है। इसके वाद ही अन्यान्य यज्ञ किये जा सकते हैं। अपूर्व को (पुण्य को) धर्म कहते हैं। पलाश आदि की लकड़ी से निर्मित यज्ञपात्रविशेष जो घी आदि समर्पित करने के काम आता है स्रुवा कहाता है। सोमलता को निचोड़कर उसका रस निकालना सवन है जो प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन और तृतीयसवन भेद से तीन प्रकार का है। उद्गाता नामक सामवेदी-ऋत्विक् का कर्म औद्गात्र कहा जाता है। आहवनीय और गार्हपत्य अग्नियों के बीच की चार अंगुल खोदी हुई भूमि वेदी कही जाती है। पात्रादि रखने के लिये डमरू आदि आकार की उठी हुई भूमि को भी कभी कभी वेदी कहा जाता है। सोमयाग से पूर्व किये जाने वाले कृत्यविशेष का नाम प्रवर्ग्य है। दक्षिणा को ही यहाँ दाक्षिण्य कहा है। यज्ञकाल में अपूर्वोत्पत्त्यर्थ व द्रव्यदेवतादिस्मरणार्थ जिस वेदभाग का वैध उच्चारण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किया जाता है वह मन्त्र है। इस प्रकार यज्ञ को शिव मानकर यज्ञांगों का शिवांगतया पुराणसम्मत वर्णन कर दिया गया है।

प्रयुक्त छन्द का नाम भुजंगविजृम्भित है। 'वस्वीशाश्वैश्छेदोपेतं ममतनयुगनरसलगै र्भुजङ्गविजृम्भितम्'—प्रतिपाद दो मगण, तगण, तीन नगण, रगण, सगण, लघु व गुरु वर्ण क्रमशः हों तथा आठवें, उन्नीसवें और छब्बीसवें अक्षर पर यति हो तो भुजंगविजृंभित छंद होता है। वसु आठ, ईश अर्थात् रुद्र ग्यारह और अश्व (सूर्यरथ के घोड़े) सात प्रसिद्ध हैं।

(५१) सोमः —उमा सहित शिव ही सोम हैं। ऋग्वेद के नवम मण्डल में सोम की ही स्तुति है। उसी की प्राप्ति का उत्तम साधन सोमयाग है जिसमें प्रयुक्त होने से एक वल्लीविशेष का भी नाम सोम है। सहस्रार में कुण्डलिनी-प्रवेश को भी सोम कहते हैं। यहाँ भी शिव-शक्ति-संयोग है। चन्द्रमा भी सोम है जो शिव की अष्टमूर्तियों में आता है। वस्तुतः शक्ति एवं शिव की नित्य एकता का रूप होने से परमाह्लादक ही सोम है, अतः वेद में इसका प्राधान्य है।

षुञ् अभिषवे (स्वा. उ. अ.) से औणादिक (१.१३९) मन् प्रत्यय हो सोमशब्द बनता है। मतान्तर में षूङ् प्राणिगर्भविमोचने (अ. आ. से) से सूतेऽमृतम् अर्थ में पूर्वोक्त प्रत्यय हो सोमशब्द बनता है। कुछ लोग षु प्रसवे (भ्व. प. अ.) से भी उक्तविधया सोमशब्द का निर्वचन करते हैं। अस्तु, जिसका अभिषव किया जाये या जो सुख उत्पन्न करे वही सोम है। हवि नाम में जैसे मंथन-फलतया शिव को बताया था वैसे यहाँ अभिषवविषयतया उन्हें बताया जा रहा है। सहस्रार के अभिषवं से सोमस्राव प्रसिद्ध है। शिव के सविशेषरूप को निचोड़कर निर्विशेष एकरस चित्तत्त्व का लाभ विहित होने से वह रूप सोम है। सुखद होने से तो रस ही सोम है। सविशेष–निर्विशेष में तत्त्व का अन्तर नहीं, यही रहस्य है। मंथन-अभिषव के सम्बन्ध को श्वेताश्वतर में ध्वनित किया है 'अग्नि र्यत्राभिमथ्यते ....सोमो यत्रातिरिच्यते' (२.६)। औपनिषद साहित्य में सोम नाम अन्न का है 'सोम एवान्नम्' (बृ. १.४.६)। समस्त विषयजात अन्न है। अन्न रक्षण व भक्षण दोनों करता है 'अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते' (तै. २.२.१)। यद्यपि सभी विषय हवि भी हैं तथापि हवि का यज्ञ से ही सम्बन्ध होने से घातकता नहीं। यज्ञ से वियुक्त विषय ही अन्न होता है। हवि-अवस्था में विषय की घातकता यज्ञसम्बन्ध से नष्ट हो जाती है पर अन्न-अवस्था में वह बनी रहती है। आवश्यक नहीं कि वह हानि करे ही किंतु उसकी वह योग्यता रहती है। अतः सोमनाम से अन्न का स्मरण कर बता दिया कि उसका प्रयोजन इतना ही है कि उससे वह रस प्राप्त किया जाये जो अमृत दे, इससे भिन्न प्रयोजन साधने लगेंगे तो वह सोम न रहकर अत्तिव्युत्पत्ति वाला अन्न रह जायेगा। शिव ही प्रजापतिरूप से अत्ता और अन्न बने अतः उनकी अन्नरूपता में संदेह नहीं। अन्न शिव की विभूति है क्योंकि यह स्वयं खायी जाकर—नष्ट होकर—भी दूसरे का—अत्ताका—पोषण करती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सोमशव्द का यह विग्रह भी प्रसिद्ध है–उमया सहितः सोमः । संज्ञा में सह का सभाव विहित ही है सहस्य सः संज्ञायाम् (६.३.७८) । सोम शिव की संज्ञा है इसमें नमकाध्याय की नमः सोमाय आदि श्रुति प्रमाण है । ब्रह्मविद्या ही उमा है । यही उमा 'देवात्मशक्ति' रूप से श्वेताश्वतरादि ऋषियों की सहायतार्थ उपस्थित हुई थी (श्वे. १.२) । अतएव कूर्मपुराण में (उत्तर. अध्य. ३९) वर्णन है कि केवल कर्मपरायण मुनियों को ज्ञान तत्पर करने के लिये लीला करने के अनन्तर उपदेश देकर सोम अन्तर्धान हो गये । तव वे मुनि विचार में प्रवृत्त हुए । तभी भगवती वहाँ प्रकट हुई :

'प्रणम्य देवदेवेशमिदं वचनमब्रुवन् ॥ कथं त्वां देवदेवेश कर्मयोगेन वा प्रभो ।
ज्ञानेन वाथ योगेन पूजयामः सदैव हि ॥.....श्रीशिवउवाच–..... योगेन सहितं सांख्यं पुरुषाणां विमुक्तिदम् ॥
.....ज्ञानं तु केवलं सम्यगपवर्गफलप्रदम् ॥.....इत्युक्त्वा भगवान् सोमस्तत्रैवान्तरधीयत ।

.....समेत्य ते महात्मानो मुनयो ब्रह्मवादिनः ॥ विचक्रिरे वहून् वादान् स्वात्मज्ञानसमाश्रयान् ।
.....आविरासीन्महादेवी ततो गिरिवरात्मजा' ॥ (४०-६९) ॥

केनोपनिषत् में भी हैमवती उमा से ही इन्द्र ने शिवज्ञान प्राप्त किया यह वर्णित है (केन २ व ३) । परमेश्वरध्यान का विधान करते हुए उनके सोमरूप का उल्लेख कैवल्योपनिषत् करती है 'उमासहायं परमेश्वरम्' (कै. १.७) । इन सवके आधार पर ही रुद्रभाष्यकार अभिनव शंकराचार्य ने निश्चित किया है कि परव्रह्मविद्याधिदेवता पारमेश्वरी चिच्छक्तिः ही उमा है । इतना ही नहीं, 'भगवतः..... सर्वोऽपि महिमा परशक्तिविलास एव' (पृ. ५९-६०) । यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि चिच्छक्ति व जडशक्ति विभिन्न हैं । जडशक्ति तो कल्पित माया है जबकि चिच्छक्ति चिद्रूप ही है । सूतसंहिता के ये वचन अवधेय हैं–

चिन्मात्राश्रयमायायाः शक्त्याकारे द्विजोत्तमाः । अनुप्रविष्टा या संविन्निर्विकल्पा स्वयम्प्रभा ॥
सदाकारा परानन्दा संसारोच्छेदकारिणी । सा शिवा परमा देवी शिवाऽभिन्ना शिवङ्करी ॥
यज्ञवै. १३.२-३ ॥
न शिवेन विना शक्ति र्न शक्तिरहितः शिवः । उमाशङ्करयोरैक्यं यः पश्यति स पश्यति ॥
वहीं ३० ॥

एवं च सोमशब्दार्थान्तर्गत साहित्य अत्यन्त अभेदात्मक है ।

सोमशब्द नानार्थक है । विश्वकोष में बताया है–

सोमः कुबेरे पितृदेवतायां वसुप्रभेदे च सुधाकरे च । दिव्यौषधीसोमलतासमीरकर्पूरनीरेषु च वानरे च ॥

इस तथ्य की ओर ध्यान देते हुए भास्करराय कहते हैं–

मूर्तिष्वष्टास्वीश ! तवैका रजनीशो ज्योतिष्टोमस्तस्य हविश्चैडविडश्च ।
सौराष्ट्रस्थस्त्वं शिव ! गङ्गायमुनस्थो गौर्या साकं नित्यविहारीति च सोमः ॥ ५७ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हे ईश ! आपकी आठ मूर्तियों में एक सोमनामक चन्द्रमा है; आप सोमनामक ज्योतिष्टोम याग हैं; आप उस याग की सोमनामक हविर्विशेष हैं; आप सोमशब्दित कुबेर हैं; हे शिव ! आप सोमेश्वर नाम से सौराष्ट्र में स्थित हैं व गंगा-यमुना के संगम पर भी विराजमान हैं; आप गौरी के साथ नित्य विहार करने वाले हैं; इन सब हेतुओं से आप सोम हैं ।

भगवान् की आठ मूर्तियाँ महिम्नस्तोत्र में गिना दी हैं–

'त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवहस्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च' (श्लो. २६) ।

इनमें सोममूर्ति परिगणित है ही । सोममूर्ति चन्द्र को ही कहते हैं । त्रिवृत् आदि ज्योतिनामक स्तोम वाले यज्ञ विशेष को ज्योतिष्टोम कहते हैं । इसका एक प्रकार सोमयाग नाम से प्रसिद्ध है । ब्रह्मवैवर्तपुराण में (कृष्णजन्म खण्ड ६०.५४-५८) इसे त्रैवार्षिक यज्ञ बताया है–

"""वर्षं सोमलतापानं यतमानः करोति च ॥ वर्षमेकं फलं भुङ्क्ते वर्षमेकं जलं मुदा ॥
त्रैवार्षिकमिदं यागं सर्वपापप्रणाशनम् ॥""""""

स्पष्ट ही श्रौत व पौराणिक वर्णन विभिन्न विषयक हैं । अथापि सोमनामक याग उभयत्र प्रसिद्ध है । यज्ञमय होने से शिव को यागात्मक कहा है । श्रौत ज्योतिष्टोम की हविर्विशेष सोमलता का रस है । हवि होने से शिव सोमलतारूप भी हैं ही । ऐडविड कुबेर का नाम है । अनन्य भक्त होने से कुबेर शिवरूप होने से शिव को कुबेरात्मक कहा है । सौराष्ट्र स्थित सोमनाथ नामक ज्योतिर्लिंग सर्वप्रसिद्ध है । महाभारत में (३.८३.१९) इसका उल्लेख है । शिवपुराण में (शतरु. ४२.६-९) इसका माहात्म्य वर्णित है–

तत्राद्यः सोमनाथो हि चन्द्रदुःखक्षयंकरः । क्षयकुष्ठादिरोगाणां नाशकः पूजनान्मुने ॥
"सोमेश्वरं महालिंगं शिवस्य परमात्मकम् । दृष्ट्वा प्रमुच्यते पापाद् भुक्तिं मुक्तिं च विन्दति ॥

ऋग्वेदखिल में गंगा व यमुना के संगम पर सोमेश्वर को कहा है । 'यत्र गंगा च यमुना च यत्र प्राची सरस्वती यत्र सोमेश्वरो देवः ।'

अन्तिम अर्थ यौगिक मर्यादा से पूर्वोक्तरीत्या बताया गया है ।

मत्तमयूरा छन्द है । 'वेदै रन्ध्रै र्म्तौ यसगा मत्तमयूरम्' । जिसके हर पाद में क्रमशः मगण, तगण, यगण, सगण और एक गुरुवर्ण हो तथा चौथे व ग्यारहवें अक्षरों पर यति हो उस छंद को मत्तमयूर या मत्तमयूरा कहते हैं ।

(५२) पञ्चवक्त्रः –पाँच मुख वाले । पाँच ज्ञानेन्द्रियों से पाँच विषय खाने वाला शिव है अतः पाँच मुँह वाला है । सद्योजात, तत्पुरुष, अघोर, ईशान और वामदेव ही ये मुख हैं । वेद में इनका विस्तृत वर्णन है एवं हृदय के ये पाँच छिद्र कहे गये हैं । पाँच विषयों की सृष्टि करने से भी पंचवक्त्र हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद–इन पाँच तरह से वेदवाणी के वक्ता होने के कारण ही शिव पंचवक्त्र हैं । जिससे बोला जाता है वही वक्त्र है–वक्ति अनेन; वच् भाषणे (अ.प.अ.) धातु से औणादिक (४.१६८) त्रप्रत्यय है । शिव वेदद्वारा ही बोलते हैं । वेद विस्तृत होने के कारण भी उसके द्वारा बोलने वाले शिव पंचवक्त्र हैं । 'वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वे. ६.१८), 'निःश्वसितमेतद्' (बृ. २.४.१०), आदि श्रुति शिव की वेदवक्त्रता में प्रमाण है । इस प्रकार आदिगुरु रूप का स्मरण है ।

शिव की पंचमुख मूर्ति प्रसिद्ध ही है । शिवरहस्य के प्रथमांश में ही त्रयोदशाध्याय में इन पाँच श्लोकों द्वारा उन मुखों का मनोहारी वर्णन किया गया है–

प्रालेयामलमिन्दुकुन्दधवलं गोक्षीरफेनप्रभं
भस्माभ्यङ्गमनङ्गदेहदहनज्वालावलीलोचनम् ।
विष्णुब्रह्ममरुद्गणार्चितपदं ऋग्वेदनादोदयं
वन्देऽहं सकलं कलङ्करहितं स्थाणोर्मुखं पश्चिमम् ॥
गौरं कुङ्कुमपङ्किलं सुतिलकं व्यापाण्डुगण्डस्थलं
भ्रूविक्षेपकटाक्षवीक्षणलसत्संसक्तकर्णोत्पलम् ।
स्निग्धं बिम्बफलाधरं प्रहसितं नीलालकालङ्कृतं
वन्दे याजुषवेदघोषजनकं वक्त्रं हरस्योत्तरम् ॥
बालार्काग्नितडित्प्रतप्तकनकप्रस्पर्धितेजोऽरुणं
गम्भीरध्वनिसामवेदजनकं ताम्राधरं सुन्दरम् ।
अर्धेन्दुद्युतिलोलपिङ्गलजटाभारप्रबद्धोरगं
वन्दे सिद्धसुरासुरेन्द्रनमितं पूर्वं मुखं शूलिनः ॥
कालाभ्रभ्रमराञ्जनद्युतिनिभं व्यावृत्तपिङ्गेक्षणं
कर्णोद्भासितभोगिमस्तकमणिप्रोद्भिन्नदंष्ट्राङ्कुरम् ।
सर्पप्रोतकपालशुक्तिशकलै र्व्याकीर्णमाशेखरं
वन्दे दक्षिणमीश्वरस्य वदनं चाथर्वनादोदयम् ॥
व्यक्ताव्यक्तनिरूपितं च परमं षट्त्रिंशतत्त्वाधिकं
तस्मादुत्तरतत्त्वमक्षरमिदं ध्येयं सदा योगिभिः ।
ॐकारादिसमस्तमन्त्रजनकं सूक्ष्मातिसूक्ष्मं वरं
वन्दे पञ्चममीश्वरस्य वदनं खव्यापि तेजोमयम् ॥

महाभारत में (अनु. १४१.१-६) पाँच मुखों की उत्पत्ति यों बतायी है : तिलोत्तमा नाम की अप्सरा भगवान् को लोभित करती हुई उनकी प्रदक्षिणा करने लगी । वह जिधर-जिधर पँहुँचती गयी उधर ही भगवान् का मुँह प्रकट हो गया । यद्यपि यहाँ चार ही मुखों की उत्पत्ति का वर्णन है 'चतुर्मुखश्च संवृत्तः' (अनु. १४१.४), तथापि अनेक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

मुखों की यहाँ उत्पत्ति कही होने से इसे ही पाँच मुखों का उद्भव वर्णन मानकर भास्करराय कहते हैं–

सर्वेश ! ब्रह्मतत्त्वेन्द्रियविषयकलाभूतसादाख्यमूर्ति- ष्वेकैकश्येन पञ्चात्मसु तव वदनेष्वादिहीनेषु सत्सु ।
योऽयं सुन्दोपसुन्दासुरहनननिमित्ताप्सरस्तल्लजेक्षा- प्रादुर्भावः स तद्भक्त्यतिरभसकृतेऽजायथाः पञ्चवक्त्रः ॥९८॥

हे सर्वेश्वर ! ब्रह्म, तत्त्व, इन्द्रिय, विषय, कला, भूत, सादाख्य और मूर्ति–इन प्रत्येक पंचकरूप आपके मुखों के अनादि होते हुए भी जो यह सुन्द व उपसुन्द को मारने के लिये बनायी श्रेष्ठ अप्सरा को देखने की इच्छा से उन मुखों का प्रादुर्भाव आपने कहा है वह उसकी आपके प्रति अत्यन्त भक्ति के कारण ही है । यों आप भक्तिपरवश हुए पाँच मुँह वाले हो गये ।

ब्रह्म आदि पंचक पुराणों व आगमों में प्रसिद्ध हैं । वे ही शिव के मुख हैं, यह भाव है । सुन्द व उपसुन्द के संहारार्थ तिलोत्तमा की सृष्टि, उसके द्वारा देवमण्डल की परिक्रमा करने पर महादेव के चार मुँह होना, उसका सुंद व उपसुन्द को लुभाकर एक दूसरे के वध का कारण बनना आदि महाभारत के आदिपर्व में (अ. २१०–२११) वर्णित है । यद्यपि तत्रत्य वर्णन तिलोत्तमा की प्रशंसा के लिये है तथापि कवि का अभिप्राय है कि भगवान् ने यह दिखाकर कि जो मैं पार्वती से मुग्ध न किया जा सका वह मैं कामशरपात के बिना ही तिलोत्तमा पर मुग्ध हूँ अतः इसके सौन्दर्य का क्या कहना ! यों उसके माहात्म्य को बढ़ाने में भी कारण था उसकी शिवभक्ति । प्रेमवशात् पितादि पुत्रादि को कहते हैं 'मेरी सारी मेहनत केवल तुम्हारे लिये है', जबकि अन्य भी कारण होते ही हैं व पुत्रादि से पूर्व भी मेहनत की जा चुकी होती है, वैसे पहले से ही पंचमुख रहते हुए भी महादेव ने तिलोत्तमा की भक्ति से प्रसन्न होकर यह प्रसिद्ध कर दिया कि वे उसके लिये पंचमुख हुए ।

ब्रह्म आदि पञ्चकों का संक्षेप यह है–ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव, सद्योजात– ये पंचब्रह्म हैं ।

अथान्याश्चापि तनवः पंच ब्रह्मसमाह्वयाः । तनूभिस्ताभिरव्याप्तमिह किंचिन्न विद्यते ॥
ईशानः पुरुषोऽघोरो वामः सद्यस्तथैव च । ब्रह्माण्येतानि देवस्य मूर्त्तयः पंच विश्रुताः ॥
शिवपु. वा. उ. ३.३-४ ॥

पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार और मन–ये पाँच तत्त्व हैं । ईशानादि द्वारा अधिष्ठित इन तत्त्वों को वहीं पुराण में (श्लो. ६–१०) बताया है । श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ प्रसिद्ध ही हैं । कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों का सम्मिलित वर्णन ईशानादि-अधिष्ठितरूप से वहीं (श्लो. ११-१५) किया गया है । वाक्, पाणि, पाद, पायु,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
उपस्थ ये कर्मेन्द्रियाँ हैं । शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध—यह विषय पंचक है । वचन, ग्रहण, गमन, विसर्ग, सुखभोग—ये कर्मेन्द्रियों के विषय बताये गये हैं (पंचीकरणवार्ति. १९-२३) । निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यतीत—ये पाँच कलायें हैं । इन्हें भी वायुसंहिता के ही पूर्वखण्ड में (२९.११-२३) सूचित किया है । पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश—यह भूतपंचक हैं । शिवसादाख्य, मूर्तसादाख्य, अमूर्तसादाख्य, कर्तृसादाख्य और कर्मसादाख्य—ये पाँच सादाख्य आगम प्रसिद्ध हैं । ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महादेव और सदाशिव—यह मूर्तिपंचक शिवपुराण में ही कहा गया है—

ब्रह्मा विष्णुस्तथा रुद्रो महादेवः सदाशिवः । मूर्तयस्तस्य विज्ञेया याभिर्विश्वमिदं ततम् ॥
वा. उ. ३.१ ॥

वृत्त स्रग्धरा है—'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' । इसमें प्रतिचरण क्रमशः मगण, रगण, भगण, नगण और तीन यगण होते हैं तथा सातवें, चौदहवें व इक्कीसवें अक्षर पर यति होती है ।

(५३) सदाशिवः —नित्य कल्याणस्वरूप । सभी पदार्थ कभी न कभी किसी न किसी का कल्याण करते हैं एवं आनन्द देते हैं अतः प्रिय भी होते हैं । किन्तु आत्मस्वरूप तो नित्य कल्याणरूप अतः नित्य प्रिय है । इसलिये आत्मा सदाशिव है । अतः नित्य कला उनकी आनन्द है ।

'सदाशिवोम्' (महा. १७.५) 'चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः' (कैवल्य. १.१८) आदि श्रुतियों में यह नाम प्रसिद्ध है । यद्यपि शिवशब्द भी निरवच्छिन्न शिवत्व के बोध के लिये पर्याप्त है तथापि काल्पनिक अशिवत्व की भी व्यावृत्ति के लिये सदा शब्द है । जैसे कौन्तेय में काल्पनिक राधेयत्व रहा था वैसे भी शिव में अशिवत्व नहीं रहता, यह तात्पर्य है । 'शिवदृष्ट्याऽशिवं नैव जीवदृष्ट्याऽशिवं जगत्' इत्यादि न्याय समझना चाहिये । अथवा शैवों की दृष्टि से ज्ञानशक्ति के उद्रेक वाले शिव का नाम सदाशिव है । 'सदाशिवत्वमुद्रेकात्' (शिवदृष्टि १.३०) सोमानंद के इस वचन का उत्पलदेव ने संक्षिप्त अर्थ किया है— 'कदाचित् पुनः ज्ञानशक्तिरूपत्वात् सदाशिवरूपं बिभर्ति ।' इन्हीं ने स्वयं इसका उल्लेख ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में (३.१२) यों किया है—

किन्त्वान्तरदशोद्रेकात् सादाख्यं तत्त्वमादितः ।

सादाख्यतत्त्व सदाशिव ही है, जैसाकि वहीं अभिनव गुप्त ने विमर्शिनी में लिख दिया है—

'ततश्चान्तरी ज्ञानरूपा या दशा तस्या उद्रेकाभासने सादाख्यं—सदाख्यायां भवम्, यतः प्रभृति सदिति प्रख्या, सदाख्यायाश्च सदाशिवशब्दरूपाया इदं वाच्यं तत्त्वम् ।'

औपनिषद भाषा में 'तदैक्षत' (छां. ६.२.३) स्थिति वाला चैतन्य सदाशिव है । इस प्रकार प्रथम 'शिव' नाम से वैलक्षण्य स्फुट है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आलवाल व्याख्यान है–

यो विधीश्वरदृशा सदाशिवः तद्दृशाऽपि खलु यः सदाशिवः ।
तस्य कालकलना क्व ते तद- स्यौपचारिकतया सदाशिवः ॥५९॥

ब्रह्मादि ईश्वरान्त मूर्तियों की दृष्टि से जो सदाशिव मूर्ति है, उसकी दृष्टि से भी जो निश्चय ही सदाशिव हैं उन आपकी कालगणना कहाँ संभव है ? अतः सदाशिव आपका औपचारिक नाम ही है ।

ब्रह्मादि पाँच मूर्तियाँ पूर्व नाम के प्रसंग में आ चुकी हैं । उनमें उत्तरोत्तर की शुद्धता इष्ट है । ईश्वर अर्थात् क्रियाशक्ति के उद्रेक वाला रूप, जैसाकि शिवदृष्टिवृत्ति में (१.३०.३१) उत्पलदेव ने बताया है 'ऐश्वरीं तु स्थितिं कदाचित् क्रियाशक्तेः समाभोगात् = पर्यन्तप्राप्तविस्ताराद् विभर्ति ।' प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में गुप्तोक्ति भी है–'बहिर्भावस्य क्रियाशक्तिमयस्य परत्त्वे = उद्रेकाभासे सति पारमेश्वरं = परमेश्वरशब्दवाच्यमीश्वरतत्त्वं नाम ।' इसकी अपेक्षा भी सदाशिव सूक्ष्म है । किन्तु परमशिव तो उससे भी सूक्ष्मतर हैं, अतः कहा कि वे सदाशिव की अपेक्षा भी सदाशिव हैं । सदाशिवमूर्ति की कालगणना पुराणों में है जिससे उनका सदातनत्व भी सापेक्ष है पर परमशिव तो निरपेक्ष सदातन हैं, उनको काल विषय ही नहीं करता । अंतिम चरण को साध्याहार अन्वित करना चाहिये– तत्तस्मादस्य तव सदाशिव इत्याख्यौपचारिकतयैवास्ते' । कालगणना के विषय में सूतसंहिता (शिवमाहा. अध्य. ८) दर्शनीय है । शिवपुराण की वायुसंहिता में (पूर्व. अध्य. ८) भी कालविचार कर सदाशिव तक ही कालपेक्षा बतायी है, शिव में उसका निषेध किया है–

ब्रह्मा विष्णोर्दिने चैको विष्णू रुद्रदिने तथा । ईश्वरस्य दिने रुद्रः सदाख्यस्य तथेश्वरः ॥
साक्षाच्छिवस्य तत्संख्यस्तथा सोऽपि सदाशिवः । चत्त्वारिंशत्सहस्राणि पञ्चलक्षाणि चायुषि ॥
तस्मिन् साक्षाच्छिवे नैषः कालात्मा सम्प्रवर्तते ।.....
अहर्न विद्यते तस्य न रात्रिरिति धारयेत् ॥ एषोपचारः क्रियते लोकानां हितकाम्यया ॥
२४-२८ ॥

अर्थात्–विष्णु के एक दिन पर्यन्त ब्रह्मा रहते हैं, रुद्र के एक दिन तक विष्णु रहते हैं, रुद्र ईश्वर के एक दिन तक रहते हैं, तथा सदाशिव के एक दिन तक ईश्वर की स्थिति है । सदाशिव भी साक्षात्-शिव के एक दिन तक ही रहते हैं । सदाशिव की अवस्था में पाँच लाख चालीस हजार ईश्वर हो जाते हैं । उस साक्षात्-शिव के लिये तो काल प्रवृत्त ही नहीं होता । समस्त सृष्टिकाल उसका दिन और सारा प्रलयकाल उसकी रात कही जाती है । किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि शिव का न दिन है, न रात; यह तो हम लोगों को समझाने के लिये उनके दिन आदि का उपचार है ।

रथोद्धता छंद है । 'रात् परै र्नरलगै रथोद्धता'–प्रतिपाद रगण, नगण, रगण, लघु व गुरु वर्ण होने पर रथोद्धता छन्द होता है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(५४) विश्वेश्वरः –समस्त चराचर जगत् के श्रेष्ठ शासक । शिव ही सबके ईश्वर होने से ईश्वरशब्द का संस्कृत में अर्थ ही शिव होता है । अथवा, जाग्रत् के अभिमानी विश्वसंज्ञक जीवों का पदार्थभोग आदि में नियमतः शासन करने से वे विश्वेश्वर हैं । स्वप्न में तो जीव सृष्टि करने में स्वतन्त्र है, जाग्रत में नहीं । पुराणदृष्टि से काशी में विश्वेश्वर प्रसिद्ध ही हैं ।

यह भी उपनिषद् व गीता में प्रसिद्ध भगवन्नाम है । मैत्रायणी उपनिषत् में (५.१) आया है–

विश्वेश्वर नमस्तुभ्यं विश्वात्मा विश्वकर्मकृत् । विश्वभुग् विश्वमायुस्त्वं विश्वक्रीडारतिः प्रभुः ॥

गीता में (११.१६) 'विश्वेश्वर विश्वरूप' आदि आया है । विश्वेश्वरता की प्राप्तिं का उपाय श्वेताश्वतर बताती है–

ज्ञात्त्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैः जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥ १.११ ॥

महेश्वर और अनीश्वर के क्रम में यह तृतीय विश्वेश्वर है । महेश्वर से स्थितिहेतुता, अनीश्वर से स्वातन्त्र्यद्योतित उत्पत्तिनिमित्तता और विश्वेश्वर से उपादानता पता चलती है–विश्वश्चासावीश्वरश्च, वह ईश्वर रहते हुए ही विश्वरूप से उपलब्ध हो रहा है । वेदान्तमर्यादा में शिव ही अभिन्न निमित्तोपादान है । अविद्या भी अज्ञात शिव से अतिरिक्त कुछ नहीं है । स्वयं वार्तिककारने (बृ. १.४.४२०) वेदान्त को अज्ञानवाद न कह अज्ञातात्मवाद कहा है–

मिथ्याज्ञानातिरेकेण नान्यदज्ञानमिष्यते । येषान्तान् प्रति चोद्यं स्यान्नत्वज्ञातात्मवादिनाम् ॥

अतएव बृहद्भाष्य की टीका में आनन्दगिरि स्वामी कहते हैं 'अस्ति हि संसारस्य मूलं····· तच्चाज्ञातं ब्रह्मैवेति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम्' (१.४.७. पृ. ६७) । उसी प्रसंग में भाष्यकार ने नामरूप अर्थात् समस्त जगत् को शिवरूप बता दिया है '·····यदात्मके नामरूपे·····' (पृ. ६८) । रजत शुक्त्यात्मक न होगा तो किमात्मक होगा ? अज्ञानात्मक कहना इसलिये उचित नहीं क्योंकि अज्ञान स्वयं मिथ्या होने से अन्यात्मक–आत्मात्मक–होना निश्चित है । अतः विश्वरूप में जो उपस्थित हैं वह ईश्वर विश्वेवर है । अथवा विश्वेश्वर का ईश्वर विश्वेश्वर है, 'ईश्वर' इस मध्यमपद का लोप है । इस प्रकार निमित्त व उपादान दोनों के अधिष्ठान का लाभ होता है । अथवा, ईश्वर का परिचायक होने से विश्व ही शिव का ईश्वर है– विश्व न होता तो हमारे द्वारा शिव जाना न जा सकता था । इस प्रकार शिवज्ञान पर विश्व का नियन्त्रण होने से विश्वं ईश्वरो यस्य यह विग्रह संभव है । इसमें 'तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय' (बृ. २.५.१९) आदि शातपथी श्रुति प्रमाण है । इस वेदवाक्य का व्याख्यान करते हुए भाष्य में स्पष्ट कहा है–

'तदस्यात्मनो रूपं प्रतिचक्षणाय = प्रतिख्यापनाय । यदि हि नामरूपे न व्याक्रियेते तदास्यात्मनो निरुपाधिकं रूपं प्रज्ञानघनाख्यं न प्रतिख्यायेत ।' (पृ. २१३-२१४) ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्लोकमयी व्याख्या तो यह है–

केवलं चिन्मयज्योतिरात्मैव काशी तेन सर्वाणि विश्वान्यतीताऽपि विश्वम् ।
तत्र वासात् परिच्छेदबुद्ध्या गृहीतः काशिकाधीश्वरोऽपीश ! विश्वेश्वरस्त्वम् ॥६०॥

हे ईश ! केवल ज्ञानज्योति-रूप आत्मा ही काशी है । अतः सब प्रपंचों से काशी अतीत है, फिर भी वह विश्वान्तर्गत है ऐसा व्यवहार होता ही है । क्योंकि आप वहाँ रहते हैं अतः परिच्छिन्न बुद्धि से आप काशी के अधीश्वर रूप से जाने जाने पर भी वस्तुतः विश्वेश्वर हैं ।

'ज्ञानप्रवाहा विमलादिगङ्गा', 'सच्चित्सुखैका परमात्मरूपा' आदि काशीपञ्चक में ज्ञानात्मकता काशी की बतायी गयी है । अतः वस्तुदृष्ट्या अध्यात्मादि पंचविध प्रपंचों से वह बहिर्भूत ही है । तथापि क्योंकि उपाधिसम्वद्ध ही ज्ञान उपलब्ध होता है इसलिये ज्ञान को भी भ्रम से उपाधिपक्ष का ही मानकर जगदन्तःपाती समझ लिया जाता है । यहाँ तक कि कुछ विचारक बुद्धिगोलक दिमाग में होने वाले रासायनिक या वैद्युत परिवर्तनों से अतिरिक्त ज्ञान स्वीकारना नहीं चाहते । अतः साम्प्रदायिक आचार्यों ने ज्ञानरूप आत्मा को इन मतवादों से सिद्ध न होने वाला बताते हुए उसका स्वरूप यों दिखाया है–'स्वप्रकाश अनुभवों की प्रक्रिया में विद्यमान सम्वद्ध इकाई आत्मा है' (बृहद्भाष्य की आंग्ल भूमिका पृ. ४९ पं. ४३) । यहाँ अनुभव 'विश्व' हैं और इकाई विश्वातीत है, किन्तु अनुभवों की प्रक्रिया में ही विद्यमान होने से उसे भी विश्व ही समझ लिया जाता है । अस्तु । उस वस्तुतः विश्वातीत और ज्ञानात्मक काशी में शिव का निवास है । कुण्ड में बदर की तरह काशी में शिववास विवक्षित नहीं किन्तु नित्य समव्याप्ति प्रतिपिपादयिषित है । निरुक्त काशी में शिवव्याप्ति होने से वहाँ शिव-निवास कह दिया है । एवमपि ऐसा मानते ही शिव में सीमा लग जाती है–शिव ज्ञानरूप ही हैं, अन्य रूप नहीं । यह हमारी बुद्धि की परिच्छिन्नता का फल है । हम हर वस्तु को देशादि-परिच्छिन्न ही देखते हैं । ज्ञान वस्तुतः परिच्छिन्न न होने से शिव भी वैसा नहीं है । तथापि हमें काशिकेश्वर से परिच्छेद भ्रम न हो इसलिये कृपा कर शिव ने विश्वेश्वर नाम अपना रख लिया है ।

उत्तरवाहिनी गङ्गा तट पर वरुणा व असी के मध्य बसी त्रिपुरारिपुरी काशी भी तीनों लोकों से न्यारी है । तपस्या करने का स्थान कहाँ ? इस आदिम जिज्ञासा की शान्त्यर्थ महादेव ने काशी का निर्माण किया था जहाँ प्रथमतः श्रीहरि ने तप किया जिस परिश्रम के फलस्वरूप प्रकट हुए जल में मग्न होती उसे देख शिव ने उसे अपने त्रिशूल पर टिका लिया था । बाद में यद्यपि मनुष्यों पर कृपाकर उसे त्रिशूल से उतारकर परमात्मा ने पृथ्वी पर भेज दिया तथापि अवान्तर प्रलयों में वे उसे पुनः त्रिशूल पर रखकर नष्ट होने से बचा लेते हैं । कर्मों को नष्ट करने वाली मोक्षनगरी होने से ही वह काशी है 'कर्मणां कर्षणाच्चैव काशीति परिपठ्यते' -इत्यादि समस्त वर्णन शिवपुराण में (कोटि: २२-२३) व्यक्त है । उसे शिव कभी नहीं छोड़ते अतः वही अविमुक्त कही जाती है । वहाँ विश्वेश्वर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नाम से महादेव सुप्रसिद्ध हैं। शिवपुराण, कूर्मपुराण (पूर्व. ३१.१२), मत्स्यपुराण (१८२.१७), सौरपुराण (अध्य. ५), महाभारत (वन. ८४.७९-८०) आदि ग्रंथों में व काशीखण्ड में विश्वेश्वरविषयक प्रभूत प्रतिपादन दर्शनीय है। यह काशी भी ज्ञानरूप इसलिये है कि यहाँ मरने पर शिव तारक ब्रह्म का उपदेश देकर मोक्ष दे देते हैं। इसमें शास्त्रकारों ने यह श्रुति प्रमाण मानी है–

'अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृतीभूत्वा मोक्षीभवति, तस्मादविमुक्तमेव निषेवेत अविमुक्तं न विमुंचेत्' (जाबालोप. १)।

यद्यपि यहाँ ज्ञानद्वार-कल्पना से कैवल्यमोक्ष की उपपत्ति करायी जा सकती है तथापि शिवपुराण में तो यह कहा है–

अन्यत्र प्राप्यते मुक्तिस्सारूप्यादि मुनीश्वराः। अत्रैव प्राप्यते जीवैः सायुज्या मुक्तिरुत्तमा ॥
को. रु. २२.२६ ॥

एवमपि त्रिलोकी में सर्वोत्तम शिवभूमि काशी है और वहाँ स्थित होते हुए भी महादेव विश्वेश्वर हैं यह निश्चित है।

प्रयुक्त वृत्त विश्वसंज्ञक है। 'रैश्चतुर्भिर्युतं गेन युक्तं च विश्वम्'–प्रतिपाद चार रगण व एक गुरुवर्ण होने से विश्व छन्द होता है।

(५५) वीरभद्रः –बहादुर, पर कल्याण करने वाले व सौम्यरूप वाले। वीर प्रायः अविचारशील होने से कल्याण का विचार नहीं करते तथा वेषभूषादि से भयंकर भी होते हैं। शंकर में वीरता होने पर भी भद्रता है। ब्रह्माकारवृत्ति से सारे प्रपंच को नष्ट करने से वे ही सबसे बड़े वीर हैं यह निर्विवाद है। इस नाश में कल्याण ही भरा है यह सभी मानेंगे। पुराणदृष्टि से तो कर्मनिष्ठ दक्ष को दण्ड देने के लिये शिव ने वीरभद्र को उत्पन्न किया था। वहाँ भी जड कर्मवादी को नष्टकर उसे शिवभक्त बनाकर भद्र ही किया।

विश्वेश्वर का अलङ्घ्यशासन है इसमें वीरभद्र प्रमाण है। वीरभद्र जिनका गण है वे भी वीरभद्र कहे जाते हैं (अष्टा. ५.२.१२७)। स्वयं भी शिव शत्रुनाशक होने से वीर हैं। अजति शत्रून् क्षिपतीति वीरः, अज गतिक्षेपणयोः (भ्वा. प. से.) धातोः 'स्फायितञ्चि.' (उणा. २.१३) इत्यादिना रक्, अजेश्च वी। और कल्याणकारी होने से भद्र हैं। भन्दते कल्याणं करोतीति, भदि कल्याणे सुखे च (भ्वा. आ. से.) धातोः 'ऋज्रेन्द्रा.' (उणा. २.२९) इत्यनेन निपातनाद् रन् नलोपश्च। अतः लोक में जो अपने को वीर समझता है या कल्याणकारी होने का दावा करता है वह यदि शिवपक्षपाती नहीं तो वस्तुतः अवीर व अकल्याणकारी होने से शिव का कोपभाजन होता है। वीरं स्वभाव से निर्वीर्य की गर्वोक्ति सहन नहीं करते। वीरतासंयोग से भद्रता में भी यह असहिष्णुता आ गयी है कि अभद्र के भद्रत्वदम्भ को नष्ट किये विना रहा न जा सके। वीरभद्र की उपासना यही है कि हम शिवपक्ष में ही वीरता व कल्याण देखने का अभ्यास करें, अशिव की प्रतीयमान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वीरतादि की उपेक्षा करें। तात्कालिक साफल्य न कल्याणकारी होना निश्चित है, न निश्चय ही वीरता का फल। वस्तुतः अभय ही वीरता है और अभिमानशून्यता ही भद्र है। इस प्रकार दैवी सम्पत्ति के प्रथम और अन्तिम गुण को (गी. १६.१-३) बताकर मध्य के सभी का सूचन वीरभद्र नाम कर रहा है। उस सम्पत्ति के लिये प्रयास ही वीरभद्र की उपासना है।

पौराणिक प्रसंगों पर आधारित भास्करीय व्याख्यान है–

श्रीगौर्या वीरः स्वीकृतः पुत्रबुद्ध्या क्रोधाग्निस्वेदोत्पादितो भद्रनामा।
भद्रायोगाद्वा राजपूर्वासशाली तद्वांस्तद्रूपस्त्वं ततो वीरभद्रः ॥६१॥

श्रीगौरी द्वारा वीरनामक आपका गण पुत्ररूप से स्वीकारा गया था और क्रोधाग्नि से हुए पसीने से आपने भद्रनामक गण उत्पन्न किया था, उन दोनों वाले आप वीरभद्र हैं। अथवा भद्रा के सम्बन्ध से वीर ही वीरभद्र है और उस वाले (उसके स्वामी) आप भी वीरभद्र हैं। राजपूः अर्थात् राजपुर क्षेत्र में वीरभद्रेश्वर रूप होने से भी आप वीरभद्र हैं।

वीरनामक गण को देवी द्वारा पुत्ररूप में स्वीकारना मत्स्यपुराण में (१५४.५४५-५५८) तथा अन्यत्र वर्णित है। क्रोधाग्नि से भद्रोत्पत्ति काशीखण्ड में (अध्य. ८९) कही गयी है–

ततस्तत्कोपजाद्वह्नेराविरास महाद्युतिः। भद्रस्तु प्रतिघाकारः कालमृत्युप्रकम्पनः ॥

प्रथम व्याख्यान में व्युत्पत्ति है–वीरश्च भद्रश्च वीरभद्रौ तावस्य स्त इति अर्शआद्यचि वीरभद्रः। द्वितीय व्याख्यान का आधार शिवपुराण की वायुसंहिता में (पूर्व. १९.२४) आयी कथा है जिसके अनुसार शिव ने वीरभद्र को और देवी ने (वहीं. श्लो. ३५) भद्रा को उत्पन्न किया जिसे वीरभद्र सहित दक्षयज्ञविध्वंसार्थ जाना था। वह भी युद्धरत हुई थी (वहीं अ. २१. श्लो. ९)। शिवपुराण के सतीखण्ड में (३२.२०-२५) वर्णन है कि जटा के बाल को शिव ने पत्थर पर पटका जिससे वह बाल दो टुकड़ों में फट गया, एक भाग से वीरभद्र और दूसरे से महाकाली उत्पन्न हुई। वह भी वीरभद्र सहित यज्ञविनाश के लिये गयी थी (वहीं. अ. ३३ श्लो. १२)। इसी प्रकार कूर्मपुराण में कहा है कि शिव ने वीरभद्र व उमा ने भद्रकाली को उत्पन्न किया और दोनों यज्ञस्थल की ओर गये (पूर्व. १५.३७-४३)। सौरपुराण में (७.४८-५२) भी दोनों की शिव व उमा से उत्पत्ति व यज्ञध्वंसार्थ प्रस्थिति का वर्णन है। इस अर्थ में वीरशब्द वीरभद्रपरक है क्योंकि नामैक देश के ग्रहण से भी नामी का बोध सत्या, भामा आदि में स्वीकृत है। भद्रशब्द से भद्रा की सहितता ज्ञात होती है। भद्रया सहितो वीरो वीरभद्रस्तद्वान् परमेश्वरोऽपि तथा। वेंकटाद्रि के निकट राजपुरम् क्षेत्र प्रसिद्ध है जहाँ वीरभद्रेश्वर प्रतिष्ठित हैं।

वैश्वदेवी छन्द है। 'बाणाश्वैश्छिन्ना वैश्वदेवी ममौ यौ'–इसमें प्रतिपाद क्रमशः दो मगण व दो यगण होते हैं तथा पाँचवें व बारहवें अक्षर पर यति होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(५६) गणनाथः —गणों को नाथने वाले । कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, अन्तःकरण, महाभूत, प्राण, कर्म, काम और अविद्या, इन आठों गणों को जीव से नाथने वाले होने से वेदों में शिव को गणनाथ कहा गया है । पुराणों में अपने सेवक गणों का शासन करने के लिये गणेश को उत्पन्न करने से भी वे गणनाथ कहे गये हैं । वस्तुतः जो वीर सब गणों को अर्थात् समूहों को नाथ सकता है वही उन सबमें समन्वय कर सकता है । शिव तत्त्व ही देह, समाज व ब्रह्माण्ड में समन्वय करने के कारण गणनाथ हैं ।

'गणपतिभ्यश्च वो नमः' आदि रुद्राध्याय इस नाम में प्रमाण है । अतः अर्जुन ने भी गणेशनाम से शिवप्रार्थना की है–

गणेशं जगतः शम्भुं लोककारणकारणम् । प्रसादये त्वां भगवन् सर्वभूतमहेश्वर ॥
महा. वन. कैरात. ३९.७९ ॥

कोश में भी गणाधिपतिशब्द शंकर का पर्याय प्रसिद्ध है 'स्याद् गणाधिपतिः पुंसि शङ्करेऽपि गजानने' (मेदिनी) । शिव इसलिये गणपति हैं कि वे गणनीय व प्रार्थनीय–चाहने योग्य– हैं । जिसे गिना जाये वह गण कहा जाता है, गण संख्याने (चु. उ. से.) धातु से कर्मणि निष्पत्ति से यह शब्द बना है । मूल्यवान् की ही गिनती होती है । शिव सर्वाधिक मूल्यवान् होने से गणं हैं । कई वस्तुयें मूल्य वाली होने पर भी सामान्यतः चाही नहीं जाती जैसे नीम की पत्तियाँ । किन्तु शिव ऐसे भी नहीं, सभी द्वारा चाहे जाने योग्य हैं–नाथ हैं । नाथृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु (भ्व. उ. से.) धातु से इस शब्द की निष्पत्ति है । सभी कल्याण के लिये आशान्वित होते ही हैं और उसकी याचना करते ही हैं । इस प्रकार गण व नाथ होने से शिव गणनाथ हों यह संगत है । वीरभद्रता गणता में और प्रजापतिता नाथता में हेतु है यह क्रमसंगति जाननी चाहिये । सांसारिक वस्तुओं से व्यवहार करने पर भी उनमें आदरदृष्टि न रखना और उनकी प्राप्ति के विषय में प्रारब्धाश्रित होने से निरीह रहते हुए शिव के प्रति ही आदर और तदर्थ ही इच्छा रखना गणनाथ की उपासना है । गणता के विषय में यह स्मर्तव्य है–

दैवतानि कति सन्ति चावनौ नैव तानि मनसो मतानि मे ।
दीक्षितं जडधियामनुग्रहे दक्षिणाभिमुखमेव दैवतम् ॥ दक्षिणा. १५ ॥

उत्पलदेव ने अपनी स्तोत्रावली में यही रहस्य यों बताया है–

त्वया निराकृतं सर्वं हेयमेतत्तदेव तु । त्वन्मयं समुपादेयमित्ययं सारसंग्रहः ॥ १२.१२ ॥

और नाथता के विषय में उपमन्यु के ओजस्वी तर्क महाभारत में (अनु. १४.१७८-२३७) अवश्य अनुसन्धेय हैं ।

भावव्युत्पत्ति से गणशब्द संख्यावाचक है गणनं गणः । संख्यानाथ भगवान् का यह नाम है यह बताते हुए आलवाल कहता है–

शशिकरगुणमुखसंख्यानां प्रमथतुषितमयमुख्यानाम् ।
अधिपतिरसि शिव ! कैलासे पुरि निवससि गणनाथस्त्वम् ॥ ६२ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हे शिव ! एक, दो, तीन आदि संख्याओं के आप अधिपति हैं; प्रमथ, तुषित, मय आदि गणों के आप अधिपति हैं; कैलासपुरी में इस नाम से प्रसिद्ध हुए रहते हैं अतः आप गणनाथ हैं ।

शशी एक का, कर (हाथ) दो का, व गुण (सत्त्वादिगुण) तीन का द्योतक है । क्योंकि शिव को सभी संख्यायें विषय करती हैं इसलिये वे संख्यानाथ हैं । 'एको देवः' (श्वे. ६.११), 'कत्येव देवा ? द्वाविति' (बृ. ३.९.४) 'त्रिविधं ब्रह्ममेतत्' (श्वे. १.१२), 'चतुर्थं मन्यन्ते' (मां. ७) तथा 'असंख्याता सहस्राणि ये रुद्राः' (शु. य. मा. ३२.५४) आदि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं । प्रमथ नाम शिवपारिषदों का है 'प्रमथास्तु गणाः स्मृताः' (हलायुध) । कालिकापुराण (अध्य. २९) के अनुसार इनकी संख्या छत्तीस करोड़ है । तुषित भी गणदेवताविशेष ही हैं । विभिन्न मन्वन्तरों में इनके नाम अलग-अलग होते हैं । विष्णुपुराण (१.१५.१२७–१३३) तथा मत्स्य पुराण (६.३–४) में इनका प्रसंग है । मन्वन्तरविशेष में इनके ये नाम भागवत में (४.१.७) दिये हैं–

तोषः प्रतोषः सन्तोषो भद्रः शान्तिरिडस्पतिः । इध्मः कवि र्विभुः स्वाहा सुदेवो रोचनो द्विषट् ॥

तुषिता नाम ते देवा आसन्········ ॥

मय नाम गन्धर्व का है–'मय उष्ट्रश्च गन्धर्वः' (अनेकार्थध्वनि.) । अथवा छन्दःशास्त्र प्रसिद्ध मगण, यगण आदि समझने चाहिये । 'छन्दांसि····· वदन्ति' (श्वे. ४.९) आदि वचन प्रमाण हैं । अड़सठ शिवक्षेत्रों की गणना करते हुए कैलास में गणनाथ नाम से भगवान् को स्थित बताया है ।

वृत्ता छन्द है । 'ननसगगुरुरचिता वृत्ता'–दो नगण, एक सगण व दो गुरु वर्ण प्रतिपाद हों तो वृत्ता छंद होता है ।

(५७) **प्रजापतिः** –प्रजाओं का पालन करने वाले । प्रजा वही है जो अपने से उत्पन्न हो । सारी सृष्टि शिव की ही प्रजा है । वे भोग, मोक्ष, दण्डव्यवस्था आदि से उसका पालन करने के कारण प्रजापति हैं । अथवा ब्रह्मा को भी प्रजापति कहते हैं । अतः ब्रह्मा की मूर्ति धारण करने से वे प्रजापति हैं ।

श्रौत साहित्य में समष्टि-अभिमानी को प्रजापति कहा गया है । सबसे तादात्म्य रखने वाले महादेव ही हैं । देव, दानव, यक्ष, राक्षस, किन्नर, मनुष्य, पशु आदि सभी से शिव का अटूट सम्बन्ध रहता है । अन्य देवी देवताओं के पूजकों में यह नानात्व दुर्लभ है । इसीसे आचार्य ने शिवचरण पर आश्रितों की लम्बी सूची बनायी है–

देवेभ्यो दानवेभ्यः पितृमुनिपरिषत्सिद्धविद्याधरेभ्यः साध्येभ्यश्चारणेभ्यो मनुजपशुपतज्जातिकीटादिकेभ्यः ।
श्रीकैलासप्ररूढास्तृणविटपिमुखाश्चापि ये सन्ति तेभ्यः सर्वेभ्यो निर्विचारं नतिमुपरचये शर्वपादाश्रयेभ्यः ॥ (पादादिकेशा. ४०) ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अथवा प्रजाओं के संसरण का कारण होने से शिव प्रजापति हैं। ऐतरेयोपनिषत् के (१.२.१) अनुसार देवताओं का इस संसार में पतन हुआ–'देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतन्'। अज्ञात हुए शिव ही इस पतन के कारण हैं। अतः प्रजाओं का पतन जिस कारण से हुआ वह प्रजापति है। अथवा जो स्वयं प्रजाओं में आ पड़ा है–'अनुप्राविशत्' (तै. २. ६), 'जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य' (छां. ६.३.२) 'प्रापद्यत' (ऐ. १.३.१२) 'निहितं गुहायाम्' (मुं. २.१.१०)–वही शिव प्रजापति है, पतनं पतिः। यही उनकी अहैतुक कृपा है कि हम उन्हें जानकर मोक्षसुख लें इसलिये वे स्वयं हमसे अभिन्न हुए उपस्थित हैं। सामान्यतः प्रजापति रहते हुए ही विशेषतः पशुपति हैं, यह जो उनका पशु हो चुका है वही जान सकता है।

भास्करव्याख्यान यह है–

अन्तरिक्षभूमिनाकसंस्थिता याः सहस्रशः सहस्रसंहिताः।
रुद्रनामिकाः प्रजाः सृजत्यतः स्थाणुनामको भवान् प्रजापतिः॥ ६३॥

भूमि, अन्तरिक्ष व स्वर्ग में जो रुद्र नाम वाली हज़ारों प्रजायें हैं उन्हें आप हज़ार-हज़ार कर उत्पन्न करते हैं इसलिये आप प्रजापति हैं। स्थाणु नाम वाले प्रजापति होने से भी प्रजापति हैं।

'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधिभूम्याम्', 'येऽन्तरिक्षे ये दिवि येषाम्' (रुद्राध्या. तै. अनु. ११) आदि श्रुति स्मर्तव्य है। एक-एक, दो-दो उत्पन्न न कर हर बार हजारों उत्पन्न करते हुए बार-बार उत्पन्न करते हैं अतः कहा 'हज़ार-हज़ार कर'। स्थाणु नामक प्रजापति ब्रह्मा के ललाट से उत्पन्न हुए थे, यह वाराहपुराण में गौरीविवाह प्रकरण में वर्णित है।

वृत्त का श्येनी नाम है। 'श्येन्युदीरिता रजौ रलौ गुरुः'–चारों चरणों में क्रमशः रगण, जगण, रगण, लघु व गुरु वर्ण होने पर श्येनी छंद होता है।

(५८) हिरण्यरेता–हित व रमणीय वीर्य वाले। वीर्य से उत्पत्ति होती है। शिव हितकारी व रमणीय सृष्टि, वेद व ज्ञान को उत्पन्न करते हैं, अतः हिरण्यरेता हैं। अथवा उनका सभी श्रम (वीर्य) हित के लिये एवं रमणीयता के लिये होता है। वे कभी न अहित करते हैं न असुन्दर करते हैं। इसलिये सृष्टि इतनी सुंदर है। शिवभक्त जहाँ भी होगा, इन्हें बढ़ायेगा। इस प्रकार वे हिरण्यरेता हैं।

स्वर्ण इसलिये हिरण्य कहा जाता है कि वह एक से दूसरे द्वारा ले लिया जाता है, वह मुद्रारूप में विनिमय का साधन है। हर्य गतिकान्त्योः (भ्वा. प. से.) धातु से औणादिक (५.४४) कन्यन् प्रत्यय और प्रकृति को हिरच् आदेश हो हिरण्य शब्द बनता है। निरुक्तकार की दृष्टि से तो हृञ हरणे (भ्वा. उ. अ.) धातु से बाहुलकात् उक्त प्रत्ययादि होकर हिरण्य शब्द बनता है, अतएव उन्होंने इसकी व्याख्या की है 'ह्रियते आयम्यमानमिति वा, ह्रियते जनाज्जनमिति वा' (नि. २.३.१०)। इसी प्रकार रीङ् स्रवणे (दि. आ. से) धातु से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizaqtion by eGangotri
औणादिक प्रक्रिया द्वारा (४.२०३) असुन् प्रत्यय व तुट् आगम ही रीयते स्रवतीति रेतः शब्द सिद्ध होता है। शुक्र भी वहने वाला होने से रेतस् कहलाता है। प्रजोत्पादक की विशेषता हिरण्यरेतस्त्व वताना इस नाम का कार्य है। क्योंकि वीज ही हिरण्य है—कान्तिमान अर्थात् ईप्सित है—अतः प्रजा की हिरण्मयता असन्दिग्ध है। अथवा हिरण्यशब्द हिरण्यगर्भपरक है। हिरण्यगर्भ ही शिव का रेतस् है। समष्टि उपाधि में अभिमानी हिरण्यगर्भ है। अभिमानी चिदाभास ही होता है जो शिवरूप चित् का आभासरूप रेतस् है। इसमें 'मम योनि र्महद्‌ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' (गी. १४.३) यह गीता और उसकी शाङ्करव्याख्या प्रमाण है। अथवा 'हिरण्यरेता हुतभुग्' (अमर.) आदि कोष से अग्नि का नाम हिरण्यरेता होने से यहाँ शिव की अग्निमूर्ति को स्मरण किया है। यह अत्यन्त उपकारी प्रभुतनु है जिसके लिये भट्ट जगद्धर ने भावमय नमस्कार यों अर्पित किया है—

यं मुक्त्वा जीवयन्तं जगदगदमदः सन्ततं सन्तमन्त-

जर्न्तूनां शीतभीतिप्रकटितविपदामस्ति न स्वस्तिहेतुः।

गीर्वाणानां हविर्भिर्ग्लपयति विपदं यज्वनामप्यनल्पैः

सङ्कल्पैः कल्पितै र्यः स भवति विभवः पावकस्ते नमस्ते ॥ ३३.३८ ॥

अर्थात् जो जठराग्नि रूप से जन्तुओं के अन्दर रहकर उन्हें नीरोग रखते हुए (अदः जगत्) इस (परोक्षअपरोक्षसाधारण) जगत् को जीवित रखता है, जिसे छोड़ शीत से बचाने वाला कोई नहीं, देवताओं की क्षुधारूप विपत्ति को हवि पहुँचाकर जो तृप्त करता है और अनेक संकल्प पूरे कर यज्ञकर्त्ताओं को तृप्त करता है, वह अग्नि जिसका वैभव है उस आपकी अग्निमूर्ति को नमस्कार है।

अग्नि की हिरण्यरेतस्ता में कारण है कि एक बार देवसभा में वैठे अग्नि का वीर्य रम्भा को देख क्षरित हो गया था जिससे सोना बना है। यह कथा ब्रह्मवैवर्तपुराण में श्रीकृष्णजन्मखण्ड के एकसौ इकतीसवे अध्याय में (श्लो. ३३-३७) आयी है। इसी घटना का स्मरण कर उपमन्यु ने कहा है 'कस्य वान्यस्य रेतस्तद् येन हैमो गिरिः कृतः ?' (महा. अनु. १४.२१६)। अतएव नीलकण्ठ दीक्षित ने शिवोत्कर्षमञ्जरी में (३) घोषित किया है 'यद्वीर्यं भुवि दक्षिणेति विदितं यज्ञेषु सर्वेष्वपि'। स्वकीय उपाधि में पड़े शिववीर्य को पहचानने का प्रयास, जो कुछ हम उत्पन्न करें व हिरण्यरूप हो यह कोशिश और अग्नि की परिचर्या हिरण्यरेता की उपासना है।

आलवाल की व्याख्या है—

त्वद्वीर्ययोगेन भवेद्धिरण्यं यद्वाग्निरूपोऽस्यथ वा जलार्धे।

त्यक्तेन वीर्येण बभूव हैम - मण्डं तदीशासि हिरण्यरेताः ॥ ६४ ॥

हे ईश ! आपके वीर्य के सम्बन्ध से सोना बनता है, अतः आप हिरण्यरेता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हैं । अथवा आप अग्निरूप होने से हिरण्यरेता हैं । या जल में आपके द्वारा छोड़े वीर्य से स्वर्णमय ब्रह्माण्ड बना इससे आप हिरण्यरेता हैं ।

पारद को शिववीज कहते हैं । पारे से सोना बनता है यह रसरत्नाकर आदि ग्रंथों में व मातृकाभेदतन्त्र में (पटल ५) वर्णित है । यहाँ रेतस् को हिरण्यकारण होने से ही हिरण्य कह दिया है, जैसे लांगल को जीवन कहते हैं । अग्नि की शिवरूपता में 'अग्निरित्युच्यते रौद्री घोरा या तैजसी तनुः' (वायुसं. पू. २८.३) आदि शिवपुराण तथा अन्य अनेक प्रमाण हैं । स्कन्दपुराण की सौरसंहिता में वर्णित है कि सर्गारंभ में रुद्र ने जल उत्पन्न कर उसमें वीर्य छोड़ा जो स्वर्णमय ब्रह्माण्डरूप में परिणत हो गया—

पुरस्तादण्डसर्गस्य ससर्जादौ द्विधा पुनः । अपामेकांशके विद्वान् स्वकं वीर्यमपासृजत् ॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।....

प्रयुक्त छंद इन्द्रवज्रा है । 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' यदि प्रतिपाद यथाक्रम दो तगण, एक जगण और दो गुरु वर्ण हों तो इन्द्रवज्रा छंद होता है ।

(५९) दुर्धर्षः —किसी से न दवने वाले । जिनसे उत्पन्न वीरभद्र ने दक्षयज्ञ में विष्णु को मार गिराया एवं जिन्होंने व्रह्मा का सिर नखों से नोच लिया, उन्हें कौन पराभूत करे ? वैसे, ज्ञान को दवाना या नष्ट करना असंभव ही है । अतः ज्ञानस्वरूप शिव दुर्धर्ष हैं ही । शिवभक्त भी इसीलिये कभी किसी से नहीं दव सकता । परिस्थितियों से दवने वाला कभी शैव नहीं होता ।

समस्त संसार शिवप्रजा है । सिंहशावक भी होता सिंह ही है । प्रजा से प्रजापति का पराभव अत्यंत असंभावित नहीं । उस संभावित पराभव का निषेध दुर्धर्ष नाम कर रहा है । दूसरे की सत्ता को अविद्यमानसम कर उसे अपनी सत्ता के अधीन करना उसे पराभूत करना कहा जाता है । सत्तारूप होने से शिव का ऐसा पराभव शक्य नहीं । किसी की शक्ति को कुण्ठित करना भी उसका पराभव करना प्रसिद्ध है । शिव की शक्ति अनन्त होने से कुण्ठित नहीं की जा सकती । कोई शुक, वामदेव आदि पुरुषधौरेय यदि अविद्याशक्ति पर विजय पा भी लें तो विद्याशक्ति फिर भी अजेय है । धर्षण अपमान करने को भी कहते हैं । अतः जिसका धर्षण दुःख के लिये ही हो, दुःखी ही करे, वह दुर्धर्ष है । दक्षयज्ञादि की कथा में यह प्रसिद्ध है । इकट्ठा होना अर्थ वाला धृष.संहतौ (भ्व. प. से.) धातु भी कविकल्पद्रुम आदि में प्रोक्त है । अतः कठिनाई से ही जिससे एक हुआ जा सके वह भी दुर्धर्ष है । अथवा तप को दुर्धर्ष कहते हैं 'यद्धि परं तपस्तद् दुर्धर्षम्' (महा. २१.२) इत्यादि । नित्य तपस्वी होने से भी शिव दुर्धर्ष है । वस्तुतः दृग्वस्तु ही वाधावधिभूत होने से सर्वाधिक प्रगल्भ अतः दुर्धर्ष है । उससे शिव का ऐक्यानुसन्धान ही दुर्धर्ष की उपासना है । तत्साधनभूत आलोचनशरीर तप, या कायिकादि तप भी उसकी ही पूजा है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भास्करराय इसका यों वर्णन करते हैं–

कैलासे शिखरिणि पौलस्त्य- प्रागल्भ्यं तृणसमतां प्राप ।
एवं सत्यभिभवकारी क- स्तस्मात्त्वं भवसि हि दुर्धर्षः ॥ ६५ ॥

रावण का सारा बल कैलास पर्वत पर तिनके के समान तुच्छ हो गया । रावण जैसे महाबली का यह हाल होने पर अन्य तो कौन आपका अभिभव करने वाला हो सकता है ? अतः किसी से अभिभूत न होने वाले आप दुर्धर्ष हैं ।

रामायण उत्तरकाण्ड में (अध्य. १६) कथा आयी है कि एक बार रावण शरवण के निकट से जा रहा था तब उसका विमान अवरुद्ध हो गया । शिवगण नन्दी ने उपस्थित होकर बताया कि उस पर्वत पर भगवान् शंकर क्रीडा कर रहे हैं अतः वहाँ सभी का जाना निषिद्ध है । इससे उत्तेजित हो रावण ने कहा–

पुष्पकस्य गतिश्छिन्ना यत्कृते मम गच्छतः । तमिमं शैलमुन्मूलं करोमि तव गोपते ॥२३॥

अर्थात् हे पशुपते ! जिस पर्वत के कारण मेरा पुष्पक रुक गया है मैं उसे ही उखाड़ फेंकता हूँ तथा उसने शंभु के प्रति भी कहा–

केन प्रभावेण भवो नित्यं क्रीडति राजवत् । विज्ञातव्यं न जानीते भयस्थानमुपस्थितम् ॥२४॥

अर्थात् शंकर प्रतिदिन यहाँ किस बल पर राजा की तरह क्रीडा करते हैं ? उन्हें यह भी पता नहीं कि उनके भय का कारण मैं आया हुआ हूँ ! यह कहकर उसने पर्वत के निचले भाग में अपने हाथ लगाकर उसे उठाने की कोशिश की । पर्वत के हिलने से गणों सहित भगवती उमा डर गयीं । तब भगवान् ने अनायास ही अपने पैर के अँगूठे से पर्वत को दबाया जिससे रावण की भुजायें, जो पहले यों लगती थीं मानो पहाड़ के खम्भे हों, पहाड़ के नीचे दब गयीं–

ततो राम महादेवो देवानां प्रवरो हरः । पादाङ्गुष्ठेन तं शैलं पीडयामास लीलया ॥
पीडितास्तु ततस्तस्य शैलस्तम्भोपमा भुजाः । विस्मिताश्चाभवंस्तत्र सचिवास्तस्य रक्षसः ॥ २७–२८ ॥

यों अगतिक होने पर रावण ने हज़ार साल तक हाथ की पीडा से रोते हुए शिवस्तुति की जिससे प्रसन्न होकर भगवान् ने उसे क्षमा कर छोड़ दिया और क्योंकि उसने इतना राव (आर्तनाद) किया था इसलिये उसे रावण नाम दे दिया । इसी लीला को पुष्पदन्ताचार्य ने महिम्नस्तोत्र में यो उपनिबद्ध किया है–

अमुष्य त्वत्सेवासमधिगतसारं भुजवनं बलात् कैलासेऽपि त्वदधिवसतौ विक्रमयतः ।
अलभ्या पातालेऽप्यलसचलिताङ्गुष्ठशिरसि प्रतिष्ठा त्वय्यासीद् ध्रुवमुपचितो मुह्यति खलः ॥१२॥

प्रकृत छंद का नाम पणव है । 'म्नौ य्गौ चेति पणवनामेदम्'–प्रतिचरण मगण, नगण, यगण और एक गुरु वर्ण हो तो पणव नामक वृत्त होता है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(६0) गिरीशः —(कैलास) पर्वत के मालिक। यहाँ अधिदैव आदि पाँच भेदों वाला कैलास समझना चाहिये। अध्यात्म में तो सहस्रार के ईश्वर से ही तात्पर्य है। भावुक भक्त तो गिरिनामा दशनाम परमहंसों के उपास्य इष्ट होने से उन्हें गिरीश कहते हैं।

दुर्धर्षता के लिये आवश्यक है कि निकट में कुछ ऐसा न हो जिसकी रक्षार्थ या प्राप्त्यर्थ अन्य से दबना पड़े। अतएव शम्भु संसार के चाकचिक्य को छोड़ पर्वत पर विचरते हैं। निर्विशेष का धर्षण किस विशेष के बल से होगा ? 'प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात्' न्याय से जो भी भावरूप या अभावरूप विशेष शिव की ओर जायेगा वह दावानल की ओर गये शुष्कतृण की तरह उन तक पहुँचने के पूर्व ही रह नहीं जायेगा। पृथ्वी का धारण करने से या अपनी विशेषताओं के कारण स्तुत्य होने से ही पर्वत गिरि कहा जाता है : गिरति धारयतीति वा ग्रियते स्तूयत इति वा गिरिः; गॄ निगरणे (तु. प. से.) या गॄ शब्दे (क्र्या. प. से.) धातु से औणादिक प्रक्रिया द्वारा (उण. ४.१४४) गिरि शब्द बन जाता है। एवं च जो इस स्वरूप का होता है उसके शिव शासक होते हैं, अन्य शासक नहीं यह अर्थ है। 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणाना ँ राजा' (शत. ५.४.२) आदि श्रुति इसमें प्रमाण है। अथवा, मानो पृथ्वी ने उगल दिया हो—ऐसा लगने से—समुद्गीर्ण होने से—पर्वत गिरि हैं। 'समुद्गीर्णो भवति' (१.६.२0) इस निरुक्तोक्ति का अर्थ है 'भूमिकर्तृकं पर्वतस्य समुद्गिरणमिव लक्ष्यते'। इसी प्रकार जो साधक कर्मप्रधान समाज से मानो उगल दिये गये हैं उन संन्यासियों के एकमात्र शासक होने से शिव गिरीश हैं। इन्हीं साधकों को अन्यत्र 'नित्याभियुक्त' (गी. ९.२२) कहा है। उक्त त्रिविध प्रकार से गिरि बनकर शिव को ही अपना ईश्वर जानना गिरीश की उपासना है।

आलंवालकर 'गिर्' शब्द से भी यह नाम निष्पन्न होता है यह बताते हुए व्याख्या करते हैं—

> भूरिगुणे पदवाक्ये निष्कलुषे सुसमर्थः ।
> पर्वतराडपि शम्भो ! तेन मतोऽसि गिरीशः ॥ ६६ ॥

हे शम्भो ! अनन्त गुणों वाले तथा निर्दुष्ट पदघटितवाक्य की रचना में सुतरां समर्थ होने से तथा पर्वतों के राजा होने से आप गिरीश माने गये हैं।

गॄ धातु से क्विवन्त गिर्-शब्द बनता है जिसका अर्थ सामान्यतः वाणी है पर यहाँ वेदवाणी विवक्षित है। वेदवाक्यों में अनन्त गुण हैं। अपूर्वोत्पत्ति के अतिरिक्त अनेक रहस्य प्रतिवाक्य में निहित हैं। साथ ही वेद की साहित्यिक काव्यमयी कोमल सुन्दरता और भावमयी भक्तिपूर्ण अभिव्यक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा आस्तिक-नास्तिक सभी मुक्तकण्ठ से करते हैं। इतना विस्तृत होने पर भी श्रुति का एक अक्षर भी व्यर्थ न होने से वह निर्दुष्ट है। अप्रमाण न होने से भी प्रतिवाक्य निर्दुष्ट है। ग्राम्यत्वादि कुत्रचित् उपलब्ध होने पर भी सन्दर्भ के लिये व धर्म के लिये आवश्यक होने से वे वहाँ दोष नहीं माने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जा सकते । पुनरुक्ति भी करुणावश स्पष्टतार्थ की गयी होने से दोष नहीं । ऐसी विशिष्ट शब्दराशि व ज्ञानराशि को विना प्रयत्न प्रकट करने वाले शिव ही हैं यह श्रुति-स्मृति में सर्वत्र प्रसिद्ध है । शिव पर्वतों के राजा हैं यह इससे पता चलता है कि पर्वतराज रूप से प्रसिद्ध हिमालय ईश्वर-विभूति है 'स्थावराणां हिमालयः' (गी. १०.२५) ।

चित्रपदा छन्द है । 'चित्रपदा यदि भौ गौ'—यदि प्रतिपाद, क्रमशः दो भगण व दो गुरु वर्ण हों तो चित्रपदा छन्द होता है ।

(६१) **गिरिशः** —कैलास पर्वत पर सोने वाले । ज्ञान के पूर्व सहस्रार में शिव सोते ही हैं ।

वेदवाणी में शयन करने से—वेद-प्रतिपाद्य होने से—शिव गिरिश हैं । गिरि शेतेऽसौ गिरिशः इस प्रकार विभक्ति का अलुक् है । आपाततः वेद के विवक्षित अर्थ को शिवेतर ही समझा जाता है इसलिये वे मानो सोये हैं, जगे हुए की तरह कह नहीं देते—'मैं हूँ' । 'गिरिश' शब्द में गिरि उपपद रहते शीङ् धातु से छान्दस ड प्रत्यय है—गिरौ डश्छन्दसि (वार्तिक) । अथवा 'प्रशस्त गिरि निवासरूप से जिनका है' इस तात्पर्य से भूमनिन्दादि वचन का अनुसरण कर मत्त्वर्थीय (५.२.१००) श प्रत्यय है; जैसा भट्टभास्कर ने रुद्राध्याय के (तै. अनु. १ ऋ. ५) भाष्य में कहा है 'यद्वा, प्रशस्तोगिरिरस्यास्तीति निवासत्वेनेति, लोमादिलक्षणः शः' । 'गिरिश' (तै. १.५), 'गिरिशाय' (तै. ५.६) आदि नमकाध्याय में यह नाम प्रसिद्ध है । गिरीश का अनुचर होने के लिये जिस पर अतिदृढ विश्वास जरूरी है वह गिरिश है । वेदप्रामाण्यसे तत्प्रतिपाद्य शिव में श्रद्धा के विना कभी किसी सिद्धान्त पर दृढ़ नहीं रहा जा सकता और न ही इतर देवी-देवताओं को अपना मालिक माने विना रहा जा सकता है । प्रामाणिकता शिव का सबसे बड़ा बल है । प्रमाणनिरपेक्ष स्वरूप वाले रहते हुए वे सर्वप्रमाणविषय हैं ! गिरिशब्द नेत्ररोग का भी वाचक है 'गिरि र्ना नेत्ररुग्भिदि' (मेदिनी) । अतः जिनके नेत्र रुग्ण हैं उनके लिये आप सोये की तरह नगण्य हैं यद्यपि अपने भक्तों को आप स्पष्ट भासित होते रहते हैं—'न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि' (महि. २६) । अथवा गिरिश का अर्थ है पूज्य शिव । गिरि पूज्य को कहते हैं 'गिरिः पूज्ये' (हेम.) । शब्दरत्नावली आदि में 'शः' शब्द शिवार्थक है । उपक्रमादिन्यायों से श्रुतिनिष्ठ शिव का निश्चय करना गिरिश की उपासना है । इसी का नाम श्रवण है । शिवगीता में (१३.२२) स्वयं महादेव ने रामचन्द्र जी को कहा है—

सर्ववेदान्तवाक्यानां मयि तात्पर्यनिश्चयम् । श्रवणं नाम तत् प्राहुः सर्वे ते ब्रह्मवादिनः ॥

आलवाल में गिरिशशब्द का यह अर्थ है—

मेरुपर्वतमपि धनु- र्हेतवे कृशयसितराम् ।
पर्वते नियससि सुखं नाथ ! तद्वदसि गिरिशः ॥ ६७ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हे नाथ ! अपना धनुष बनाने के लिये आप मेरु पर्वत को भी अपने सामने बहुत छोटा कर देते हैं, इसलिये आप गिरिश हैं तथा पर्वत पर सुख से रहते हैं इसलिये आप गिरिश हैं ।

त्रिपुरलीला में मेरु का धनुष बनना प्रसिद्ध है । अतः शिवोत्कर्षमञ्जरी में (५१) कहा है 'सारावद्रिषु कार्मुकं गृहमिति द्वौ हेम-रूप्यौ हृतौ' ! धनुष धनुर्धारी के सम्मुख अति छोटा दीखता ही है । शिव का पर्वतवास भी इसी नीलकण्ठीय वचन से सिद्ध है । प्रथम अर्थ में गिरिं श्यति तनूकरोति—यह व्युत्पत्ति है । द्वितीय अर्थ में शयन का ही अर्थ स्पष्ट करने के लिये सुख यह क्रियाविशेषण रखा है । सुखरूप से अवस्थान ही शयन है । इस अर्थ में पर्वत शब्द का अर्थ है जीव : जो पूरा करता है या प्रसन्न करता है वह पर्व है और पर्व वाला ही पर्वत है 'पर्ववान् पर्वतः । पर्व पुनः पृणातेः, प्रीणाते र्वा' (निरुक्त. १.६.२०) । खण्ड अनुभवों को अहंकार ही जोड़ता है और अविद्यावस्था में अहंकार ही हमें प्रसन्न करता है अतः यही पर्व है तथा यह जिस हमारा है वे हम जीव पर्वत हैं । उनमें सुखरूप से रहने वाले शिव ही गिरिश हैं । इसी तात्पर्य से भास्करराय ने अन्य पर्यायों की अपेक्षा पर्वत शब्द रखा है ।

छंद है हलमुखी । 'रान्नसाविह हलमुखी' इसमें प्रतिपाद रगण, नगण व सगण होते हैं । यद्यपि 'नखमुखात् संज्ञायाम्' (४.१.५८) से ङीष् का निषेध है तथापि संज्ञा होते हुए भी पिप्पल्यादिगण में मानकर हलमुखी शब्द साधु है ।

(६२) अनघः -पाप-रहित। जिनके ओझल होने से ही अविद्या सभी पापों की जननी बनती है एवं जिनसे नज़र मिलने मात्र से सारे पाप नष्ट होते हैं वे परम पवित्र किस प्रकार पापसम्बन्धी हो सकते हैं ?

अघि गतौ (भ्व. आ. से.) धातु से भोगेन दानादिना व अङ्घते गच्छतीति व्युत्पत्ति से अघ शब्द बनता है । कुछ व्याख्याता चुरादिगण में अघ पापे धातु मानते हैं (द्र. क्षीरतरंगिणी) । तब अघयतीति अघम् इस व्युत्पत्ति से अघ का अर्थ है पाप करना । यास्कमुनि तो जिसका स्वभाव ही है मारना—कष्ट देना—उसे अघ कहते हैं । आङ्पूर्वक हन्धातु से ड प्रत्यय (अष्टा. ३.२.१०१) कर पृषोदरादितया आङ् को ह्रस्व और हकार का घकार हो जाता है । निरुक्तोक्ति है 'अघं हन्ते र्निर्ह्रसितोपसर्ग आहन्तीति' (६.३.११) । 'निर्ह्रसितोपसर्गा' का अर्थ है जिसका उपसर्ग ह्रस्व कर दिया गया है । पाप कष्ट देता ही है यह निश्चप्रच है । पाप कुछ करने से होता है । शिव तो निष्क्रिय हैं (श्वे. ६.१९) अतः निष्पाप होंगे ही । अथवा अघशब्दसूचित पाप है युक्तिविरोधरूप दोष । शास्त्रतात्पर्य शिव निश्चित होने पर भी एकमात्र शिव का ही सत्य होना, उनसे भिन्न संसार और जीव का सर्वथा अभाव युक्तिसंगत नहीं—यह निश्चय ही पाप है । इसे अन्यत्र आत्मा का अपहरण रूप पाप कहा गया है । इस पाप से भी शिव अस्पृष्ट हैं क्योंकि उनका किसी से विरोध न होने के कारण युक्ति से भी कोई विरोध नहीं है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शिव की इस विलक्षणता को आचार्य ने जन्मादिसूत्र में यों बताया है–

'न धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादय एव प्रमाणं ब्रह्मजिज्ञासायाम्, किन्तु श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथासंभवमिह प्रमाणम्, अनुभवावसानत्वाद् भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य ।' (ब्र. सू. भा. १.१.२) । एवं च मननसिद्धता ही अनघता है । मनन का स्वरूप भी शिवगीता में (१३.२३) कहा गया है–

लोहमण्यादिदृष्टान्तयुक्तिभिर्यद्विचिन्तनम् । तदेव मननं प्राहु र्वाक्यार्थस्योपबृंहणम् ॥

अतः दुस्तर्क से विरत हो श्रुतिसम्मत तर्कों से शिव की अद्वितीयता का निश्चयरूप मनन अनघ की उपासना है ।

'अंहोदुःखव्यसनेष्वघम्' इस अमरकोष से पाप, दुःख व व्यसन–ये तीन अघशब्द के अर्थ जानकर भास्करराय की व्याख्या है–

दुःखं नाथ ! न ते पापं च व्यसनम् ।
त्रैलोक्याधिपते ! तस्मादस्यनघः ॥ ६८ ॥

हे नाथ ! हे त्रिलोकी के अधिनायक ! आपको कोई दुःख नहीं, आपका कोई पाप नहीं और आपको कोई व्यसन नहीं, अतः आप अनघ हैं ।

'परमः स्वराट्' (महाना. ११.१३) आदि श्रुति से त्रिलोकी की अधीश्वरता शिव की निश्चित होती है । 'अपहतपाप्मा' (छां. ८.१.५) आदि श्रुति से निष्पापता ज्ञात होती है । पाराशर्य सूत्र में भी पापरहिततंा को शिव का परिचायक धर्म कहा गया है (ब्र. सू. १.१.२०) । अतः भामती में कहा है–

सार्वात्म्यसर्वदुरितविरहाभ्यामिहोच्यते । ब्रह्मैवाव्यभिचारिभ्यां सर्वहेतु र्विकारवत् ॥

अतएव पापकार्य दुःख संभव नहीं । इसमें 'विशोकः' (छां. ८.१.५) 'कः शोकः' (ईश. ७) आदि श्रुतियाँ प्रमाण हैं । व्यसन विपत्ति को कहते हैं । इसमें 'जरां मृत्युमत्येति' (बृ. ३.५.१) आदि श्रुति प्रमाण है । अथवा व्यसन दोष को कहते हैं । व्यसननामक कुछ प्रमुख दोष मनुस्मृति में (७.४७–४८) बताये हैं–

मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः । तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥
पैशुन्यं साहसं द्रोहः ईर्ष्याऽसूयाऽर्थदूषणम् । वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोटष्टकः ॥

अर्थात् शिकार करना, जुआ खेलना, दिन में सोना (या मनोराज्य बनाते रहना), दूसरे के दोषों को कहते रहना, स्त्रैण होना, नशाखोरी, नाच-गान का शौक, व्यर्थ घूमना–ये दस व्यसन कामनाप्रयुक्त हैं । दूसरे के दोष ढूँढना, सज्जनों को कष्ट देना, छिपकर हानि करना, दूसरे के गुण को सहन न करना, दूसरे के गुण को भी दोष सिद्ध करना, चोरी करना व दान न देना, वाणी की परुषता, दण्ड देने में अनावश्यक कठोरता–ये आठ क्रोधप्रयुक्त व्यसन हैं । शिव इन व ऐसे सब दोषों से रहित हैं 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' (गी. ५.१९) । व्यसन छोड़ना भी अनघ की पूजा है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

छन्द का भी नाम अनघ है। 'मात्सश्चेदनघः'—यदि प्रतिपाद क्रमशः मगण व सगण हों तो अनघ छन्द होता है।

(६३) भुजङ्गभूषणः —साँपरूप गहने वाले। अत्यन्त चंचल होने से सर्प को मन का प्रतीक माना है। ऐसा भी उनका भूषण वन जाता है। अतः सभी को आशा बंधती है, यह भाव प्रकट होता है।

भूष अलंकारे (भ्वा. प. से.) धातु से भूषण शब्द बना है। अलंकार का अवयवार्थ है 'बस करना'। गहना भी सौंदर्य को पर्याप्त निखार देता है इसीलिये अलंकार है। भुजंगशब्दित मनोवृत्तियों को बस कर देना ही भुजंगभूषणता है। शिव की कान्ति ऐसी है कि उनसे सम्बद्ध हो मन अपनी सारी चंचलता छोड़कर केवल उन्हीं में रम जाता है। अतः मन जिनके संमुख भूषण बन जाता है वे भुजंगभूषण हैं। शिवध्यान ही इनकी उपासना है। इसे शिवगीता में (१३.२४) निदिध्यासन कहा है—

निर्मोहो निरहङ्कारः समः सङ्गविवर्जितः। सदा शान्त्यादियुक्तः सन्नात्मन्यात्मानमीक्षते ॥
यत्सदा ध्यानयोगेन तन्निदिध्यासनं स्मृतम् ॥

अथवा भुज कौटिल्ये (तु. प. से.) धातु से निष्पन्न भुजङ्ग शब्द—भुजं कुटिलं यथा भवति तथा गच्छन्तीति भुजङ्गाः—सदा कुटिलस्वरूप वाली व कुटिल गति वाली माया का वाचक है। वह शिव की भूषण है इसमें क्या सन्देह ? ईश ही मायी श्रुति द्वारा (श्वे. ४.९) कहे गये हैं। अथवा, व्यभिचारी कामुक को भुजंग कहते हैं 'भुजङ्गो भुजगे षिड्गे' (त्रिकाण्ड.)। नाना आलम्बनों में दीखने वाला सुख ही भुजंग है। वही वस्तुतः शिव का अभिन्न भूषण है, उन्हें अलंकृत करने वाला है—शिव में हमें पर्याप्त बुद्धि हो इसमें उनकी सुखरूपता ही कारण है।

नरहरिस्वामी तो योगियों को साँप मानते हैं क्योंकि वे उनकी तरह वायु खाकर रहते और गुफारूप बिल में रहते हैं। उन्हें शिव निज रूप में धर लेते हैं अतः शिव भुजंगभूषण हैं। अथवा कुण्डलिनी रूप साँप को वश में रखने वाले शिव भुजंगभूषण हैं। बोधसार के (शिवपूजा. ४१-४२) ये मार्मिक वचन हैं—

योगिनः पवनाहारास्तथा गिरिबिलेशयाः। निजरूपे धृतास्तेन भुजङ्गाभरणो हरः ॥

काचित् कुण्डलिनी शक्तिः शङ्करेण वशीकृता। कुण्डलिन्या कुण्डलिनो देहाभरणतां गताः ॥

आलवाल इसे यों समझाता है—

अभिचारसमर्थदारुका- वनगैः प्रहितानहीन् दधत्।
गरुडादपि बिभ्यतस्तनौ कथितोऽसि भुजङ्गभूषणः ॥ ६९ ॥

(हे कृपालो !) अन्यों का अनिष्ट करने में समर्थ दारुकावनवासी मुनियों द्वारा भेजे साँपों को और गरुड से डरे साँपों को भी आपने शरीर पर धर लिया इससे आप भुजंगभूषण हैं।

स्कन्दपुराण में दारुकवन लीला का वर्णन है। दारुक वन में तपोनिरत ऋषियों की परीक्षा लेने अति सुंदर नग्न वेश में शिव वहाँ पहुँचे जिन्हें देख ऋषि-पत्नियाँ विचलित

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizaqtion by eGangotri
हो गयीं । ऋषि शैव उद्देश्यादि न समझने के कारण क्रुद्ध हो गये व नग्न शिव को उन्होंने शाप दिया जो व्यर्थ चला गया । तब उन्होंने आभिचारिक प्रयोग किया । अग्निकुण्ड से अपस्मार निकला और शिव की ओर लपका पर शिव ने उसे अपने पैर के नीचे दबा दिया । फिर शिव को परेशान करने के लिये मृग आया जिसे उन्होंने हाथ में पकड़ लिया । इसी क्रम में आये बाघ को व टङ्क आदि आयुधों को भगवान् ने निगृहीत कर लिया । तदनन्तर कुण्ड से निकले भूत, प्रेत, पिशाच आदि को तो उन्होंने अपना अनुचर ही बना लिया । तब कुण्ड से साँप निकले–

ततः पञ्चफणा नागा निःश्वसन्तो विषोल्बणाः । शीघ्रमुत्थाय कुण्डेभ्यः समाजग्मुर्महेश्वरम् ॥

उन सबको भगवान् ने उठाकर अपना आभरण बना डाला जिससे वे नागभूषण हो गये । स्कन्द से अगस्त्य के यह पूछने पर कि शिव सर्पालंकार वाले कैसे हो गये, स्कंद ने उक्त कथा से उत्तर दिया तथा यह भी बताया कि गरुड़ से डरे वासुकी आदि को भी शरणागतवत्सल ने निज शरीर पर स्थान दिया–

अपरैरपि नागेन्द्रैः वासुकीप्रमुखैः शिवः । वैनतेयभयात् प्राप्तैरलंचक्रे निजां तनुम् ॥

परमशिवेन्द्रसरस्वती शिवसहस्रनाम भाष्य में (श्लो. ७) इस नाम का श्रौत आधार बताते हैं। नमकाध्याय का मन्त्र 'अहीँश्च सर्वान् जम्भयन् सर्वाश्च यातुधान्यः' । स्पन्दवार्तिक में (८.६६) जयमंगलस्वामी शिवभूषण शेषनाग को मानकर कहते हैं–

संसारबाधे सति च शिष्यते शेषसंज्ञितः । फणी स सच्चिदानन्दस्त्रिफणस्त्रिगति र्हि सः ॥

अर्थात् संसार बाधोत्तर जो शेष रहे–बचा रहे–वही शेष नामक साँप है । उसके फण हैं सत्, चित् और आनन्द । इनसे वह तीन फणों वाला अर्थात् तीन गतियों वाला है । फण धातु गत्यर्थक है (भ्वा. प. से.) गत्यर्थक ज्ञानार्थक होने से तात्पर्य है उसकी तीन अवगतियाँ हैं ।

अपरान्तिका छन्द है । 'युगेऽपरान्तिका'–यह पैंगलसूत्र है जिसका तात्पर्य है कि जिस छन्द में वैतालीय छंद के समपादों के लक्षण वाले चारों पाद हों वह अपरान्तिका है । फलतः चारों पादों में क्रमशः दो सगण, एक जगण व एक गुरु वर्ण है । ससजैर्गुरुणाऽपरान्तिका ।

(६४) भर्गः –पापों को भूँजने वाले । भूँजी हुई चीज़ आगे फलती नहीं । इसी प्रकार ज्ञान से दग्ध पापपुण्य फल देने में असमर्थ होते हैं । शिव इसीलिये गायत्री के उपास्य रूप से भी भर्ग कहे गये हैं । गायत्री का मन से जप करते हुए जो शिव को अपनी बुद्धि देते हैं वे उनके पापों को भूँज डालते हैं ।

भर्ग नाम का विचार करती हुई मैत्रायणी उपनिषत् (६.७) कहती है–

'....भाभि र्गतिरस्य हीति भर्गः । भर्जयतीति वैष भर्ग इति रुद्रो ब्रह्मवादिनः । अथ भ इति भासयतीमाँल्लोकान्, र इति रञ्जयतीमानि भूतानि, ग इति गच्छन्त्यस्यिन्नागच्छन्त्यस्मादिमाः प्रजाः, तस्माद् भरगत्वाद् भर्गः ।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस प्रकार जगज्जन्मादिकारणता का वाचक भर्ग शब्द शिव को विषय करता है। यद्यपि उणादिप्रक्रिया से (४.२१७) भृजी भर्जने (भ्व. आ. से.) धातु से असुन्प्रत्यय वाला सान्त भर्गस् शब्द तेज अर्थ वाला माना गया है तथा शिववाचक अकारान्त भर्गशब्द घञन्त पृथक् माना गया हैं, जैसाकि तत्त्वबोधिनी में 'अञ्च्यञ्जि०' आदि उणादिसूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है 'हरः स्मरहरो भर्ग इत्यत्र भर्गशब्दो घञन्तः पुँल्लिङ्ग इति बोध्यः', तथापि सान्त भर्गस् शब्द को भी शिवार्थक मानना ही युक्त है, जैसाकि अप्पयदीक्षित ने गायत्री के विस्तृत विश्लेषण में (शिवार्कमणि. १.१.२२ पृ. २६१) कहा है–

'यदि भर्गइत्यस्य सकारान्तत्वमिष्यतें तथापि छान्दसो वर्णविकार इत्यकारान्तरूढ्या शिववाचित्वमेव तस्य सिद्ध्यति ''' ।'' किञ्चिद्वर्णविकारेऽपि बहुसारूप्ये लोकवेदयोः शब्दतदर्थाऽनन्यत्वस्य लोकवेदाधिकरणसिद्धत्वात् ''''।'

उपास्यरूपों में सूर्य का माहात्म्य है। रुद्राध्याय में भी 'असौ यस्ताम्रः' इत्यादि से आदित्यमूर्ति की प्रार्थना है। गायत्री द्विजमात्र का नित्य जपनीय मन्त्र है व उससे भी शिव की अर्कमूर्ति का स्मरण होता है। इसलिये यहाँ भर्ग नाम से शिव का उल्लेखकर गायत्रीजप करने वालों को शिवध्यान में सुविधा कर दी है। मूर्तिमान् मूर्ति से श्रेष्ठ होता ही है। अतएव भर्ग को सविता से श्रेष्ठ कहा है। अथवा 'येन आदित्यस्तपति' (महाना. १.३) श्रुति से आदित्य द्वारा तेजप्रदायक रूप से समाश्रयणीय होने से भर्ग वरेण्य है। उक्त दीक्षितीय प्रसंग में अन्यान्य वर्णन देखने चाहिये। गिरिश से प्रारब्ध श्रवणादि त्रितय का फल तो भर्गरूप है ही। उक्त उपासना का यही फल विद्यारण्यस्वामी ने माना है–

परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम्। बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत् ॥
पंच. १.६३ ॥

अतएव स्तुतिकुसुमांजलि में (१७.१६) एकान्तशील महात्माओं को भर्ग की भक्ति मुक्ति देती है यह कहा है–

कान्तैकान्तव्यसनमनसां वल्कलालङ्कृतानां
ज्ञानाम्भोभिः क्षपितरजसां जाह्नवीतीरभाजाम्।
गाढोत्सेकप्रकटितजटामण्डलीमण्डनानाम्
नानाकारा भवति कृतिनां मुक्तये भर्गभक्तिः ॥

भास्करराय की पद्यमयी व्याख्या यह है, जिसमें शब्द स्वरान्त हो चाहे सकारान्त, अर्थ एक ही है–

भर्ज्यन्ते दुरितानां सन्दोहा यदवाप्त्या।
गायत्रीप्रतिपाद्यस्त्वं तस्मादसि भर्गः ॥ ७० ॥

जिनकी प्राप्ति होने से पापराशियाँ जल जाती हैं वे आप गायत्री के प्रतिपाद्य हैं अतः भर्ग हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पाप जलाने से व गायत्री प्रतिपाद्य होने से भर्ग हैं यह अर्थ है। जलाना तेज का कार्य होने से तेजोर्थक भर्गस् शब्द का भी संग्रह हो गया। शिवप्राप्ति की पापनिवर्तकता निःसन्दिग्ध है। अपनी शरण में आये सबको सारे पापों से वे छुड़ा देते हैं यह उनकी प्रतिज्ञा है (शिवगी. १४.४०)। गायत्री के प्रतिपाद्य शिव हैं इसमें यह सौरपुराण प्रमाण है–

यद्गायत्र्याः परं तत्त्वं देवदेवो महेश्वरः ॥ इति ज्ञात्त्वा जपेद् विद्वान् गायत्र्याः फलमश्नुते ।
यो ह्यन्यथा तु मनुते गायत्रीं शिवरूपिणीम् ॥ पच्यते स महाघोरे नरके कल्पसंख्यया ।
१४.४५-४७ ।

अतएव कूर्मपुराण में (पूर्व. अध्य. २०) गायत्री जप से शिवप्रसाद वर्णित है।

प्रयुक्त छन्द का नाम मदलेखा है। 'म्सौ गः स्यान्मदलेखा'–प्रतिपाद मगण, सगण व एक गुरु वर्ण होने पर मदलेखा छंद होता है।

(६५) गिरिधन्वा–मेरु को धनुष बनाने वाले। मानव देह में रीढ़ की हड्डी को मेरुदण्ड कहा जाता है। यही धनुष है जिसे त्रिपुरीदाह के लिये काम में लिया जाता है। इसी में कुलकुण्डलिनी को ऊपर ले जाया जाता है। पुराणों में तो यह प्रसिद्ध ही है।

खेलने की गेंद को गिरि कहते हैं 'गिरिः पूज्येऽक्षिरुजि कन्दुके' (हैम.)। शिव के लिये तो अविद्या क्रीडा की ही वस्तु है पर हमारे लिये वही परम भय का हेतुभूत धनुष है। अतः यह जानने से कि उनका धनुष केवल खेलने की गेंदमात्र है, हम भी उसी आनन्द से रहेंगे जिससे वे लीला करते हुए रहते हैं। त्रैपुरलीला में भी भर्ग का धनुर्ग्रह खेल के लिये ही था, तृणमात्र त्रिपुर को तेजोरूप भर्ग तो स्थितिमात्र से ही नष्ट कर देते। अतः पुष्पदन्त ने कहा है 'दिधक्षोस्ते कोऽयं त्रिपुरतृणमाडम्बरविधिः' (१८)। इसलिये खेल करने के लिये ही धनुष लिया था। अथवा वाणी से ही प्रहार में समर्थ होने से ब्राह्मणों को गिरिधन्वा कह दिया है और ब्राह्मण शिवरूप है ही। आनुशासन सहस्रनाम में (श्लो. १३५) आया है 'गभस्ति र्ब्रह्मकृद् ब्रह्मी ब्रह्मविद् ब्राह्मणो गतिः'। अथवा क्रोधभट्टारक दुर्वासा रूप ब्राह्मण शिव ही बने थे; जैसाकि अनुशासन पर्व में (१६०.३७) ही कहा है–

स चापि ब्राह्मणो भूत्वा दुर्वासा नाम वीर्यवान्। द्वारवत्यां मम गृहे चिरं कालमुपावसत् ॥

शतरुद्रसंहिता में अन्य ब्राह्मणावतारों का भी वर्णन है। एवं च भयहेतु को क्रीडा समझने का प्रयास व ब्राह्मण सेवा गिरिधन्वा की उपासना है।

'मरुर्धन्वा स्थलं स्थली' (हला.), 'समानौ मरुधन्वानौ' (अमर.) आदि कोषों से धन्वन्-शब्द मरुभूमि का वाचक है। वाणीवाचक गीर्-शब्द का सप्तमी विभक्ति का रूप

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गिरि है। इन असमस्त दो पदों से एक नाम माना जा सकता है, इस अभिप्राय को भी प्रकट करते हुए तथा प्रसिद्ध अर्थ बताते हुए भास्करराय कहते हैं–

> वाग्विषये त्वं मरुरिव भवसि त्वां हि मनागभिदधति न वाचो
> दिव्यर्थे वा पुरदहनविधौ वेदमयाः किल चतुरतुरङ्गः।
> चक्रयुगं ते दिनरजनिकरौ बाणशरीरभृदभवदुपेन्द्रो
> मेरुरभूत्ते धनुरुरगपति ज्यांऽभवदीश! तदसि गिरिधन्वा ॥ ७१ ॥

हे ईश! वाणी के विषय में आप मरुभूमि की तरह हैं क्योंकि वचन आपका यत्किंचित् भी अभिधान नहीं कर पाते, अतः आप गिरि-धन्वा हैं। अथवा विद्युन्माली आदि के पुरों का दहन करते समय आपके दिव्य रथ में निश्चित ही वेदात्मक तीव्र घोड़े थे, सूर्य व चन्द्र आपके रथ के पहिये थे, उपेन्द्र (विष्णु) स्वयं बाणरूप धारण किये हुए थे, मेरुपर्वत आपका धनुष बना और सर्पराज वासुकि मौर्वी (धनुष की रस्सी) बने। अतः (उस समय क्योंकि मेरु आपका धनुष था इसलिये) आप गिरिधन्वा हैं।

'यतो वाचो निवर्तन्ते' (तै. २.४) 'न वाग्गच्छति' (केन. १.३), 'यं वाङ् न वेद' (बृ. ३.१.१७), 'नैव वाचा न मनसा' (कठ. २.६.१२) 'नापि वाचा' (मुं. ३.१.८) आदि सहस्रों श्रुतियाँ स्पष्ट घोषित करती हैं कि शब्द शिव का अभिधान नहीं कर सकता। अभिधान का अर्थ है अभिधावृत्ति से ज्ञात कराना अर्थात् वाचक होना। वाचक का अर्थ काव्य प्रकाश (२.७) में किया है 'साक्षात् संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः' अर्थात् जो शब्द लक्षणादि व्यापारान्तर के बिना जिस अर्थ का बोध कराये वह उसका वाचक है। शब्द की साक्षात् प्रवृत्ति का निमित्त जाति, गुण, क्रिया व सम्बन्ध ही होता है व ये सब शिव में हैं नहीं। डित्थ आदि संज्ञा उसकी तब रखी जा सके जब उसे किसी प्रमाण से जानें जैसे बालकादि को प्रत्यक्षादि से जानकर उसका डित्यादि नाम रखते हैं। अतः पाँचों प्रकारों से शब्द शिव का स्वशक्तिवृत्ति से कथन-करने में असमर्थ है। जिस भूमि में जो सफल नहीं होता उस भूमि को उसके लिये ऊषर कहा ही जाता है। ऐसे ही शिव वाणी को सफल नहीं होने देते अतः उसके लिये मरुस्थल ही हैं। यद्यपि शिवज्ञान होना शब्द से ही है तथापि शक्त्या न होने के कारण ऐसा कहा है यह समझना चाहिये। शिव में विषयता न आने से भी वे मरु हैं इत्यादि विस्तार आकरों में दर्शनीय है। त्रिपुरदाह की कथा पूर्व में आ चुकी है। चतुर शिक्षित को भी कहते हैं। घोड़ों की शिक्षितता मुख्यतः तीव्रता ही है। रजनिकर शब्द में रजनि यह ह्रस्वान्त शब्द रञ्ज रागे (भ्व. उ. अ) धातु से बाहुलकाद् औणादिक (२.१०४) अनि-प्रत्यय से बना है।

छन्द का नाम तन्वी है। भूतमुनीनैर्यतिरिह भतनाः स्मौ भनयाश्च यदि भवति तन्वी'–चारों पादों में क्रमशः भगण, तगण, नगण, सगण, दो भगण, नगण व यगण हों तथा पाँचवें, बारहवें और चौबीसवें अक्षरों पर यति हो तो तन्वी छंद होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(६६) गिरिप्रियः –पर्वत को प्रिय। मेरुदण्ड और सहस्रार को जब सोमप्राप्ति होती है तब वे शान्ति और आनन्द से भर जाते हैं, अतः शिव उन्हें प्रिय है। अथवा ज्ञानरूप शिव इन्हीं स्नायुकेन्द्रों से आदान व विसर्ग करते हैं अतः वे केन्द्र उन्हें प्रिय हैं। पुराणों के अनुसार तो शिव को पर्वत प्रदेश हमेशा ही प्रिय लगते हैं। वेद व तन्त्रों में तो एकान्त एवं शान्त होने से व जलवायु की शुद्धि से गिरि ध्यान आदि के उत्तम केन्द्र होने के कारण शिव के प्रिय हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से आज तक पर्वत प्रदेश ही प्रधानरूप से शैव हैं। शिवभक्त भी गिरिप्रिय होते हैं। आकाश के अधिष्ठाता होने से भी शिव गिरिप्रिय हों यह स्वाभाविक है।

'गीर्णिर्गिरौ' आदि कोष (अमर.) से निगलना गिरिशब्द का अर्थ है। शिव को निगलना प्रिय है–जो कुछ उनकी ओर जाये, शब्द हो या वृत्तिज्ञान, उसे वे आत्मसात् कर लेते हैं, उनसे भिन्न हो वह रहकर कुछ कर नहीं सकता, उन्हें सविशेष बनाने में असमर्थ होता है। जैसे सूर्य की ओर गया प्रकाश सूर्य की आभा द्वारा निगल लिया जाता है वैसे समझना चाहिये। शब्द आदि, भेद रखकर ही विषय कर सकते हैं। शिव से शब्द भिन्न रहे तभी शिव को विषय कर सकता है। जब शिव उसे सदा ही निगले हुए हैं–उनसे भिन्न वह है ही नहीं–तो वह क्योंकर विषय कर पायेगा। इस प्रकार गिरिधन्वा को असमस्त पदद्वयात्मक नाम मानने वाले पक्ष में हेतुतया गिरिप्रिय नाम आया है। समस्तपक्ष में भी प्रिय होने से ही गिरि को धनुषरूप से ग्रहण किया यह भाव है। शैव्र प्रयोजन की सिद्धि का जिस किसी तरह भी जो कोई अंग बनता है वह शिव का प्रिय है इसमें संदेह नहीं। शिव की गिरिप्रियता के लिये किसी ने कहा भी है–

वासो गिरि र्धनुरभूद् गिरिराट् पुरारे ! शम्भो ! कलत्रमपि ते गिरिराजकन्या।
वेदो गिरीश ! गिरिशन्त-गिरित्र-वाचा यं संस्तवीति न कथं स गिरिप्रियः स्यात्॥

शिवाभेद का अनुसन्धान व शिवधर्मादि की स्थापनार्थ स्वयं शिवधर्मानुष्ठान करते हुए अन्यों को उसमें प्रेरित करना गिरिप्रिय की पूजा है। वस्तुतः यही प्रशस्त जीवन है, जैसा भट्ट जगद्धर ने कहा है–

तन्मानुष्यं प्रभवति सतामुत्तमा यत्र जातिः सैका जातिः प्रसरति यशो यत्र पाण्डित्यहेतु।
तत्पाण्डित्यं सरसमधुरा जृम्भते यत्र वाणी वाणी साऽपि प्रथयति रतिं शाङ्करी यत्र भक्तिः॥
स्तु. कु. १७.५॥

भास्करराय पुनरपि 'वेद पर प्रेम रखने वाले' इस अर्थ में असमस्त पदद्वयात्मक नाम मानते हुए तथा प्रसिद्ध समस्त पदात्मक नाम का भी अर्थ करते हुए इसे संक्षेप में समझाते हैं–

प्रेमभूरि ते विभाति वैदिकस्तवात्मवाचि।
सर्वपर्वतेष्वपीति नामतो गिरिप्रियोऽसि॥ ७२॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वैदिक स्तुत्यात्मक वाणी पर क्योंकि आपका प्रेमाधिक्य जगद्विश्रुत है और सब पर्वतों पर भी आप अधिक स्नेह रखते हैं इसलिये (केवल अर्थतः ही नहीं) नाम से भी आप गिरिप्रिय हैं ।

वेद शिवस्तुतिरूप है । शिव की मन्त्र व ब्राह्मण उभयत्र प्रसिद्धि से ही नमकाध्याय में कहा है 'नमः श्लोक्याय चावसान्याय च' । अतः पुराणों में तत्र तत्र वर्णन आता है कि वेदों ने शिव की परतत्त्व रूप से उपस्थापना की । जैसे कूर्मपुराण में (उत्तर. ३१.१३-१६) ही मिलता है–

ऋग्वेद उवाच – यस्यान्तःस्थानिभूतानि यस्मात्सर्वं प्रवर्तते । यदाहुस्तत्परं तत्त्वम् स देवः स्यान्महेश्वरः ॥

यजुर्वेद उवाच – यो यज्ञैरखिलैरीशो योगेन च समर्च्यते । यमाहुरीश्वरं देवं स देवः स्यान्महेश्वरः ॥

सामवेद उवाच – येनेदं भ्राम्यते विश्वं यदाकाशान्तरं शिवम् । योगिभिश्चिन्त्यते तत्त्वं महादेवः स शंकरः ॥

अथर्ववेद उवाच– यं प्रपश्यन्ति देवेशं यतन्तो यतयः परम् । महेशं पुरुषं रुद्रं स देवो भगवान् भवः ॥

नारदीय पुराणान्तर्गत वेदपादस्तव भी इसी ओर इंगित करता है कि वेद शिवस्तवन है । शिव को वेद से प्रेम है यह इसी से पता लग जाता है कि शिवार्पण बुद्धि से किये वेदाध्ययन को वे अपनी भक्ति मानते हैं (शिवगी. १५.२) । बृहद्रथन्तर, वामदेव्य आदि सामों के गायन से सायुज्य दे देते हैं (शिवगी. १५.३७-३८) । ऐसे ही ईशावास्यादि मन्त्रों का जप सायुज्यफलक है (शिवगी. १५.३९) । रुद्राध्याय, कैवल्योपनिषत् और श्वेताश्वतरोपनिषत् का जाप करने वाले से तो श्रेष्ठ अन्य कोई भक्त नहीं (शिवगी. १५.७–८) । इससे शिव का श्रुति पर विशेष प्रेम प्रकट होता है ।

समानी-संज्ञक वृत्त है । इसमें प्रतिपाद आठ अक्षर होते हैं तथा विषमाक्षर (१, ३, ५, ७) गुरु व समाक्षर (२, ४, ६, ८) लघु होते हैं । अन्यत्र यही समानिका नाम से प्रसिद्ध है । 'ग्लौ रजौ समानिका तु'–प्रतिचरण क्रमशः गुरु, लघु, रगण व जगण हों तो समानिका छन्द होता है । अर्थतः दोनों लक्षण एक ही हैं ।

(६७) कृत्तिवासाः –(गज) चर्म को धारण करने वाले । पुराणों में यह प्रसिद्ध है कि गजासुर को मारकर शिव ने उसके चर्म को धारण किया था । गज को कामुक माना गया है । अत्यन्त बलिष्ठ होकर भी हथिनी को देखकर यह विवेकभ्रष्ट होकर पकड़ा जाता है । जिस काम को मार डाला गया वह काम नहीं कामाभास रह गया । वही बाह्य वस्त्र है, अर्थात् कार्य में कामवत् प्रतीत होने पर भी काम नहीं है । इसीलिये शंकर कृत्तिवासा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
हैं। गजचर्म की व्यर्थता से भी ऐसा वस्त्रधारण वैराग्य का द्योतक है। असुर को भी प्रेमदान किया यह भाव तो है ही। ज्ञानी ईश्वर में सभी आभासवत् रहते हैं यही सत्य है।

जिसे काटा जाये या जिससे वेष्टन किया जाये उसे कृत्ति कहते हैं : कृती छेदने (तु.प.से.) या कृती वेष्टने (रु.प.से.) से क्तिन् प्रत्यय (३.३.९४) है। जिससे आच्छादित किया जाये उसे वासस् (वस्त्र) कहते हैं। वस आच्छादने (अ. आ. से.) से औणादिक (४.२१९) असुन् प्रत्यय है। यह सारा संसार ही कृत्ति है क्योंकि इसका बाधरूप कर्तन किया जाता है तथा इससे परमात्मा लिपटा–वेष्टित– है। और संसार ही उसका वासस् भी है क्योंकि इसी से वह आच्छादित (ढका) है। जिससे वेष्टन किया जाता है वह वेष्टित के आकार को ग्रहण करता है व जिससे आच्छादन किया जाता है वह आच्छादित की किसी विशेषता का पता नहीं लगने देता। संसार भी शिव के सद्-आकार को लिये है व शिव की सच्चिदानन्दरूपता का पता नहीं लगने देता, इससे वेष्टन व आच्छादन दोनों है। कृत्तिवासता बन्धन व मोक्ष दोनों अवस्थायें हैं। वेष्टनार्थक कृत्ति जब तक वासस् है तब तक बन्धन, और छेदनार्थक धातु से निष्पन्न कृत्ति जब वासस् है, बाधित हुआ जगत् शिव का उन्मेष, विमर्श आदि प्रतीत होता है, तब मोक्ष है। प्रपंच की अप्रतीति मोक्ष की नियामिका नहीं, किन्तु यह निश्चय कि प्रपञ्च कभी भी है ही नहीं मोक्ष का नियामक है, यह विद्यारण्यादि आचार्यों ने सुस्पष्ट कहा है। कृत्तिवासा की उपासना यही है कि हम वेष्टन के प्रतीयमानं वैशिष्ट्य को शिव वैशिष्ट्य समझें और अन्ततः इसके लिये यत्नशील हों कि वेष्टन व वासस् का बाध हो जाये। समस्त जड़ को चिद्विलास जानने पर ही पहाड़ जैसे जड़ पाषाणसंघात से भी हम प्रेम कर सकेंगे और जिस देहादि नगर में हम कैद हैं उससे छूट सकेंगे।

आलँवाल की व्याख्या है–

वाराणस्यां शिव ! त्वद्भक्तांस्तुदन्तं गजेन्द्रं विप्रोत्सृष्टाभिचारव्याघ्रं च शूलेन हत्वा।
चर्मबन्धं तदीयं प्रावृत्य विभ्राजमानोऽस्येकाम्रे चन्द्रलेखामौले ! ततः कृत्तिवासाः ॥७३॥

हे शिव ! हे चन्द्रकलाशेखर ! वाराणसी में आपके भक्तों को पीड़ित करते गजेन्द्ररूप असुर को और दारुकवन में मुनियों द्वारा भेजे परपीडासमर्थ व्याघ्र को शूल से मारकर उनके दोनों चमड़ों को (खालों को) लपेटकर आप शोभित हो रहे हैं और एकाम्रेश्वरक्षेत्र में इस नाम से प्रसिद्ध भी हैं अतः आप कृत्तिवासा हैं।

काशीखण्ड में (अध्य. ६४) वर्णित है कि काशी में गजासुर ब्रह्मा से प्राप्त वरदान से जगत् की सब शक्तियों को तिनके के बराबर समझता हुआ शिवभक्तों को कष्ट दे रहा था। भगवान् ने उसे त्रिशूल से बींध दिया। तब गजासुर ने कहा कि भगवान् के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हाथों मृत्यु पाकर वह धन्य हुआ और इसी में अपनी जीत बतायी कि शूललग्न होने से वह शिव से ऊँचा हो गया !

सत्यं ब्रवीमि नासत्यं मृत्युञ्जय ! विचारय । त्वमेको जगतीबन्धो विश्वस्योपरिसंस्थितः ॥ अहन्त्वदुपरिष्टाच्च स्थितोऽस्मीति जितं मया ।

इस वचनचातुरी पर प्रसन्न हो भगवान् ने उसे यथेष्ट वर माँगने को कहा । तब उसने यही प्रार्थना की कि उसकी खाल सदा सुखस्पर्श वाली और इष्ट सुगन्ध वाली तथा निर्मल बनी रहकर शिव के वस्त्र का काम दे । यदि वह खाल, उसने कहा, पवित्र न होती तो रण में शिवांगसंग उसे कैसे प्राप्त होता ? अतः निश्चित पवित्र वह कृत्ति शिव द्वारा धारणीय है । साथ ही उसने यह भी प्रार्थना की कि भगवान् कृत्तिवासा नाम से प्रसिद्ध हों । इससे अतिरिक्त वर भगवान् ने दिया कि वे उसी स्थान पर कृत्तिवासेश्वर नाम से प्रतिष्ठित रहेंगे । कृत्तिवासेश्वर का वर्णन सौरपुराण में (६.१९–२१) भी प्राप्त होता है । स्कन्दपुराण में ही अन्यत्र दारुकवनलीला में व्याघ्रचर्म धारण का वर्णन है ।

शिवपुराण की शतरुद्रसंहिता में (अध्य. १२) शरभावतार का वर्णन है जो नृसिंह को शासित करने के लिये हुआ था । हिरण्यकशिपु को मारकर नृसिंह उसी क्रोध के वेग में सारे संसार को व्याकुल करने लगे । तब विकराल शरभरूप से शिव अवतरित हुए और नृसिंह को उन्होंने नियंत्रित किया और उनकी खाल ले वे कृत्तिवासा हुए–

···नृसिंहकृत्तिं निष्कृष्य समादाय ययौ गिरिम् ॥ नृसिंहकृत्तिवसनस्तदा प्रभृति शङ्करः । (श्लो. ३५–३६)

वैसे कृत्तिवासा नाम तो श्रुतिप्रसिद्ध है : 'अवततधन्वा पिनाकवासः कृत्तिवासा अहिंसन्नः शिवोऽतीहि' (शु. य. मा. सं. ३.६१) । एकाम्रेश्वरक्षेत्र काञ्चीक्षेत्र प्रसिद्ध है । अढ़सठ शिवक्षेत्रों में वहाँ कृत्तिवासा नाम से शिव की स्थिति स्मृत है 'एकाम्रे कृत्तिवाससम्' ।

चन्द्रलेखा छन्द है–'म्रौ मो यौ चेद्धवेतां सप्ताष्टकैश्चन्द्रलेखा' । प्रतिपाद यथाक्रम मगण, रगण, मगण व दो यगण हों तथा सातवें और पन्द्रहवें अक्षरों पर यति हो तो चंद्रलेखा छंद होता है ।

(६८) पुरारातिः –पुर का नाश करने वाले । ब्रह्माण्ड पुर या मायापुर के नाशक शिव प्रलय या ज्ञानकाल में बनने से वे पुराराति हैं ।

'पूः प्राणिनः' (अध्या. ४) आदि आपस्तम्बीयवचन से प्राणी जीव पुरशब्द से कहे जाते हैं । उन्हें अपना सर्वस्व दे देने के कारण–आ समन्ताद् राति ददातीति–शिव पुराराति हैं । कृत्तिवासा होने का यही फल है कि शिव से अपना कोई भेद न रहे । 'ब्रह्मैव न ब्रह्मविद्' (मनीषा. ५) आदि आचार्योक्तियाँ इसमें प्रमाण हैं । इसीलिये शिव पुरों का अर्थात् प्राणियों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का सब प्रकार का धन है–पुराणामूआ सर्वप्रकारं राति र्धनमू इति पुरारातिः। रातिशब्द की धनवाचकता 'रातिर्दातुः' (बृ. ३.९.२८) आदि स्थलों पर श्रुतचर है। अथवा पृङ् व्यायामे (तु. आ. अ.) का क्विबन्त रूप है पृ जिसका अर्थ है कर्मादि करना। उसके विरोधी शिव हैं क्योंकि वे परम नैष्कर्म्यरूप हैं। कृत्तिवासा होकर कर्म किया भी नहीं जा सकता क्योंकि बाधितानुवृत्ति वैधप्रवृत्तियों में प्रयोजक हो नहीं सकती कारण कि वैध-प्रवृत्तियों के लिये कर्तृत्वादि का निश्चय चाहिये, बाधित प्रतीति नहीं। इस अर्थ में यह असमस्त दो पदों वाला एक नाम है। पुः आरातिः पुरारातिः। यद्यपि यह धातु वि और आङ् पूर्वक ही प्रसिद्ध है तथापि इसे नित्य वैसा ही होना चाहिये यह नियम नहीं, अतएव भट्टोजी ने 'प्रायेणायं व्याङ्पूर्वः' यों प्रायः शब्द का प्रयोग किया है। तथा आरातिशब्द भी आङ्पूर्वक अरातिशब्द है। 'अभिघातिपरारातिप्रत्यर्थिपरिपन्थिनः' (अमर.) आदि कोष में अरातिशब्द शत्रु के अर्थका प्रसिद्ध है।

भास्करराय तो 'पुरा राति र्यस्य' विग्रह के अभिप्राय से तथा राति का अर्थ 'प्रकाशते' कर जो सर्वप्रथम भासता है–पुरा आदौ राति प्रकाशत इति–यह भाव द्योतित करते हुए एवं प्रसिद्ध अर्थ बताते हुए कहते हैं–

भवान् पूर्वमाभाति पश्चादिदं जगद्भाति यद्वा पुराणामरिः।
तनोः कारणस्थूलसूक्ष्मात्मनो विनाशेन वा ते पुरारातिता ॥ ७४ ॥[1]

आप पहले भासते हैं, यह जगत् आपके पीछे ही प्रकाशित होता है अतः आपका पुराराति होना संगत है। अथवा आप लोहमय आदि पुरों के शत्रु हैं जिससे आप पुराराति हैं। या स्थूल, सूक्ष्म व कारण शरीर का आप नाश कर देते हैं इससे आपकी पुरारातिता अन्वर्थ है।

'पहले भासते हैं' से यह भ्रम न हो जाये कि शिव का भासना सादि है इसलिये 'पहले' शब्द का ही अर्थ किया–'यह जगत्' इत्यादि से। जगत्-प्रकाश निरपेक्ष भासना ही पहला भासना है। इसमें 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (कठ. ५.१५) आदि श्रुतियाँ प्रमाण हैं। त्रिपुरारि का प्रसंग पूर्व में आ चुका है। दूसरे व्याख्यान में पुराराति का अर्थ त्रिपुरारि ही है। तीसरे व्याख्यान में पुर शब्द देहत्रयपरक है। चरमवृत्ति में उपारूढ शिव देहत्रय विनाशक होने से पुराराति हैं। अराति शब्द रा धातु से क्तिच् प्रत्यय (३.३.१७४) कर नञ् समास से बना है : सुखादिकं न राति ददातीत्यरातिः।

मन्दाकिनी छन्द है। 'त्रिभि र्यै र्लगाभ्यां च मन्दाकिनी'–तीन यगण, एक लघु एक गुरु वर्ण से मन्दाकिनी छन्द होता है। अन्यत्र द्वादशाक्षरा वृत्तियों में प्रकाशित समाननाम वाला छन्द अन्य ही है।

---

१. मुद्रितग्रन्थे पाठभेदतया दर्शितः पाठष्टीकानुसारित्वात्सङ्गतत्वाच्चादरणीय इतीह धृतः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(६९) भगवान्—ऐश्वर्य, धर्म, यश, लक्ष्मी, ज्ञान और वैराग्य—ये गुण अपनी समग्रता में जिस गण में हों उसे भग कहते हैं। उसे अपने में धारण करने से वे भगवान् हैं। अथवा उत्पत्ति, प्रलय, प्राणियों के पूर्व व उत्तर जन्म, विद्या और अविद्या को एक साथ जानने से वे भगवान् हैं।

विष्णुपुराण (६.५) में भगवान् शब्द पर विचार किया है—

यत्तदव्यक्तमजरमचिन्त्यमजमव्ययम्। अनिर्देश्यमरूपं च पाणिपादाद्यसंयुतम् ॥
विभुं सर्वगतं नित्यं भूतयोनिरकारणम्। व्याप्यव्याप्तं यतः सर्वं यद्वै पश्यन्ति सूरयः ॥
तद्ब्रह्म तत्परं धाम तद्ध्येयं मोक्षकांक्षिभिः। श्रुतिवाक्योदितं सूक्ष्मं तद्विष्णोः परमं पदम् ॥
तदेव भगवद्वाच्यं स्वरूपं परमात्मनः। वाचको भगवच्छब्दस्तस्याद्यस्याक्षयात्मनः ॥ ६६-६९

अर्थात् जो वह अव्यक्त, जरा-रहित, अविचारणीय, अजन्मा, क्षीण न होने वाला, निर्देश के अयोग्य, निरूपित न किया जा सकने वाला, हाथ-पैर आदि रहित, विभु (= समर्थ), अनवच्छिन्न, नित्य, भूतों का कारण, स्वयं कारण रहित, व्यापी (= सर्वानुगत), स्वयं अन्य द्वारा अव्याप्त, जिससे सब होता है, जिसे विद्वान् जानते हैं, वह ब्रह्म है, वह परम तेज है, मुमुक्षुओं का वह ध्येय है, श्रुतिवाक्य उसे ही बताते हैं, वही सूक्ष्म है, वह विष्णु का भी परम अधिष्ठान है, वही परमात्मा का स्वरूप भगवत् शब्द का वाच्य है। उस अनादि अनन्त आत्मा का वाचक भगवत् शब्द है। तथा—

संभर्तेति तथा भर्ता भकारार्थो द्वयान्वितः। नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थस्तथा मुने ॥
ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥
वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि। स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः ॥
७३–७५ ॥

भगवान् शब्दान्तर्गत भकार का अर्थ है पोषक और नित्य आधार। गकार का अर्थ है नेता—कर्मफलों की प्राप्ति कराने वाला, गमयिता—प्रलय में संहार करने वाला और स्रष्टा—सृष्टिकाल में प्रपंच का उद्गमन कराने वाला। भग—इतने शब्द का अर्थ है : समग्र ऐश्वर्य, समग्र वीर्य, समग्र यश, समग्र श्री, समग्र ज्ञान और समग्र वैराग्य। वकार का अर्थ है : उस भूतात्मा, सर्वात्मा में भूत रहते हैं और वह सब भूतों में रहता है।

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥
ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः। भगवच्छन्दवाच्यानि विना हेयै र्गुणादिभिः ॥
७८–७९

जो भूतों की उत्पत्ति, लय, आगम व गमन को तथा विद्या और अविद्या को जानता है उसे भगवान् कहना चाहिये। अशेष ज्ञान, अशेष शक्ति, अशेष बल, अशेष ऐश्वर्य, अशेष वीर्य और अशेष तेज—ये गुण जब हेय गुणों के साथ मिले न हों तब इन गुण वाला भगवान् होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शैवोपनिषदन्तर्गत बटुकोपनिषत् में भी कहा है–

'अथ कस्मादुच्यते भगवान् महेश्वरो, यस्माद् भक्ता ज्ञानेन भजन्ति अनुगृह्णाति च वाचं संसृजति विसृजति च सर्वान् भावान् परित्यज्यात्मज्ञानेन योगैश्वर्येण महति महीयते तस्मादुच्यते भगवान् महेश्वरः ।.........भुवनानि वा अवते तस्मादुच्यते भगवान् बटुकेश्वरः ।'

शिवगीता में भी कहा गया है–

सर्वभावान् निरीक्ष्येऽइमात्मज्ञानं निरीक्षये । योगं च गमये तस्माद्भगवान् महतो मतः ॥ ६.४१ ॥

अर्थात् आत्मज्ञान से सबको देखने से, योगोपदेश करने से और सबमें व्याप्त होने से भगवान् हैं ।

जिसका सेवन किया जाये उसे भग कहते हैं; भज सेवायाम् (भ्व. उ. से) धातो र्घः (३.३.११८) । अतः सेवनीय गुणपूग भी भग कहा गया है । यद्यपि इस दृष्टि से शिव ही भग हैं तथापि भेदोपचार से उन्हें भगवान्–भगवाला कहते हैं । अथवा यहाँ 'भूमनिन्दा' (सि. कौ. तदस्यास्तीत्यादि सूत्र) आदि वचन से प्रत्यय से बहुत्त्व बोधित होता है । एवं च परिपूर्ण भगरूप होने से शिव भगवान् हैं । उत्तम गुणों को अपने में लाने का प्रयास भगवान् की उपासना है, यह तो स्पष्ट है । अथवा योग रूढि से स्त्री-योनि भग कही जाती है । समस्त प्रपञ्च की योनि महामाया है ही व माया वाले शिव निश्चय ही भगवान् हैं । 'मम योनि र्महद् ब्रह्म' (गी. १४.३) आदि गीता इसमें प्रमाण है ।

आलवाल की व्याख्या है–

पराक्रममती विरागयशसी श्रिया सह जगत्पतित्त्वमिति षट् ।
गुणा भगपदोदितास्त्वयि वस- न्त्यतः श्रुतिगिरेरितोसि भगवान् ॥ ७५ ॥

पराक्रम, ज्ञान, वैराग्य, यश, श्री और जगत्पतित्व; भगशब्द से कहे ये छह गुण आपमें रहते हैं अतः श्रुतिवचनों द्वारा आप भगवान् कहे गये हैं ।

'सर्वव्यापी स भगवान्'(श्वे. ३.११), 'एवं स देवो भगवान् वरेण्यः' (श्वे. ५.४) आदि श्रुतिवचन विवक्षित हैं । 'क्षयद्वीराय' (शु. य. मा. सं. १६.४८) आदि नमकाध्याय शिवपराक्रम में प्रमाण है । 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मुं. १.१.९) यह शिवज्ञान में प्रमाण है । 'न लिप्यते' (कठ. ५.११) आदि से शिववैराग्य स्फुट है । शिव के यश में तो सारा वेद ही उद्धृत किया जा सकता है । श्री अर्थात् उमा वाले शिव हैं इसमें 'उमासहायं परमेश्वरम्' (कै. १.७) आदि श्रुति प्रमाण है । तथा जगत्पतित्व में 'तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिम्' (शु. यु. मा. सं. २५.१८) आदि असंख्य प्रमाण हैं । 'पराक्रममती' आदि द्वन्द्वों में कम स्वरों वाले घिसंज्ञक शब्दों का भी पूर्वनिपात न करना नासिकास्तनयोः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(३.२.२९), नाडीमुष्ट्योः (३.२.३०) आदि पाणिनि निर्देश से ज्ञात तादृश नियम की अनित्यता के अनुकूल हैं ।

जलोद्धतगति छन्द है । 'जसौ जसयुतौ जलोद्धतगतिः'—इसमें प्रतिपाद यथाक्रम जगण, सगण, जगण व सगण होते हैं तथा छठे व बारहवें अक्षरों पर यति होती है ।

(७०) **प्रमथाधिपः** —प्रमथों के अधिपति । प्रमथ देवताओं के गण हैं जो रुद्र के अधीन बताये गये हैं । वस्तुतः ये साध्यों के अन्तर्भूत हैं । प्रमथ का अर्थ अच्छी प्रकार से मथना है । ध्यान ही मथना है । अतः ध्यानियों के इष्ट एवं मालिक तथा पालक होने से वे प्रमथाधिप हैं । 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' (यो. सू. १.२६) से पतञ्जलि ने उन्हें ध्यानयोग का आदि गुरु भी माना ही है ।

गणनाथ के वर्णन में प्रमथों का उल्लेख हो चुका है (श्लो. ६२) । कालिकापुराण में (अध्य. २९) इन्हें छत्तीस करोड़ बताकर इनका अवान्तर भेद भी बताया है । सोलह करोड़ तो नित्य योगपरायण रहते हैं और जब महादेव ध्यानादि में तत्पर होते हैं तब ये उनकी सेवा में उपस्थित रहते हैं । आठ करोड़ गृहस्थ गण हैं जो पार्वती समेत महादेव के रहने पर उनका अनुगमन करते हैं । नौ करोड़ अर्धनारी आकार के गण हैं जो तब द्वारपाल बन जाते हैं जब भगवान् एकान्त में पार्वती के साथ रमण करते हैं । तीन करोड़ गण नृत्य, वादन और गायन में निपुण हैं व यथासमय भगवत्प्रीति के लिये संगीत व्यक्त करते हैं । सब प्रमथों का यह तो साधारण गुण है—

सर्वे मायाविनः शूराः सर्वे शास्त्रार्थपारगाः । सर्वे सर्वत्र सर्वज्ञाः सर्वे सर्वत्रगाः सदा ॥
मुहूर्तात् सर्वभुवनं गत्त्वाऽऽयान्ति पुनः पुनः । अणिमाद्यष्टकैश्वर्ययुक्तास्ते वै महाबलाः ॥

सब गण शिव की सेवा के लिये व उनकी आज्ञा में हैं जिससे शिव प्रमथाधिप हैं । भगशब्दोदित गण शिव के हैं यह भगवान् नाम से कहा । वे ऐश्वर्यादि शिव में किसी तप आदि के फलस्वरूप या नैसर्गिक नहीं हैं किन्तु शिव का उन पर नियन्त्रण है जिससे वे उनसे स्वतन्त्र रहते हुए उन्हें अपने में प्रतीत कराते हैं यह सिद्धान्त स्पष्ट करने के लिये भगवान् कहकर प्रमथाधिप कहना आवश्यक हो गया । अथवा ऐश्वर्यादि की पूर्णता का प्रयोजक स्पष्ट करने के लिये प्रमथाधिप कहा है । इस अर्थ में मथित कर देने वाला होने से काम ही प्रमथ है । उसे नियन्त्रण में रखने से ही भगवत्ता संभव है । अथवा मनःसाक्षितया भगवद्रूपता दिखाना इष्ट है । प्रमथ अर्थात् कामनायें जिसमें रहती हैं वह मन प्रमथाधि है—प्रमथा आधीयन्तेऽस्मिन्निति प्रमथाधि र्मनः—और उसे चित्प्रकाश प्रदान कर उसका पालन करने वाला साक्षी प्रमथाधिप है । साक्षी ही भगवान् है यह वार्तिकामृतादि में प्रतिपादित है । कामनाओं को नियंत्रित करना व साक्षिभाव में स्थित रहने का अभ्यास प्रमथाधिप की वास्तविक सेवा है । अथवा अपनी स्थिति के अनुसार नित्य शिवसेवा करते रहना उनकी सेवा है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कल्पलतालवाल में यों कहा है–

मथ्नन्तितरां यदवैदिकाँ - स्त्वत्पारिषदाः प्रमथा मताः ।
तानीश ! सदा परिपालयन् भक्तैरुदितः प्रमथाधिपः ॥ ७६ ॥

हे ईश ! क्योंकि अवैदिकों का उन्मूलन करते हैं इसलिये आपके पार्षद प्रमथ माने जाते हैं । आप उन प्रमथों का सदा परिपालन करते हैं अतः भक्तों द्वारा आप प्रमथाधिप कहे जाते हैं ।

'मथ्नन्तितराम्' कहकर ध्वनित किया है कि अवैदिकों का विनाशमात्र प्रमथों का ध्येय नहीं है किन्तु उन्हें अवैदिकता से उखाड़कर वैदिक धरातल पर स्थापित करना उनका अभिप्राय है । इसी दृष्टि से तन्त्रों का सामंजस्य समझना चाहिये । अवैदिकों से वेदविरोधी विवक्षित हैं । जो तो अनधिकारी मात्र हैं, उनके लिये पौराणिक आदि तत्सम्मत प्रक्रियायें शिवप्रसाद प्राप्ति के लिये पर्याप्त हैं अतः उनका उन्मूलन व्यर्थ है । भगवान् निज गणों का हर तरह से पालन करते हैं यह भक्तवत्सल आदि नामों से व्यक्त है ।

प्रयुक्त छन्द है उपस्थिता । 'तो जौ गुरुणेयमुपस्थिता'–प्रतिचरण क्रमशः तगण, दो जगण व एक गुरु वर्ण होने से उपस्थिता छंद होता है ।

(७१) मृत्युञ्जयः –मृत्यु को जीतने वाले । अज्ञान को ही मृत्यु कहा जाता है । वे कभी भी अज्ञान के अधीन नहीं होते अतः मृत्युंजय हैं । प्रमाद को भी मृत्यु माना गया है । वे सदा अप्रमादी है अतः ऐसा कहा गया है । भक्तों को मृत्यु से पार कर देते हैं अतः भी मृत्युंजय हैं । वेद में मृत्युंजय मंत्र में यही प्रार्थना है कि हे शिव ! आपकी पूजा से हम मृत्युरूप अज्ञान, प्रमाद आदि से वैसे ही छूट जावें जैसे पकी लौकी लता से । पुराणों में तो मृत्यु अर्थात् यम को मारने से वे मृत्युंजय कहे गये हैं । परमार्थतः नाम-रूप-कर्म को वेद में मृत्यु कहा गया है । अधिष्ठान शिव कभी भी इन अध्यस्तों के अधीन नहीं वरन् अपने ज्ञान से इन्हें जिता देते हैं अतः मृत्युंजय हैं । तन्त्रशास्त्र में तो अपने प्राणों को रुद्र मानने से, प्राण का प्राणवियोग असंभव है । इतिहास में शिवशक्ति की पूजा ही प्राचीनतम काल से आज तक विश्वभर में अनवच्छिन्न रूप से मिली है अतः वे ही मृत्युंजय हैं । मोहनजोदड़ो, हड़प्पा आदि के ध्वंसावशेषों में सिवाय पशुपति और पार्वती के, और किसी की भी मूर्ति नहीं मिली है । अन्य सभी देवता उनसे परवर्ती हैं ।

मृत्यु को जीतने का एक ही उपाय है–जन्म न लेना । कहा भी है–

मृत्त्यो र्बिभेषि किं मूढ ! भीतं मृत्यु र्न मुञ्चति । अजातं नैव गृह्णाति कुरु यत्नमजन्मनि ॥

शिव क्योंकि अजन्मा हैं इसलिये मृत्यु पर उनकी नित्य विजय है । शिव की श्रुत्यादिप्रसिद्ध अजता कवियों ने यों प्रकट की है–

विवक्षता दोषमपि च्युतात्मना त्वयैकमीशं प्रति साधु भाषितम् ।
यमामनन्त्यात्मभुवोऽपि कारणं कथं स लक्ष्यप्रभवो भविष्यति ॥
कुमारसं. ५.८१ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
व्यवहारभूमि में द्वैत का सत्त्यतया दर्शन ही मृत्त्यु का कारण है। 'मृत्त्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (कठ. २.४.१०)। अतः मृत्त्युंजय की उपासना यही है कि जन्मराहित्यार्थ प्रयास करते हुए भेद को सत्त्य न माने। कम से कम भेद में मिथ्यात्त्वभावना तो सभी कर सकते हैं। भेद को सत्य मानने वाले तो मृत्त्यु के निश्चित शिकार हैं। मृत्त्यु का विजेता–इस अर्थ में मृत्यु उपपद रहते जि जये (भ्व. प. से.) धातु से 'संज्ञायां भृतॄवृजिधारिसहितपिदमः' (३.२.४६) सूत्रविहित खच् होकर तथा मुम् (६.३.६६) होकर 'मृत्युञ्जयः' शब्द बनता है। मृत्त्यु समस्त आपदों का उपलक्षण है। सर्वाधिक अनिष्ट होने से इसे नामतः कह दिया है। जितने भी अनिष्ट संभव हैं उन सभी पर महादेव की विजय नित्यसिद्ध है। जिस पर विजय हो चुकती है उसे अपने स्वातन्त्र्य से नियुक्त किया जा सकता है। शिव भी मृत्त्यु आदि को अपनी आज्ञानुसार नियुक्त करते हैं। सौरपुराण में (६९.१–१७) श्वेतमुनि की रक्षार्थ मृत्त्यु का विनाश वर्णित ही है।

आलवाल की श्लोकबद्ध व्याख्या यह है–

> रुद्राच्युतेशब्रह्मणां कोट्यो यया गीर्णाः क्षणात्।
> तद्गोचरो न त्वं विभो! तेनाभवो मृत्युञ्जयः ॥ ७७ ॥

हे विभो! करोड़ों ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र व ईश्वर जिस मृत्त्यु द्वारा क्षणभर में निगल लिये जाते हैं, आप उस मृत्त्यु के विषय नहीं हैं अतः अजन्मा आप मृत्युंजय हैं।

ब्रह्मा आदि मूर्तियाँ कालक्षेत्र की हैं, व परमशिव कालातीत हैं यह सदाशिवनाम के विवरण में (श्लो. ५९) वायुसंहितादि वचनों से सिद्ध किया जा चुका है। 'यया' सर्वनाम मृत्त्यु अर्थ वाले मृति शब्द की अपेक्षा से आया है। मृत्त्यु से यहाँ यमदेवता के वशीभूत होना विवक्षित नहीं किन्तु विलयमात्र विवक्षित है। काल भी इदन्तया अनुभूयमान होने से बाध्य है अतः उसका अधिष्ठानतया अवशेष अवश्यंभावी है। वह निज अधिष्ठान को विषय करे यह असंभव है। जैसे रज्जु में कल्पित सर्प से रज्जु विषाक्त नहीं हो सकती वैसे शिव में कल्पित काल शिव को नहीं नाप सकता। 'अभवः' शब्द न भवो जन्म यस्य इस अर्थ में तथा लङ्लकार मध्यमपुरुष में भू धातु के रूप में आया है। इसका तन्त्र से प्रयोगकर अर्थचातुरी प्रकट होती है। मृत्युराहित्य के प्रति अभवता कारण कह दी है। मूल के ऐसे अनेक रहस्य वेङ्कटाचल पण्डित की सुधापूर से प्रकट हुए हैं।

छन्द भी मृत्युंजय है। 'तो मो लगौ मृत्युञ्जयः' तगण, मगण, लघु व गुरु वर्ण प्रतिचरण होने से मृत्युंजय छन्द होता है।

(७२) **सूक्ष्मतनुः** –सूक्ष्मशरीर रूप। रुद्रों को बृहदारण्यक उपनिषत् में लिंगशरीर से अभिन्न बताया है। अतः वे समष्टि सूक्ष्मदेह हैं। विसतन्तु-सदृश कुण्डलिनी में उपलब्ध होने से भी वे सूक्ष्मतनु हैं। हृदय में सूक्ष्म छिद्र रूप उपाधि में उनका ध्यान प्रतिपादित होने से भी वे सूक्ष्मतनु हैं। तंत्रों में तो तनु का अर्थ भी सूक्ष्म होने से वे सूक्ष्म की अपेक्षा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भी सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्मतनु कहे गये हैं। योग में प्रणव की सूक्ष्मावस्था परा में उनकी अभिव्यक्ति होने से वे सूक्ष्मतनु हैं। देह को सूक्ष्म करने पर ही उनकी उपलब्धि होती है।

तनु विस्तारे (त.उ.से) धातु से उकारान्त (उणा. १.७) अथवा सकारान्त (उण. २.११९) तनु शब्द सिद्ध होता है। शिव सूक्ष्म व विस्तृत दोनों हैं अतः सूक्ष्मतनु हैं। 'अणोरणीयान्महतो महीयांन्' (कठ. २.२०) आदि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। सूच पैशुन्ये (चु.उ.से.) धातु से औणादिक स्मन् प्रत्यय हो (४.१७८) सूक्ष्म शब्द बनता है। पैशुन्य का अर्थ है छिपे रहकर अनुचित ज्ञान कराना। शिव का शरीर भी ऐसा है कि जब तक वह छिपा रहता है तब तक अनुचित ही ज्ञान कराता है—मिथ्याज्ञान ही कराता है। निग्रह व अनुग्रह दोनों शिव के ही कृत्य हैं यही सिद्धान्त है। अज्ञात होना रूप कारणता ही व्यापक शिव की सूक्ष्मता है। सूक्ष्मतनु की उपासना यही है कि हम शिव का वह पैशुन्य, वह सूक्ष्मता पहचानने का प्रयास करें जिससे हम भी उससे अभिन्न ही रहें। अथवा हाथ-पैर आदि वाली मूर्तियों की अपेक्षा लिंग सूक्ष्म तनु है। मूर्त होने से तनु तथा हाथ पैर आदि व्यक्त न होने से सूक्ष्म है। अतः लिंगरूप शरीर वाले शिव को सूक्ष्मतनु कहा है। महादेव की मुख्य मूर्ति शिवलिंग ही है यही सम्प्रदाय है। सब अधिकारियों को शिवलिंग का अर्चन पूजन करना चाहिये, यह सूक्ष्मतनु की उपासना है। पुनरपि स्मर्तव्य है कि शिवलिंग का अर्थ 'शिव का लिंग' बस इतना ही नहीं समझ लेना चाहिये। सूचक होने से लिंग इस अर्थ में भी शिवलिंग है ही। किन्तु वास्तविक अर्थ है कि शिव ही लिंग हैं। परमात्मा का उनसे अतिरिक्त क्या ज्ञापक होगा ? अतएव सूतसंहिता बताती है—

शिव एव स्वयं लिङ्गं लिङ्गं गमकमेव हि ॥ शिवेन गम्यते सर्वं शिवो नान्येन गम्यते ॥
जडं हि गम्यतेऽन्येन नाऽजडं मुनिपुंगवाः ! ॥ शिवो नैव जडः साक्षात् स्वप्रकाशैकलक्षणः ॥
४.२८.२–३ ॥

भास्करराय इस नाम की यह व्याख्या करते हैं—

दुर्ज्ञेयमूर्तिधरोऽप्याम्रातके प्रकटः ।
सूक्ष्मादपीश ! तनु- स्तेनासि सूक्ष्मतनुः ॥ ७८ ॥

हे ईश ! आप आम्रातकक्षेत्र में ऐसी मूर्ति धारणकर प्रकट हुए हैं जिसे समझ पाना कठिन है अतः सूक्ष्मतनु हैं। तथा आप सूक्ष्म से भी तनु (= छोटे) हैं अतः सूक्ष्मतनु हैं।

आम्रातक क्षेत्रविशेष का नाम है जहाँ भगवान् शरीर धारणकर प्रकट हुए थे। नीरूप शिव रूप वाले कैसे हो सकते हैं—यह समझ पाना अति कठिन् है। अद्यावधि एक ओर वैष्णवादि हैं जो परमात्मा को सरूप ही मानते हैं। दूसरी ओर सन्तपरम्परा है जो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नीरूप राम को ही स्वीकारती है। यह तो साक्षात् शिव ने ही कृपापरवश हो स्पष्ट किया है कि नीरूप का सरूप होने से कोई विरोध नहीं–

'स्यात्परमेश्वरस्याऽपि इच्छावशात् मायामयं रूपं साधकानुग्रहार्थम्'
(ब्र. सू. भा. १.१.२०)।

यह समझ पाना अति कठिन है ही। पुराणादि में वर्णित समस्त ईश्वर-आकार शिव के ही हैं, यह यदि उक्त भाष्योक्ति के अनुसर्त्ता आचार्य यों न बताते कि–

'एकस्यैव चतुर्भुजचतुर्मुखपञ्चमुखाद्याः पुमाकाराः, श्रीभारतीभवान्याद्याश्च स्त्र्याकाराः, अन्ये च मत्स्यकूर्मादयोऽनन्तावतारा लीलयैवाविर्भवन्ति भक्तानुग्रहार्थमित्यवधेयम्।' (सि. विं. श्लो. ८) तो निश्चित है कि परमात्मा का मूर्ति धारण करना ठीक से समझ न आता। 'विरलेऽल्पे कृशे तनुः' आदि त्रिकाण्डशेष से तनु का अर्थ छोटा भी है। अतः द्वितीय अर्थ संगत है। इसमें 'सूक्ष्मातिसूक्ष्मम्' (श्वे. ४.१४) 'सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति' (मुं. ३.१.७) आदि श्रौतोक्तियाँ प्रमाण हैं।

चूडामणि नामक छन्द है। 'चूडामणिस्तभगः'–प्रतिपाद तगण, भगण व एक गुरुवर्ण होने से चूडामणि छन्द बनता है।

(७३) जगद्व्यापी–संसार में व्याप्त होकर रहने वाले। पूर्व नाम से इसमें विरोधाभास है। वस्तुतः कारण सूक्ष्म भी होता है और व्यापक भी। पृथ्वी की अपेक्षा जल सूक्ष्म भी है और व्यापक भी। इसी प्रकार तेज, वायु और आकाश भी हैं। आकाश का भी कारण होने से महेश्वर सारे जगत् की अपेक्षा व्यापक और सूक्ष्म हैं। वेद में तो अधिष्ठानरूप होने से भी वे व्यापक हैं एवं विष्णुरूप से उपादान होने के कारण भी व्यापक हैं। दर्शन की दृष्टि से तो सत्ता रूप से वे सारे जगत् में व्याप्त हैं।

व्यापी का अर्थ है व्यापक। लिंग से साध्य व्यापक होता है जैसे धूम से वह्नि। जगत् से शिव का अनुमान होता है अतः जगद्रूप लिंग से साध्यरूप शिव व्यापक होने से जगद्व्यापी हैं। 'प्रतिचक्षणाय' (बृ. २.५.१९) आदि श्रुति इसमें प्रमाण है। अथवा, जिसने जगद्भाव को विशेषरूप से प्राप्त किया है वह जगद्व्यापी है। शिव ने ही तत्तद्व्यक्तित्वेन जगद् रूप लिया है। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ. ४.५.७) आदि श्रुति से यह स्पष्ट है। अथवा ज्ञेय से ज्ञाता व्यापक होता है। अतः जगत् को जानने वाले होने से शिव जगद्व्यापी हैं। जीव तथा साक्षी, दोनों रूपों से शिव ही जगत् को जानते हैं। यों ज्ञाता व ज्ञेय रूप से शिव की अवस्थिति को सदा याद रखना, हर व्यवहार में व्यवहर्ता व व्यवहार्य शिव ही है इसे मन में रख व्यवहार करना जगद्व्यापी की उपासना है। एक अंश की भी उपासना हो सकती है, अर्थात् हम जो कुछ कर, कह या सोच रहे हैं उसे शिव जान रहा है–यह निश्चय बनाये रखना भी जगद्व्यापी की उपासना हो सकती है, तथा जिससे हम व्यवहार कर रहे हैं वह व्यक्ति या वस्तु स्वयं शिव है यह भी उसकी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

उपासना है । जगत् गौरी-शंकर से अधिष्ठित है आदि पौराणिक वर्णन (शिवपु. वायुसं. उत्तर. अध्य. ४) भी इसी दृष्टि से समझना चाहिये ।

समष्टि व व्यष्टिरूप जगत् को व्याप्त करना जिसका स्वभाव है वह जगद्व्यापी है इस आशय से भास्करीय व्याख्या प्रवृत्त हुई है–

सत्ता भानं प्रियमिति चानुस्यूतं सर्वेष्वर्थेष्वनुभवसिद्धं लोके ।
सच्चित्सौख्यत्रयमपि यौष्माकीणं रूपं तस्माद् भवसि जगद्व्यापी त्वम्[1] ॥ ७९ ॥

यह अनुभवसिद्ध है कि लोक में सब वस्तुओं में सत्ता, भान और प्रियरूपता अनुगत है, तथा सत्ता, भान और सुखात्मकता आपका स्वरूप है । अतः सत्तादि रूप से जगत् को व्याप्त करने वाले आप जगद्व्यापी हैं ।

सत्स्वरूप ही सत्ता हैं, स्वार्थ में तल् प्रत्यय है । जैसाकि सुरेश्वराचार्य ने कहा है–

प्रकृत्यर्थातिरेकेण प्रत्ययार्थो न गम्यते । सत्तेत्यत्र ततः स्वार्थस्तद्धितोऽत्र भवन् भवेत् ॥
बृ. वा.

भान कहते हैं ज्ञानस्वरूप को । प्रिय नाम है आनन्दस्वरूप का । प्रपंच की प्रत्येक वस्तु सद्रूप वाली है, वह ज्ञात होती है और किसी न किसी को प्रिय है । अतः इन रूपों में शिव ही सब वस्तुओं में अनुगत हैं यह निश्चित है । इस विषय में आचार्योक्ति भी है–

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपंचकम् । आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥
वाक्यसु. २० ॥

श्वेताश्वतरोपनिषत् 'सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः' (श्वे. ३.११) कहकर इस नाम को सत्यापित कर रही है ।

जलधरमाला छन्द है । 'मो भः स्मौ चेज्जलधरमालाऽब्ध्यन्त्यैः'–यदि चारों पादों में क्रमशः मगण, भगण, सगण और मगण हों तथा चौथे व बारहवें अक्षरों पर यति हो तो जलधरमाला छन्द होता है ।

(७४) जगद्गुरुः –जगत् के गुरु । वेद में 'ईशानः सर्वविद्यानाम्' (महाना. १७.५) कहकर शिव का स्मरण होने से वे ही सारे ज्ञानों के मूल स्रोत माने गये हैं । तन्त्र सभी शिव-शक्ति-प्रोक्त ही हैं । साहित्य, शृंगार, संगीत, नाट्य, व्याकरण, दर्शन आदि के सभी आचार्यों ने शंकर को ही गुरु माना है । अतः शिव ही एकमात्र जगद्गुरु हैं ।

'सदाशिवसमारब्धाम्' आदि शिष्ट वचन गुरुपारम्पर्य का उत्तंस महेश्वर को घोषित

---

१. मुद्रितग्रन्थे त्वमिति नास्ति, परं छन्दोऽनुरोधादक्षराल्पत्वमालक्ष्यौचित्यादिहालेखिष्म ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करते हैं। अन्यत्र प्रसिद्ध परम्परा के प्रथम गुरु नारायण भी शिवशिष्य हैं यह यज्ञवैभवखण्ड में (३५.२–३) सूतसंहितोक्ति है–

यः शिवः सर्वभूतानामीश्वरः स्वत एव तु। ईशानः सर्वविद्यानां स एवादि गुरु र्बुधा ! ॥
तस्य शिष्यो महाविष्णुः सर्वज्ञानमहोदधिः। तस्मादात्तपरिज्ञानो ब्रह्मा सर्वजगत्पतिः ॥

प्रथमज के उपदेष्टा के रूप में शिव उपनिषदों में (श्वे. ६.१८) प्रसिद्ध ही हैं। 'कलासर्गकरम्' (श्वे. ५.१४) आदि श्रुतियों का भी यही तात्पर्य है। परशम्भुमहिम्नस्तुति में महर्षि दुर्वासा ने कहा है–

अज्ञातं ब्रह्मतत्त्वं निजहृदयदरीलीनमात्रप्रकाशं व्यक्तीकर्तुं स्वनित्याक्षरविदितमहामातृकात्वं प्रपन्नः।
त्वं दिव्याम्नायविद्यासुविदितमहिमाऽनन्तशक्तिप्रकाश- स्तत्तद्वर्णात्मभेदैरुपदिशसि परं श्रीगुरो ! स्वस्वरूपम् ॥ ५८ ॥

तथा आगे भी–

...सर्वप्रज्ञैकवासं त्रिभुवननिलयस्वात्मनाऽध्यात्मदीप्तं सर्वोत्तीर्णात्मतत्त्वेश्वरमनलमुखं त्वां गुरुं शम्भुमीडे ॥ ७६ ॥

दक्षिणामूर्ति स्तोत्र भी उन्हें प्रथम आचार्य कहता है 'आचार्यमाद्यं वटमूलभागे' (२)। अप्पयदीक्षितने भी कहा है–

....तं त्वामाद्यं गुरुमहमसावात्मबुद्धिप्रकाशं संसारार्तः शरणमधुना पार्वतीशं प्रपद्ये ॥ आत्मा. १६ ॥

इस प्रकार प्रथम गुरु होकर वे साक्षात् या परंपरा से सबके गुरु होने से जगद्गुरु हैं। अथवा गृणातीति गुरुः इस प्रकार गॄ शब्दे (क्र्या. प. से.) धातु से औणादिक प्रक्रिया द्वारा (१.२४) बना गुरु शब्द नामव्याकर्ता को बताता है। रूपव्याकर्ता को जगद्व्यापी से कहकर नामव्याकर्ता को जगद्गुरु से कहा है। जगत् को नामों का संघटन करने वाला– जगद् गृणातीति–जगद्गुरु है। शब्दशक्ति ईश्वरेच्छारूप स्वीकारी गयी है। कुत्रचित् जीवरूप से इच्छा करने पर भी इच्छा तो ईश्वर की ही है। अथवा अद्यावधि जगद्गुरु शब्द केवल आचार्य भगवत्पाद को द्योतित करता पाया जाता है। अन्यों के लिये आने पर उसे किसी न किसी उपपद की आवश्यकता होती है। अतः शिव के शङ्कराचार्यावतार को यहाँ जगद्गुरु नाम से कहा गया समझना चाहिये। जगद्गुरु की उपासना तो उनके उपदेशों को समझ उनका पालन करना ही है।

दक्षिणामूर्ति रूप में शिव की जगद्गुरुता का वर्णन करते हुए भास्करराय कहते हैं–

वटतरुनिकटे मुनीनखिलान् सुरान् कमलभवमुखान् प्रबोधनमुद्रया।
उपदिशसि परं महस्तव दक्षिणा- मुखपरशिव ! तन्मतोऽसि जगद्गुरुः ॥ ८० ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हे दक्षिण की ओर मुँह किये परम शिव ! वटवृक्ष के समीप समस्त मुनियों को तथा पद्मसंभव आदि देवताओं को चिन्मुद्रा से आप अपने परम तेज का उपदेश देते हैं, अतः जगद्गुरु माने जाते हैं ।

स्कन्दपुराण की सूतसंहिता के मुक्तिखण्ड के चौथे अध्याय में (श्लो. ३१-५२) दक्षिणामूर्ति का विशद वर्णन है । श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के छठे अध्याय में (श्लो. ३१-३९) भी दक्षिणामूर्ति का वर्णन है । पौराणिक उल्लेखों के अतिरिक्त दक्षिणामूर्ति-उपनिषत् भी प्राप्त होती है । शैव आगमों में भी दक्षिणामूर्ति की उपासना प्रतिपादित है व दक्षिण भारत में प्रचलित भी है । आचार्य श्रीशंकर ने अनेक स्तोत्रों द्वारा शिव के इस रूप का माहात्म्य प्रचारित किया है । मूलतः उपनिषत् का (श्वे. ४.२१) यह कथन कि शिव अपने दक्षिण मुख से साधक की रक्षा करें, दक्षिणामूर्ति का आधार है । दक्षिणाशब्द का ज्ञानादि अर्थ भी प्रसिद्ध है व तदनुसार दक्षिणामूर्ति का स्वरूप दक्षिणामूर्त्युपनिषत् में (१९) ही बता दिया है–

शेमुषी दक्षिणा प्रोक्ता सा यस्याभीक्षणे मुखम् । दक्षिणाभिमुखः प्रोक्तः शिवोऽसौ ब्रह्मवादिभिः ॥

आलवालीय श्लोक में 'तव परं महः' इस प्रकार प्रयुक्त 'तव' पद में भेदोपचार से षष्ठी है । शिव अपना स्वरूपभूत ज्ञानात्मक तेज ही चिन्मुद्रा से लक्षित कराते हैं । दक्षिणामुखश्चासौ परशिवश्च–यह संबोधन का विग्रह है ।

छंद है अपराजिता । 'ननरसलघुगैः स्वरैरपराजिता'–जिसके सभी पादों में यथाक्रम दो नगण, एक रगण, सगण, लघु व गुरु वर्ण हों वह अपराजिता नामक छंद होता है ।

(७५) व्योमकेशः –आकाशरूप केश वाले । लिंगमूर्ति के केश आकाशरूप ही हैं यह स्पष्ट है । ब्रह्माण्ड का सबसे बाहरी आवरण आकाश ही है अतः विश्वरूप शिव के केश आकाश ही होना संभव है । इसीलिये पुराणों में भी शिव के केशों में आकाशगंगा को बताया है । केश सौन्दर्यवर्धक हैं । आकाश से ही सृष्टि का प्रारम्भ होकर मानो शिव का सौन्दर्य बढ़ाया गया है । इसी शक्तिविकास या नाम-रूप-कर्मात्मक सौन्दर्य का त्याग करने से परमहंस शिरःकेशों को कटाकर मुण्डी रहते हैं । दूसरों के लिये तो मुण्ड होना अत्यन्त शोक का विषय या दण्ड माना गया है ।

महाभारत के द्रोणपर्व में (२०२.१३४) व्योमकेश नाम का व्यासोक्त निर्वचन है–

सूर्याचन्द्रमसो र्लोके प्रकाशन्ते रुचश्च याः । ताः केशसंज्ञितास्त्र्यक्षे व्योमकेशस्ततः स्मृतः ॥

अर्थात् सूर्य व चन्द्रमा की जो किरणें चमकती हैं उन्हें भगवान् त्रिलोचन के केश कहते हैं । क्योंकि किरणें व्योम में प्रकाशित होती हैं, इसलिये भगवान् व्योमकेश हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अथवा स्वार्थिक कप्रत्यय से व्योम को व्योमक कहा है और दहराकाश में प्रस्फुट होने से शिव को व्योमकेश कहा है। 'निहितं गुहायां परमे व्योमन्' (तै. २.१.१), 'तत्रापि दहं गगनं विशोकस्तस्मिन् यदन्तस्तदुपासितव्यम्' (महा. १०.७) आदि वेदवचन इसमें प्रमाण है। अथवा व्योम से आकाशाधिष्ठाता भीमपदवाच्य रुद्र, क से ब्रह्मा व ईश से विष्णु को कहकर त्रिमूर्तिरूप शिव का नाम व्योमकेश है। इसका वर्णन रुद्रहृदयोपनिषत् में दर्शनीय है–

कार्यं विष्णुः क्रिया ब्रह्मा कारणन्तु महेश्वरः। प्रयोजनाय रुद्रेण मूर्तिरेका त्रिधा स्थिता ॥ १५ ॥ इत्यादि।

अथवा व्योम की तरह फैले केश वाले होने से रुद्र व्योमकेश हैं। इस दृष्टि से ही ताण्डवस्तोत्र के प्रारंभ में जटा को कटाह कहा है। प्रतीकात्मकता के विचारकों ने केश को ज्ञान का प्रतीक बताया है। व्योम की तरह निर्विशेष एक अखण्ड ज्ञान वाले होने से भी शिव व्योमकेश हैं। अथवा नटराज के केश व्योम में बिखर जाते हैं जिससे वे व्योमकेश हैं। इस रूप का पुष्पदन्तीय वर्णन चामत्कारिक है 'मुहु र्द्यौ दौस्थ्यं यात्यनिभृतजटाताडिततटा' (महिम्न. १६)। दहरोपासना, केवल ज्ञान प्राप्ति या किरणसम्बन्धी मधुविद्योपासना व्योमकेश की उपासना पद्धतियाँ समझनी चाहिये।

आलवाल की बहुमुखी व्याख्या है–

पृथ्वीपाथोज्ज्वलनपवनव्योमरूपेषु भूते- ष्वल्पाल्पानि प्रथमगदितान्युत्तराणीशितॄणि।
व्योम्नोऽपीशोऽस्यथ च गगनं कुन्तलास्ते विराजो गङ्गाधारा वियदिव जटास्तेन च व्योमकेशः ॥ ८१ ॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाशरूप महाभूतों में पूर्व में कहे भूत व्याप्य तथा उत्तरोत्तर कहे भूत व्यापक हैं, किन्तु आप तो व्योम से भी व्यापक हैं अतः व्योमकेश हैं। किं च विराट् रूप आपके केश गगनात्मक हैं इसलिये भी आप व्योमकेश हैं। और गंगा की आधारभूत आपकी जटायें आकाश की तरह विस्तृत होने से भी आप व्योमकेश हैं।

प्रथम व्याख्यान में व्योमक शब्द व्योमार्थक है। स्वार्थ में कप्रत्यय है (५.३.७०) ईश का अर्थ व्यापक है। कार्य कारण से व्याप्य और कारण कार्य से व्यापक प्रसिद्ध ही है। आकाशादि की शिवकार्यता तैत्तिरीयादि में स्पष्ट है। 'व्योम से भी'–यों 'भी' कहकर वायु आदि प्रत्येक से व्यापकता का भी कथन हो गया। वायु आदि सबका कारण शिव ही है। जहाँ आकाश आदि तत्तद्भूतों को वायु आदि तत्तद्भूतों का कारण कहा भी है, वहाँ आकाश उपाधि वाला शिव वायु का, वायु उपाधि वाला शिव तेज का इत्यादि अर्थ प्रतिपिपादयिषित है यह वेदान्त मर्यादा है : 'तदभिध्यानादेव तु तल्लिंगात् सः' (ब्र. सू. २.३.१३)। दूसरे व्याख्यान में व्योम ही केश हैं। तीसरे व्याख्यान में केश का अर्थ जटा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है । व्योम सी विस्तृत जटाओं वाले होने से व्योमकेश हैं । व्योम शब्द व्योम जैसे विस्तार में लाक्षणिक है । अथवा, व्योम की तरह विस्तृत को व्योमविस्तृत कहते हैं । व्योमविस्तृत शब्द का केश शब्द से समास और विस्तृत शब्द का लोप है ।

मन्दाक्रान्ता छन्द है । 'मन्दाक्रान्ताऽम्बुधिरसनगै र्मो भनौ तौ गयुग्मम्'–प्रतिपाद क्रमशः मगण, भगण, नगण, दो तगण, तथा दो गुरु वर्ण एवं चौथे, दसवें और सत्रहवें वर्णों पर यति होने से मन्दाक्रान्ता छंद बनता है ।

(७६) **महासेनजनकः** –कार्तिकेय के पिता । देवसेना जब तारकासुर के आक्रमण से परास्त हो गयी तब शिव ने पार्वती को निमित्त बनाकर देवसेना के अधिपतिरूप से कार्तिकेय को उत्पन्न किया । अतः वे ही महासेनानी माने गये हैं । वेदों में तो अनन्त आसुरी वृत्तियों का नाश करने के अनेक उपाय ही महासेना हैं । उनका उपदेश देने से शिव महासेनजनक हैं । उन सभी के सेनानी रूप से आत्मज्ञान का उपदेश देकर उसे ब्रह्माकार वृत्ति में प्रतिफलित वे शिव ही करते हैं, अतः महासेन के जनक भी वे ही हैं ।

अत्यधिक विस्तृत सेना वाले यमराज को पुनरुज्जीवित करने से शिव महासेनजनक हैं । काल की इस पुनरुत्पत्ति में सौरपुराण (६९.१–१७) प्रमाण है–

''''अहं च विष्णुना सार्धं स्तुत्वा देवं महेश्वरम् । प्रसाद्याथ पुनर्जातः कालः शम्भोरनुग्रहात् ॥ १७ ॥

अथवा महाबलशाली सेना वाला कामदेव भगवान् की करुणा से उत्पन्न हो पाया था इसलिये वे महासेनजनक हैं । शिवपुराण में (पार्वतीखं. ५१) वर्णित है कि शिवविवाह के अवसर पर रति की प्रार्थना से भगवान् ने काम को जिलाया–

सुधादृष्ट्या शूलभृतो भस्मतो निर्गतः स्मरः । तद्रूपवेषचिह्नात्मा सुन्दरोऽद्भुतमूर्तिमान् ॥ श्लो. १४ ॥

अथवा, षिञ् बन्धने (क्र्या. उ. अ.) धातु से औणादिक (३.१०) नप्रत्यय और स्त्रीत्वविवक्षा से टाप् हो सिनाति बध्नातीति सेना शब्द सिद्ध होता है, जिससे बन्धन करने वाले अहंकार, ममकार, अविवेक आदि सेनापद से कहे जाते हैं । ऐसी महती सेना जिसकी है वह अज्ञान ही महासेन है और उसके अधिष्ठानकारण होने से शिव महासेनजनक हैं । अथवा शुक्र को संजीवनी विद्या के उपदेशक होने से (शिवपु. रुद्र. अध्य. ५०) शिव महासेनजनक हैं । अथवा विपरीतलक्षणा से महासेना के नाशक होने से शिव को महासेनजनक कहा है । महाभारतयुद्ध में सेनानाशक शूलपाणि ही थे–

संग्रामे न्यहनं शत्रून् शरौघैर्विमलैरहम् । अग्रतो लक्षये यान्तं पुरुषं पावकप्रभम् ॥
ज्वलन्तं शूलमुद्यम्य यां दिशं प्रतिपद्यते । तस्यां दिशि विदीर्यन्ते शत्रवो मे महामुने ॥
तेन भग्नानरीन् सर्वान् मद्भग्नान् मन्यते जनः । तेन भग्नानि सैन्यानि पृष्ठतोऽनुव्रजाम्यहम् ॥
भगवंस्तन्ममाचक्ष्व को वै स पुरुषोत्तमः । ''''
ईशानं वरदं पार्थ दृष्टवानसि शङ्करम् । (द्रोणपर्व. २०२.४–१०) ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आदि अर्जुन-व्यास संवाद इसमें प्रमाण है । शत्रु विनाश में व्यापृत होना महासेन की व तद्द्वारा तज्जनक की उपासना है । वैरी काम व क्रोध ही हैं (गी. ३.३७) । महासेन शिवात्मज्ञान ही है क्योंकि विवेक, वैराग्य, शमादि, मुमुक्षा, पदार्थशोधन, मनन, निदिध्यासन आदि सेना का नेतृत्व कर शत्रु का दमन उसे ही करना है । महासेन के जनक शिव ही हैं–ज्ञान के प्रति विषय कारण होता ही है ।

कुमारसंहितोक्त आख्यायिका द्वारा नाम का अर्थ आलवाल में प्रकट किया गया है–

सुब्रह्मण्येन पृष्टे प्रणवपरमार्थोऽत्र क इति ब्रह्मण्यब्जेक्षणे स्वं दिशति सति कारानियमिते । आत्मा वै पुत्र नामेत्युपदिशति तौ मोचितवति त्वय्यब्जाक्षाजपुत्रैः स्तुत इति महासेनजनकः ॥ ८२॥

कार्तिकेय ने पूछा–प्रणव का वास्तविक प्रतिपाद्य कौन है ? ब्रह्मा व विष्णु ने स्वयं को ही प्रणवप्रतिपाद्य बता दिया । उनके इस मिथ्या अहङ्कार के कारण उन्हें परमशिव ने कारागार में बन्द कर दिया और यह उपदेश दिया कि अपरिमित आनन्दस्वरूप परं ज्योति परमात्मा ही ॐकार का वास्तविक प्रतिपाद्य है तथा हे स्कन्द वह आत्मा तू ही है क्योंकि वेद कहता है 'निश्चय ही पुत्र आत्मा है' (शतपथ. १४.९.४.८.२६) । यह तथ्य समझाने के बाद ब्रह्मा व विष्णु को भी कारागृह से छोड़ दिया । इस पर कमलनयन विष्णु, ब्रह्मा व स्वपुत्र स्कन्द द्वारा भगवान् की स्तुति की गयी । इस प्रकार भव की महासेनजनक यह संज्ञा अन्वर्थ है ।

उक्त प्रसंग से ॐकारगम्य महासेन हैं व वे शिव पुत्र होने से शिवस्तुति करते हैं यह पता चलता है । अतः शिव की महासेनजनकता अर्थसिद्ध है । श्रुतिस्मृति में प्रणवार्थ शिव ही प्रसिद्ध हैं अतः पुत्र की श्रुतिसिद्ध आत्मता का सहारा लेकर स्कंद की प्रणवार्थता बतायी है । वस्तुतः सारा जीवसमूह शिवसुत होने से प्रणवार्थ है । जब तक जीव स्वयं की पृथक् सत्ता मानकर रहता है तब तक वह प्रणवार्थ नहीं, और यदि तब वह अपने को प्रणवार्थ मानता है तो भ्रान्त है, जैसे इसी कथा में ब्रह्मा व विष्णु । किन्तु जब वह अपने वास्तविक शैवरूप को समझकर स्वयं को प्रणवार्थ जान लेता है तब मुक्त हो जाता है । कारागृह में डालना–निग्रह तथा उससे छुड़ाना–अनुग्रह दोनों शिवकृत्य हैं । अज्ञातशिव–शिव को अपने से भिन्न जानना–निग्राहक, और ज्ञात शिव–शिव को अपने से अत्यन्त अभिन्न जानना–अनुग्राहक हैं ।

छन्दनाम भी महासेन है । 'म्रौ भ्नौ त्सौ सप्तरुद्रै र्यतिरिति महासेन उदितः'–प्रतिपाद मगण, रगण, भगण, नगण, तगण, सगण हों व सातवें व अठारहवें अक्षरों पर यति हो तो महासेन छंद कहा जाता है ।

(७७) **चारुविक्रमः** –सुन्दर विक्रम वाले । उनका क्रम, सृष्टि व ज्ञान–सर्वत्र सुंदर है । क्रम का अर्थ चाल भी है । शिव की चाल इतनीं सुन्दर है कि मानो नृत्य कर रहे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हों। शत्रुओं को जीतते हुए भी उनमें अविक्षेप या श्रमाभाव रहने से ऐसा लगता है कि मानो अभिनय कर रहे हों। ध्यान योग आदि भी अज्ञानजय के मार्ग में विक्रम ही है। उसमें भी उनका लावण्य निखरता है। शिवभक्त भी इसीलिये सुन्दरतापूर्वक ही सारे कार्य करते हैं।

पूर्व में (नाम ५५) वीरता व भद्रता की संगति कही थी, यहाँ चारुता व विक्रम का साहचर्य कहा जा रहा है। भद्रता बुद्धिप्रधान व चारुता मनःप्रधान होती है। वीरता व विक्रम का ऐकार्थ्य है। वीर विक्रान्तौ (चु. आ. से.) धातु से वीर शब्द समझा जा सकता है। शिव का विक्रम केवल कल्याणकारी है इतना ही नहीं, लगता भी प्रिय है। जो मन में या नेत्रपथ में चलता रहे वह चारु कहा जाता है। गत्यर्थक चर (भ्व. प. से.) धातु से औणादिक ञुण प्रत्यय (१.३) हो चारु शब्द बना है। जिसका ज्ञान या दर्शन सुखकारी होता है वही चीज मन में दुहरायी जाती है या उसे ही देखने बार-बार नेत्र पहुँचते हैं जिससे वह दृष्टिपथ में रहती है। शिव की वीरता ऐसी ही है। यद्यपि 'ननु वामैव विभुता' (महिम्न. १६) न्याय से विक्रम वाम प्रतीत होता है तथापि उसकी चारुता बनी ही रहती है, अतएव वाम शब्द का प्रयोग है। जैसे नाटकादि में प्रदर्शित हिंसा आदि भीषण दीखती है पर सही ढंग से प्रदर्शित होने पर उसकी चारुता भी बनी रहती है, वैसे समझना चाहिये। हर कदम ऐसे बढ़ाना कि उससे कल्याण हो व वह स्वयं चारु हो, चारुविक्रम की उपासना है। अथवा तीर्थाटन चारुविक्रम की उपासना है।

आलवाल की गेय व्याख्या है–

परशिव ! त्वया ये निषूदिता गजजलन्धरत्रैपुरादयः ।
अपुनरागमं ते पदं गता- स्तव चमत्कृतश्चारुविक्रमः ॥ ८३ ॥

हे परमशिव ! गज, जलन्धर, त्रिपुरवासी आदि जो असुर आपके द्वारा मारे गये, वे आपके उस कैलास धाम को प्राप्त हुए जहाँ से लौटना नहीं पड़ता; अपनी ऐसी गति से वे सबको चमत्कृत करते हुए द्योतित करते हैं कि आप चारुविक्रम हैं।

गजासुर का नियमन कृत्तिवासा नाम के (नाम. ६७) विवरण में आ चुका है त्रिपुरवासी दैत्यों के विनाश की कथा भी पूर्व में (नाम ३८) बतायी जा चुकी है। जलन्धर का आख्यान शिवपुराण में (रुद्रसं. युद्धखं. अध्य. १८–२४) वर्णित है। जलन्धर ने वीरता से श्रीविष्णु को अपने वश में कर लिया था। अतः देवता जलन्धर से हारकर विष्णु का सहारा न ले पाये। तब नारदजी ने दैत्य का विनाश करने के लिये उसे भगवती उमा का लावण्य सुनाया जिससे उस स्त्रीरत्न की प्राप्ति के लिये जलन्धर उद्यत हुआ। पहले उसने राहु को दूत बनाकर शम्भु के पास भेजा। राहु द्वारा जलन्धर का धृष्टतापूर्ण संदेश सुनकर भगवान् ने एक गण प्रकट किया जो राहु को विनष्ट ही कर देता पर क्योंकि राहु ब्राह्मण है व उसने महादेव की शरण ले ली इसलिये उसे छोड़ दिया। जब राहु ने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लौटकर दैत्य को सारा समाचार बताया तो क्रोधित हो उसने सेना सहित प्रयाण निश्चित किया। पहले नन्दी आदि गणों ने युद्ध किया। जब उनसे दैत्यसेना विध्वस्त होने लगी तो जलन्धर युद्धस्थल पर पहुँचा। उसने युद्ध में गणों को परास्त किया। तब भगवान् समरभूमि पर उतरे। युद्ध में परमेश्वर को अजेय समझकर जलन्धर ने उन्हें आसुरी माया से छलकर स्वयं रुद्ररूप ले वह शिवा के निकट पहुँचा। पर भगवती ने उसे तुरंत पहचान लिया और अन्तर्धान हो गयीं। जलन्धर अतिक्रुद्ध हो पुनः रणांगन में पहुँच गया। उधर पार्वती ने विष्णु को आज्ञा दी कि वे जलन्धरपत्नी का पातिव्रत्य भंग करें जिससे दैत्यका तेज क्षीण हो क्योंकि पातिव्रत्य से दैत्य अवध्य बना हुआ था। विष्णु ने भी मायिक लीला से जलन्धरस्त्री वृन्दा का पातिव्रत्यभंग किया। युद्ध में भी महादेव ने अपने पादांगुष्ठ से निर्मित चक्र से जलन्धर का शिरश्छेद कर दिया–

सुदर्शनाख्यं यच्चक्रं पादाङ्गुष्ठविनिर्मितम्। जग्राह तत् करे रुद्रस्तेन हन्तुं समुद्यतः॥
सुदर्शनाख्यं तच्चक्रं चिक्षेप भगवान् हरः। कोटिसूर्यप्रतीकाशं प्रलयानलसन्निभम्॥
प्रदहद्रोदसी वेगात्तदासाद्य जलन्धरम्। जहार तच्छिरो वेगान्महदायतलोचनम्॥
''तत्तेजो निर्गतं देहाद् रुद्रे च लयमागमत्। वृन्दादेहोद्भवं यद्वद् गौर्यां हि विलयं गतम्॥
२४.४५–५२॥

क्योंकि शिवशिक्षित दैत्य शैवभाव में स्थित हो जाते हैं अतएव उनका पुनरागमन नहीं होता। इस अनुत्तम गति को पाकर ही वे सबको चमत्कृत करते हैं–चमत्करोतीति चमत्कृत्, ते चमत्कृतो गजादयः।

वृत्त का नाम कामदा है। 'भवति नश्च रौ कामदा लगौ'–इसमें प्रतिपाद यथाक्रम नगण, दो रगण, एक लघु व एक गुरु वर्ण होते हैं।

(७८) रुद्रः –ज्ञान बहाने वाले या दुःख नष्ट करने वाले। वेद में रुद्र और सोम नाम का अत्यधिक प्रयोग है। कहीं तो भक्तों के दुःख से स्वयं रो पड़ने के कारण भी वे रुद्र करुणामूर्ति माने गये हैं। अथवा जीवरूप से रोने से भी वे रुद्र हैं। प्राण रूप होने से अपने वियोग से रुलाने वाले होने के कारण भी वे रुद्र हैं।

बटुकोपनिषत् में तो कहा है–

'यस्माद् ऋषिभि र्नान्यै र्भक्तै र्द्रुतमस्य रूपमुपलभ्यते तस्माद् उच्यते रुद्रः।'

श्रीकृष्ण ने हरिवंश में (विष्णुप. ७४.२२) बताया है कि रोने से, रुलाने से, रव करने से और संसार का द्रावण (निवारण) करने से वे रुद्र हैं–

रुद्रो देव! त्वं रुदनाद् रावणाच्च रोरूयमाणो द्रावणाच्चातिदेवः।
भक्तं भक्तानां वत्सलं वत्सलानां कीर्त्या युङ्क्ष्वेशाद्य प्रपद्ये शरणम्॥

श्रीकृष्ण ने ही महाभारत में (अनुशा. १६१.७) यों निर्वचन किया है–

यन्निर्दहति यत्तीक्ष्णो यदुग्रो यत्प्रतापवान्। मांसशोणितमज्जादो यत्ततो रुद्र उच्यते॥

अर्थात् क्योंकि सबको जलाते हैं, क्योंकि स्वयं तीक्ष्ण हैं, क्योंकि उग्र और प्रतापी हैं, क्योंकि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रलयाग्निरूप से मांस, रक्त और मज्जा को भी खा जाते हैं इसलिये रुद्र कहे जाते हैं। निरुक्त में (१०.१.५) एक वैकल्पिक निर्वचन यह भी है रोरूयमाणो ददाति–जो शब्द करते हुए प्रदान करता है। रु शब्दे (अ. प. से.) धातु से क्विप् (३.२.१७८) और तुक् (६.१.७१) होकर रुत्-शब्द और रा दाने (अ. प. अ.) धातु से कप्रत्यय हो (३.२.४ योगविभाग) र शब्द बनता है। एवं च रुत् सन् राति अर्थ में रुद्रशब्द सिद्ध हो जाता है। वेदवाणी से गर्जन करते हुए ज्ञानामृत बरसाने से शिव रुद्र हैं इसमें क्या संदेह ? रुद्राध्याय के आरंभ में भट्टभास्कर ने नानाविध व्युत्पत्तियाँ दर्शायी हैं–

(१) रुतौ नादान्ते द्रवति द्रावयतीति वा रुद्र इति केचित्।

प्रार्थनारूप नाद की समाप्ति पर जो कृपा से द्रवित हो जाते हैं या इष्ट फल बहाकर दे देते हैं वे रुद्र हैं।

(२) रुत्या वेदरूपया धर्मादीनवलोकयति प्रापयतीति वा रुद्र इत्यन्ये ।

वेदरूप शब्द से धर्म आदि ज्ञात कराने से रुद्र हैं।

(३) रुत्या वाग्रूपया वाच्यं प्रापयतीति केचित्।

वाग् रूप शब्द से वाच्य अर्थ प्राप्त (बोधित) करा देते हैं अतः रुद्र हैं।

(४) रुत्या प्रणवरूपया स्वात्मानं प्रापयतीत्यन्ये।

ॐकाररूप शब्द से निजतत्त्व को प्राप्त कराने से रुद्र हैं।

(५) रुद्रो रौतीति सत्ये,

सत्य के विषय में कथन करने वाले होने से रुद्र हैं।

(६) रोरूयमाणो द्रवति प्रविशति मर्त्यानिति रुद्र इत्यन्ये।

शब्द करते हुए मर्त्यों में प्रवेश करने वाला होने से रुद्र है। 'शब्द' से वेद विवक्षित है अथवा सारा नामप्रपंच इष्ट है।

(७) अन्ये ब्रुवते–रुक्तेजो लुवकारेकाररेफाश्चेति। भूम्नि नित्ययोगे वा रप्रत्ययः। वर्णव्यावृत्या रुद्गः तेजस्वीति।

तेजस्वी होने से रुद्र हैं।

(८) रोधिका बन्धिका मोहिका वा शक्तिस्तद्वान्;

मायाशक्ति वाले होने से रुद्र हैं।

(९) तस्या द्रावयिता वा भक्तेभ्यो रुद्रः।

या उस शक्ति को भक्तों के प्रति भेजने वाला होने के कारण–भक्तों के मोह का कारण होने से–रुद्र है। निवृत्ति द्वारा मोह परमकल्याण देने वाला है अतः शिव भक्तों को मोहित करते हैं। अथवा 'अभक्तेभ्यः' छेद समझना चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(१०) रुदं संसारदुःखं द्रावयतीति रुद्र इति केचित् ।

संसार दुःख के नाशक होने के कारण रुद्र हैं ।

(११) रुतिं शब्दं राति ददातीति प्राणो रुद्र इत्यन्ये ।

शब्द बोलने की शक्ति देने वाला प्राण रुद्र है ।

(१२) रुतिं शब्दं वेदात्मानं ब्रह्मणे ददाति कल्पादाविति रुद्र इत्यपरे ।

कल्प प्रारंभ में वेदरूप शब्द ब्रह्मा को उपदिष्ट करने से रुद्र हैं । इस प्रकार अनेक तरह से यह शब्द भगवान् के विविध स्वरूपों का स्पष्टीकरण करते हुए उनका अभिधान है । वेद में इस नाम से शिव को बहुत्र पुकारा है । ऋग्वेद में ही आया है 'इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः' (ऋ. सं. ७.४.१३)–हमारी ये रुद्र के लिये की गयी प्रार्थनायें रुद्र सुनें । यजुर्वेद में तो सारा सोलहवाँ अध्याय ही सैकड़ों तरह से रुद्रप्रतिपादक होने से शतरुद्रीय कहलाता है । उसके प्रारंभ में 'नमस्ते रुद्र मन्यवे' और अन्त में 'नमोऽस्तु रुद्रेभ्यः' रुद्र को ही नमन है । सामवेद की छान्दोग्योपनिषत् में (२.२४.१) माध्यन्दिन सवन के अधिपति रूप से रुद्र का वर्णन है । प्राणरूप रुद्र भी वहाँ (३.१६.३) बताये गये हैं । अथर्वसंहिता में (७.८७.१) अग्नि की मूर्ति वाले रुद्र को नमस्कार है–

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्वन्त र्य ओषधीर्विरुध आविवेश । य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे
तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये ॥

पूर्वोक्त व्युत्पत्तियों से रुद्र का अज्ञानसम्बन्ध, प्रवेशसम्बन्ध और ज्ञानसम्बन्ध प्रकट होता है । अतः यह ईश्वर का पूर्ण नाम है । तीनों से जिसका विज्ञान होता है उसे समझने की कोशिश या उसका ध्यान रुद्र की उपासना है । नारदीयपुराणान्तर्गत वेदपादस्तव में (श्लो. ४३) कृपा-वर्षक रुद्र को भक्तों के भय का निवारक बताया है–

भूतिभूषाय भक्तानां भीतिभङ्गरताय ते । नमो भवाय भर्गाय नमो रुद्राय मीढुषे ॥

अतः रुद्र नाम का जप भयनिवृत्ति का कारण बनता है । यात्रारम्भ में 'नमोरुद्राय' का जप कल्याणप्रद होता है ऐसी परंपरा है ।

पौराणिक प्रसंगों का अनुसरण करते हुए आलवाल इसे यों समझाता है–

बालो धातृललाटाज्जातः सन्नरुदस्त्वं सोऽरोदीद्यदरोदीदग्नित्वादपि रुद्रः ।
उल्लाघीकरणाद्वा निश्चिन्तीकरणाद्वा संवर्ते रोदयसि ब्रह्मादीन् इति रुद्रः ॥ ८४ ॥

ब्रह्मा के ललाट से बालक रूप में उत्पन्न हुए आप रोये थे अतः रुद्र हैं । अग्निरूप होने से भी आप रुद्र हैं कारण कि अग्नि के विषय में श्रुति ने कहा है वह रोया, क्योंकि वह रोया इसलिये उसकी रुद्रता है । या नीरोग कर देने से आप रुद्र हैं । अथवा निश्चिन्त कर देने से आप रुद्र हैं । अथवा प्रलय काल में ब्रह्मा आदि को रुलाते हैं अतः आप रुद्र हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वायुपुराण में वर्णन है कि ब्रह्मा से उत्पन्न हुए बालकरूप से शिव रोये थे–

कल्पादौ चात्मनस्तुल्यं सुतं प्रध्यायतः प्रभोः । प्रादुरासीत्ततोऽङ्केऽस्य कुमारो नीललोहितः ॥
तं दधे सुस्वरं घोरं निर्दहन्निव तेजसा । दृष्ट्वा रुदन्तं सहसा कुमारं नीललोहितम् ॥
पूर्वा. २७.४–५ ॥

शिव की अग्निरूपता इसी से प्रसिद्ध है कि अग्नि उनकी एक मूर्ति है । 'रुद्राय अग्निमूर्तये नमः' आदि पूजा प्रयोग में यह प्रसिद्ध है । अग्नि के रोने की कथा तैत्तिरीयसंहिता के द्वितीय काण्ड में आयी है । एक बार देवासुर संग्राम के प्रारंभ में देवताओं ने अपनी सारी संपत्ति एकत्रकर अग्नि को संभालने के लिये सौंप दी । अग्नि के मन में पाप आ गया और वे उसे ले गुप्त स्थान ढूँढने चल दिये । तब तक देव भी असुरों को हराकर लौट आये । उन्होंने जब अग्नि को चोरी की नियंत से धन ले जाते देखा तो उसे पकड़कर पीटा और सारा धन ले लिया । तब अग्निदेव आँसु गिराकर रोने लगे । तृतीय व्याख्यान में रुजं द्रावयतीति रुद्रः व्युत्पत्ति है । 'उल्लाघो निर्गतो गदात्' (अमर.) आदि कोष से उल्लाघ नीरोग को कहते हैं । मृत्युंजय मंत्र से प्रार्थित शिव नीरोग कर देते हैं यह सर्वविदित है । चौथी व्याख्या में रुद् दुःखं तदविनाभूता चिन्ता च, तद् द्रावयतीति व्युत्पत्ति है । यह निर्वचन पुराणसिद्ध है । शिवपुराण की कैलाससंहिता में (९.१४) कहा है–

रुद् दुःखं दुःखहेतु र्वा तद् द्रावयति यः प्रभुः । रुद्र इत्युच्यते तस्माच्छिवः परमकारणम् ॥

क्योंकि दुःख का सकारण निवर्तन करते हैं इसलिये जीव सर्वथा निश्चिन्त हो जाता है 'न बिभेति कुतश्चन' (तै. २.९) । 'संवर्तः प्रलयः कल्पः' (अमर.) आदि कोष से संवर्त प्रलय को कहते हैं । तब ब्रह्मादि सब देवता कालाग्निरुद्र द्वारा नष्ट होते हुए रोते हैं । इस प्रकार श्रुति व पुराण उभयत्र नाना प्रकारों से रुद्र आख्यान हैं जिनके अनुसार रुद्र नाम विज्ञेय है ।

अलोला नामक छंद है । 'द्विः सप्तच्छिदलोला म्सौ म्भौ गौ चरणे चेत्'–यदि प्रतिचरण क्रमशः मगण, सगण, मगण, भगण व दो गुरु वर्ण हों तथा सात-सात वर्णों पर यति हो तो अलोला छन्द होता है ।

(७९) भूतपतिः –भूतों के मालिक तथा पालक । आकाश आदि भूतों के भी वे पति हैं एवं जीवरूप भूतों के भी । भूत का अर्थ जो बीत चुके वे कर्म और संस्कार भी हैं । उनके फलदाता और उद्बोधक रूप से परम स्वतन्त्र होने के कारण भी वे भूतपति हैं । जो सदा पहले से हो वह भी सदा भूत है, अतः अविद्या भी भूत कही गयी है । उसके अधीश्वर अर्थात् नियामक भी शिव हैं । एवं सामान्यरूप से उसके पोषक भी वे ही हैं । अज्ञान भी तो ज्ञानाधीन ही है । ब्रह्मवृत्ति से उसके नाशक भी वे शिव ही हैं । अतः भूतपति हैं । पुराणों में तो मृतात्माओं या पितरों के ईश्वर होने से भी वे भूतपति हैं । लोक में तो भूतों से निरन्तर घिरे रहने के कारण भूतों के पति माने गये हैं ।

'युक्ते क्ष्मादावृते भूतम्' (अमर.) आदि कोश से भूतशब्द न्याय्य का–उचितका–वाचक है । शिव का पतित्व संगत है । जो स्वयं संरक्षणीय हो उसकी संरक्षकता युक्तिसम्मत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं । वहाँ भी वस्तुतः परमरक्षक की ही रक्षकता होती है, साक्षात् रक्षक केवल उपायस्थानीय रहता है । पुराणादि में व्यक्त है कि सभी देवताओं के एक मात्र रक्षक परमेश्वर हैं अतः उन्हीं की सर्वरक्षकता स्वीकार्य है । अधिष्ठान समस्त अध्यस्तों का रक्षक हो सकता है, कोई एक अध्यस्त अन्य अध्यस्तों का रक्षक हो भी नहीं सकता । इसी दृष्टि से श्रौत प्रयोग है 'समस्तसाक्षिम्', उमासहाय परमेश्वर ही सबके साक्षी हैं, अन्य सभी केवल स्वसाक्ष्यमात्र के साक्षी होते हैं । प्रजापति (नाम ५७) से प्रतिज्ञात पतित्त्व की यौक्तिकता इस नाम से तथा आवश्यकता पशुपति (नाम ९२) नाम से सिद्ध होती है । एवं च पतिपदघटित तीनों नाम क्रमशः व अर्थतः संगत हैं । शिव से भिन्न किसी को निजरक्षक न मानना भूतपति की उपासना है । ग्रह, नक्षत्र, काल, पीर आदि नाना वस्तुओं को हम अपना रक्षक बनाते रहते हैं इसीलिये नित्य अरक्षित ही रहते हैं । एकमात्र शिव को रक्षक समझ लें तो नित्यरक्षित रहें । 'गोप्तृत्वे वरणम्' रक्षकरूप से चुनना शरणागति की एक आवश्यक सीढी है ।

अथवा भूतशब्द का अर्थ है प्राप्त । मेदिनीकोष का कथन है–

भूतंक्ष्मादौ पिशाचादौ जन्तौ क्लीबं त्रिषूचिते । प्राप्ते वित्ते समे सत्ये देवयोन्यन्तरे तु ना ॥

अतः शिव प्राप्त के रक्षक हैं, अप्राप्त के नहीं । जो नित्यप्राप्त है उस सच्चिदानन्द स्वभाव की रक्षा तो शिव करते हैं, किन्तु जो नित्य प्राप्त न होने से अप्राप्त हैं ऐसे कर्तृत्वादि की रक्षा नहीं करते । क्योंकि शिव से रक्षित नहीं इसीलिये कर्तृत्वादि नित्य रह नहीं पाता । अन्यथा शिवरक्षित होता तो वह नष्ट क्योंकर होता ? जो नित्य प्राप्त नहीं वह वस्तुतः सदा ही अप्राप्त है, कारण कि नित्य शिव का अनित्य से सम्बन्ध असंभव है । आचार्य सुरेश्वर ने कहा है–

आम्रादेः परिणामित्वाद् गुणहानि र्गुणान्तरैः । अविकारि तु तद्ब्रह्म न हि द्रष्टुरिति श्रुतेः ॥
आगमापायिनिष्ठत्वादनित्यत्वमियाद् दृशिः । उपयन्नपयन् धर्मो विकरोति हि धर्मिणम् ॥
नै. सि. २. ३४-३५ ॥

अतः जो कुछ भी किमपि-प्रयुक्त है या कभी भी निवृत्त होता है वह वस्तुतः नित्य ही शिव को अप्राप्त है, अतएव शिव द्वारा अरक्षणीय है । एवं च समस्त कल्पित धर्मों के परित्याग पूर्वक शिवरूप से अवस्थान ही भूतपति की मुख्य उपासना है । उसके पूर्व भी स्वकीय शिवरूपता का चिन्तन भूतपति की ही उपासना है ।

आलवाल का व्याख्यान है–

धरणीजलादिषु तथात्मगणे- ष्वनुविश्य तान्नियमयन्नटसि ।
अथवा पिशाचनिकरान्नटयन् भुवनावनाय ननु भूतपतिः ॥ ८५ ॥

पृथ्वी, जल आदि में तथा जीवों में प्रवेश कर उन्हें नियन्त्रित करते हुए आप स्वयं नटन करते हैं इसलिये भूतपति हैं । अथवा संसार की रक्षा के लिये पिशाचसमूहों को नचाते हुए आप स्वयं नाचते हैं इसीलिये आप भूतपति हैं ।

पृथ्वी आदि भूतों में परमेश्वर का प्रविष्टत्व अन्तर्यामिब्राह्मण से सिद्ध है–

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः' 'योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरः' (बृ. ३.७.३ आदि) इत्यादि ।

प्राणियों में शिव के प्रवेश में भी श्रुति प्रमाण है –

'स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत' (ऐ. १.३.१२) ।

तैत्तिरीय में तो सामान्यतः सभी सृष्ट वस्तुओं में प्रवेश एक ही वाक्य से कह दिया है–

'इद ँ सर्वमसृजत यदिदं किंच, तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै. २.६) ।

भूतयोनि वाले जीवों को नियन्त्रित कर शिव का रहना आनुशासनिक उमामहेश्वर संवाद से सिद्ध है–

मदन्येन न शक्यं हि निहन्तुं भूतजं भयम् । तत्रस्थोऽहं प्रजाः सर्वाः पालयामि दिने दिने॥
मन्नियोगाद् भूतसंघा न च घ्नन्तीह कंचन । तांस्तु लोकहितार्थाय श्मशाने रमयाम्यहम्॥
(महाभा. अनु. ९४९. श्लो. ९१ के अनन्तर) ।

आलवाल श्लोक के द्वितीय चरण के अन्त में 'नटसि' व 'अटसि' दोनों छेद संभव हैं । शिव का नटन जगत् की रक्षार्थ है इसमें श्रीपुष्पदन्त का भी संवाद है–

जगद्रक्षायै त्वं नटसि ननु वामैव विभुता । (महिम्न. १६) ।

पशुपति जो कुछ करें वह पालनार्थ ही हो यह संगत है ।

प्रमिताक्षरा छन्द है । 'प्रमिताक्षरा सजससैःकथिता'–हर पाद में क्रमशः सगण, जगण व दो सगण होने पर प्रमिताक्षरा छन्द कहा जाता है ।

(८०) **स्थाणुः** –अविकारी । अथर्ववेद के स्थाणुसूक्त में विस्तृत विचार है । सूखे वृक्ष को स्थाणु कहते हैं । संसारवृक्ष के सूख जाने पर जो अवशिष्ट बचता है वही स्थाणु है । 'नेति नेति' (बृ. २.३.६) से स्थूल, सूक्ष्म व कारण का बाध करने पर जो बाध का साक्षी बच जाता है, वही स्थाणु है । वैदिकों ने निरधिष्ठान भ्रम नहीं माना है, यह स्थाणु नाम से कहा गया है ।

जो रहता है उसे स्थाणु कहते हैं–तिष्ठतीति स्थाणुः (उणा. ३.३७) । इसी तात्पर्य से गीता में (२.२४) यह शब्द आया है 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः' । शिव से भिन्न जो कुछ है वह किसी काल या देश में ही स्थिति पाता है । अकेले परमेश्वर की ही यह महिमा है कि वह न किसी काल में व न किसी देश में स्थिति पाता है–वह न कभी है, न कहीं है । बस केवल है । देश-काल की मर्यादा शिव को सीमित नहीं कर पाती । विवेक चूडामणि में अतएव कहा है 'देशकालविषयातिवर्ति यद्ब्रह्म' (श्लो. २२५) । प्रपंचोत्पत्ति से पूर्व, प्रपंच काल में, प्रलयकाल में, बाधकाल में–यों किसी कालिक परिचायक से जिसका रहना समझना आवश्यक नहीं वह स्थाणु है । सुविधार्थ हम व्यवहार कर लेते हैं–शिव सदा है, सर्वत्र है । किन्तु वह व्यवहारमात्र है । दिक्, देश, काल जिसमें हैं वह कैसे उनमें होगा ?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
अतः शिव की नित्यता लोकविलक्षण है । लोक में काल ही सबसे अधिक नित्य है, पर शिव तो काल के भी काल, महाकाल हैं । अतः उनका नित्यत्व काल के शब्दों से व्यक्त नहीं होता । नित्य होने से ही स्थाणु परिवर्तनशून्य है, अविकारी है । सापेक्ष नित्य आकाश ही जब अविकारी प्रतीत होता है तो वास्तव नित्य परमात्मा की अविकारिता का क्या कहना ।

स्थाणु ठूँठ को भी कहते हैं । जो फल-फूल न देने लायक गतरस वृक्ष होता है वह ठूँठ है ।'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' (श्वे.६८) आदि श्रुति से शिव का ऐसा स्थाणुरूप भी प्रकट होता है । भट्ट जगद्धर ने तो व्यंग्य किया है कि भगवान् के अन्यान्य नाम अन्य भक्तों के लिए यथार्थ होते होंगे, मेरे लिए तो फल तो दूर, पत्ते भी न देने वाला स्थाणु नाम ही अन्वर्थ हो रहा है–

सर्वज्ञशम्भुशिवशङ्करविश्वनाथ-मृत्युञ्जयेश्वरमृड–प्रभृतीनि देव !
नामानि तेऽन्यविषये फलवन्ति किन्तु त्वं स्थाणुरेव भगवन् ! मयि मन्दभाग्ये ॥
स्तु. कु. ११.८३॥

कुरुक्षेत्र के समीप अम्बाला से सत्ताइस मील पर स्थाणुतीर्थ व स्थाण्वीश्वर-शिवमंदिर है । आजकल वह जगह थानेश्वर कहलाती है । वामनपुराण (अध्य. ४२-४३) में इसका बड़ा माहात्म्य बताया है । मध्याह्न काल में पुष्करादि तीर्थ वहाँ एकत्र हो जाते हैं । स्थाण्वीश्वर लिंग के दर्शन से ही सब पापों की निवृत्ति बतायी है । सौरपुराण में (६७.१३-१६) भी इसका वर्णन है। वालखिल्यों ने भी यहाँ तप कर सिद्धि पायी थी । वहाँ का एक मशक भी सद्गति पा गया । वहाँ एक बार पूजा करने से ही शैव पद मिल जाता है–

सर्वदेवमयो यत्र स्थाणुर्नाम महेश्वरः । इष्टः सकृच्च मनुजः शैवं पदमवाप्नुयात् ॥
सौ. पु. ६७. १६ ॥

किसी का तो कहना है कि शास्त्रों के विरोधी वाक्य सुनकर स्तंभित पुरारि ही स्थाणु है–

क्वचित् प्रजायेय सृजा इति क्वचित् क्वचिच्च नाना नहि विद्यते क्वचित् ।
क्वचित्तु मायी न च सास्ति वै क्वचित् निशम्य यः स्थाणुरभूत् स पायात् ॥

कहीं तो सुना जाता है 'उत्पन्न हो जाऊँ' (तै. २.६.१), और कहीं सुनते हैं 'उत्पन्न कर दूँ' (ऐ. १.१), कहीं तो यह कहा है कि बहुभेदभिन्न प्रपंच कभी भी नहीं है (बृ. ४.४.१९) । ऐसे ही कहीं कहा है परमेश्वर माया वाला है (श्वे. ४.९), और कहीं आचार्यों ने घोषणा कर दी है कि माया है ही नहीं (मां. कारि. ४.५८) । यों विरुद्ध बातें सुन शिव भी आश्चर्यचकित हो स्थाणु हो गये ।

जैसे ठूँठ निरपेक्ष और अचंचल रहता है ऐसे होने से स्थाणु हैं इस अभिप्राय से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आलवाल में कहा है--

वृक्षाभः स्तब्धो दिवि भुवि पुर उद्दिश्य स्फारं वर्षाणि स्थिरतर उदतिष्ठस्त्वम् ।
ज्योतिर्लिङ्गेऽपि प्रभवति सति नैश्चल्यात् कल्पान्ते वातै र्न चलसि तदसि स्थाणुः ॥ ८६ ॥

द्युलोक व भूलोक पर आप निश्चलतया स्थित हैं अतः स्थाणु हैं । स्वर्णमय आदि तीनों पुरों के एकत्र होने की प्रतीक्षा में आप बहुत समय स्थिरभाव से खड़े रहे अतः भी स्थाणु हैं । ज्योतिर्लिंग में भी निश्चल हुए आप ही स्थित थे इससे स्थाणु हैं । प्रलय काल में प्रचण्ड संहार वायुओं से भी विचलित न होने वाले आप ही स्थाणु हैं ।

शिव का वृक्षवत् स्थिरभाव श्वेताश्वतर में (३.९) बताया गया है–

यस्मात् परं नापरमस्ति किंचिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

स्वर्णमय आदि तीनों पुर इकट्ठे होने पर ही नष्ट किये जा सकते थे, क्योंकि कमलाक्षादि ने ऐसा ही वरदान प्राप्त कर रखा था । अतः शम्भु ने एक हज़ार वर्षों तक खड़े रहकर उनके निकट आने का इन्तज़ार किया । द्रोणपर्व में (१०२.८१-८२) व्यासजी ने अर्जुन को यही बताया है–

अतिष्ठत् स्थाणुभूतः सः सहस्रं परिवत्सरान् । यदा त्रीणि समेतानि अन्तरिक्षे पुराणि च ॥
त्रिपर्वणा त्रिशल्येन तदा तानि विभेद सः । पुराणि न च तं शेकुर्दानवाः प्रतिवीक्षितुम् ॥

आलवाल श्लोक में पुरः द्वितीया-बहुवचनान्त शब्द है । स्फारम् का अर्थ है अधिक, या बहुत तथा वह क्रिया-विशेषण है । ज्योतिर्लिंगरूप में भगवान् तब तक अचंचल रहे जब तक ब्रह्मा व विष्णु ओर छोर पता लगाने की कोशिश पूरी न कर चुके । दैशिक दृष्ट्या भी पाताल से नीचे भी वह रूप स्थिर था ।

भित्त्वा पातालनिलयं गत्त्वा दूरतरं हरिः ॥ नापश्यत् तस्य संस्थानं स्तम्भस्यानलवर्चसः ।
.....ददर्श केतकीपुष्पं किंचिद्विच्युतमद्भुतम् ॥ अतिसौरभ्यमम्लानं बहुवर्षच्युतं तथा ।
शिवपु. विद्ये. ७. १७-२० ॥

इसी दृष्टि से श्रीकृष्ण ने (महाभा. अनु. १६१.१०-११) स्थाणु नाम की सार्थकता बतायी है–

दहत्यूर्ध्वं स्थितो यच्च प्रणान् नृणां स्थिरश्च यत् ॥ स्थिरलिङ्गश्च यन्नित्यं तस्मात् स्थाणुरिति स्मृतः ॥

कल्पसमाप्ति में शिव ही निर्विण्ण रहते हैं (कूर्म. उत्त. ४३.३१–४९)–

भूर्लोकं च भुवर्लोकं स्वर्लोकं च तथा महः । दहेदशेषं कालाग्निः कालाविष्टतनुः स्वयम् ॥
.....तस्मिन्नेकार्णवे घोरे नष्टे स्थावरजंगमे । योगनिद्रां समास्थाय शेते देवो जगत्पतिः ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस उग्र रूप को लक्षित कर आचार्य ने शिवानन्दलहरी में (श्लो. ३४) शिव साहस पर आश्चर्य व्यक्त किया है।

छन्द का नाम है असम्बाधा। 'असम्बाधा म्तौ न्सौ गाविन्द्रियनवकौ'—प्रतिपाद मगण, तगण, नगण, सगण व दो गुरु वर्ण होने से असम्बाधा छन्द होता है। पाँचवें और चौदहवें अक्षरों पर यति होती है।

(८१) **अहिर्बुध्न्यः** — सर्प मूल वाले। कुण्डलिनी सर्प ही शिव का मूल स्थान है क्योंकि वहीं से साधना प्रारम्भ होती है। भूमिबुध्न्य से छान्दोग्योपनिषद् (३.१५.१) भी यही बताती है। अथवा 'बुध्यः' में नकार छान्दस है। अतः सर्पात्मक कुण्डलिनी द्वारा ही सहस्रारस्थ शिव को जाना जाता है, अतः वे अहिर्बुध्न्य हैं।

पद्मपुराणोक्त वेदसारनामक शिवसहस्रनाम में भी यह समाख्या श्रुत है (श्लो. १५७)। वहाँ परमशिवेन्द्रसरस्वतीजी ने इसे पद-द्वयात्मक नाम बताया है। बुध्न का अर्थ है मूल। अमरकोष में कहा है 'मूलं बुध्नोऽङ्घ्रिनामकः'। बुध्न में विद्यमान को बुध्न्य कहते हैं। ब्रह्माण्ड के मूल में रहने वाला सर्प शेष है जिससे संकर्षणात्मक रुद्र प्रादुर्भूत होने से वह भी शैव रूप है। विष्णुपुराण में (२.५.१९) शेष से संकर्षणात्मक रुद्र का प्रादुर्भाव वर्णित है। शिवपुराण की शतरुद्र संहिता में (अध्य. १८) वर्णित है कि कश्यप से सुरभि में उत्पन्न एकादश रुद्रों में अहिर्बुध्न्य भी थे—

सुरभ्यां कश्यपाज्जज्ञे एकादशस्वरूपवान् ॥ २४ ॥.....

कपाली पिङ्गलो भीमो विरूपाक्षो विलोहितः। शास्ताऽ-जपाद-हिर्बुध्न्यः शम्भुश्-चण्डो भवस्तथा ॥ २६ ॥

निरुक्त में (२.५.१७) अहिशब्द का अर्थ जाने वाला बताया है 'अहिरयनात्'। अहि गतौ (भ्व. आ. से) धातु से औणादिक इन् प्रत्यय है (४.११६)। तथा बुध्न्य शब्द का अर्थ किया है अन्तरिक्ष में रहने वाला—बुध्नमन्तरिक्षं, तन्निवासाद् (बुध्न्यः)। योऽहिः स बुध्न्यः (१०.४.४४)—यों अहिर्बुध्न्य का यास्क ने निर्वचन किया है। यही अर्थ सायणाचार्य ने सूतसंहिता की टीका में (यज्ञवै. ३३.९) किया है। अतः अन्तरिक्षचारी को अहिर्बुध्न्य कहते हैं। एवं च वायुमूर्ति का यह उल्लेख है। अष्टमूर्तियों में वायु भी प्रसिद्ध है। इस रूप को प्रणाम करते हुए जगद्धर यह कहते हैं कि यही मूर्ति पाँच तरह से बँटकर शरीर में रहती हुई सबको जीवित रखती है तथा इसी में स्थित हुए सूर्यादि तारागण चक्रवत् घूमते रहते हैं। इस तरह त्रिभुवन की यह आधारभूत मूर्ति है—

अन्तः सन्तिष्ठमानः स्थगयति जगतां पञ्चतां पञ्चधा यः
सन्धाय स्थायिभावं प्रसरति सततं यत्र तेजस्विचक्रम्।
यत्र स्थैर्यं बिभर्ति त्रिभुवनभवनं बिभ्रदाधारभूतां
भूतानां मूर्तिमेष प्रथयति विभुतां मारुतस्ते नमस्ते ॥ स्तु. कु. ३३.३९ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्रिया को सम्भव करने वाला निमित्तभूत तत्त्व वायु है । अतः अन्तरिक्ष में 'हवा' न होने पर भी वायु तो है ही । प्राणोपासना उपनिषदों में स्थान-स्थान पर बतायी गयी है । उसे अहिर्बुध्न्य की उपासना जानना चाहिये । अथवा बुध्नशब्दित अन्तरिक्ष असम्बाधस्थल का द्योतक है । वहाँ होने वाली गति भी असम्बाधित होती है । ऐसी गति वाला अहिर्बुध्न्य है । तब तो सद्रूप ब्रह्म ही अहिर्बुध्न्य है क्योंकि सद्रूप की असम्बाधित गति है, सर्वत्र व्यक्तता है । प्रत्येक व्यवहार में सद्रूप से शिव ही उपस्थित है ऐसा विचार बनाये रखना अहिर्बुध्न्य की उपासना है । क्योंकि सत् में गमन नहीं इसलिये उसे (अंतरिक्ष में) बना रहने वाला कहा और क्योंकि उसकी सर्वत्र अवगति है, इसलिये अहि कहा ।

आलवाल में तो ब्रह्माण्ड के मूल रूप से स्थित शेषाख्य अहि को ही अहिर्बुध्न्य से कहा है–

ब्रह्माण्डस्याधो दशशतफणो बुध्नभावं प्रयाते
पाताले साधुर्वहति वसुधां सार्णवद्वीपशैलाम् ।
तन्मूर्धभ्योऽन्ते विषमयवपुः कालसङ्कर्षणाख्यो
रुद्रो भूत्वेदं दहसि निखिलं सोऽस्यहिर्बुध्न्यनामा ॥ ८७ ॥

ब्रह्माण्ड के नीचे मूलभाव को प्राप्त पाताल में भली प्रकार से स्थित सहस्र फणों वाला शेषनाग समुद्रों, द्वीपों व पर्वतों समेत वसुधा को ढो रहा है । उसके फणों से विषप्रचुर शरीर वाले कालसङ्कर्षण नामक रुद्ररूप से उत्पन्न होकर समस्त संसार को आप जो जलाते हैं वे आप अहिर्बुध्न्य नाम वाले हैं ।

विष्णुपुराण इस व्याख्या का आजीव्य है । वहाँ (२.५.१३–१९) कहा है–

पातालानामधश्चास्ते विष्णो र्या तामसी तनुः । शेषाख्या यद्गुणान् वक्तुं न शक्ता दैत्यदानवाः ॥
...कल्पान्ते यस्य वक्त्रेभ्यो विषानलशिखोज्ज्वलः । सङ्कर्षणात्मको रुद्रो निष्क्रम्याऽत्ति जगत्त्रयम् ॥

छन्द को कुसुमलतावेल्लिता कहते हैं । 'स्याद् भूतर्त्वश्वैः कुसुमलतावेल्लिता म्तौ नयौ यौ'– चारों पादों में मगण, तगण, नगण और यगणत्रय हों व पॉचवे, ग्यारहवे और अठारहवे अक्षरों पर यति हो तो कुसुमलतावेल्लित छन्द होता है ।

(८२) **दिगम्बरः** – आकाशरूप वस्त्र वाले । जो आकाश की तरह समग्र विश्व में व्यापक बनेगा वही ज्ञान प्राप्त कर सकेगा, यह श्वेताश्वतरोपनिषत् का कथन है । महादेव तो महाज्ञानी हैं । आंकाश के अतिरिक्त उनकी और कोई उपाधि नहीं अतः आकाश प्रतीक ही उनका है । आकाश की तरह मायामेघ के जगद्वर्षण से वे निर्लिप्त रहते हैं, यह भी भाव है ।

यद्यपि दिक् शब्द दिशाओं का वाचक है तथापि आचार्यों ने आकाश से अतिरिक्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दिक् नहीं मानी है अतः दिक् से आकाश समझना असंगत नहीं है। सिद्धान्तबिन्दु में (श्लो. ८) कहा है–

'दिक्कालौ त्वप्रामाणिकत्वान्नोक्तौ। आकाशस्यैव दिग्व्यवहारजनकत्वसम्भवात्।'

दिशाओं को भी शिववस्त्र मानने से अर्थ समान ही रहता है–शिव नग्न हैं। बोधसार में नरहरि स्वामी का निर्णय है कि द्वैतहर शिव आवरणरहित चैतन्यस्वरूप है। जीवरूप से संसार में लीला करते हुए भी वस्तुतः सबसे अस्पृष्ट रहता है। अतएव दिगम्बर कहा गया है (शिवपूजाशतकम् २९)–

निरावरणविज्ञानस्वरूपो हि स्वयं हरः। स्वैरं चरति संसारे तेन प्रोक्तो दिगम्बरः॥

दिशा को इसलिये दिक् कहते हैं क्योंकि हर वस्तु के पास यह तुरन्त पहुँची रहती है, हर चीज़ किसी दिशा में होती है। अतः निकट आने वाली वस्तु दिक् है। आङ् पूर्वक सीदति धातु (षद्लृ–भ्व.प.अ.) का वर्ण-व्यत्यय और उपसर्गलोप होकर दिश् शब्द बना है ऐसा यास्क मुनि का अभिप्राय है, क्योंकि वे कहते हैं–'दिशः कस्माद् ?''''' । आसदनात्' (निरुक्त २.५.१५)। शिव का ऐसा स्वभाव है कि कुछ भी उन तक तो पहुँचता नहीं, उनके निकट ही पहुँचता है और जो कुछ भी उनके निकट पहुँच जाये वे बिना भेदभाव के उसे अपना वस्त्र बना लेते हैं। प्रत्येक अध्यस्त, अधिष्ठान को स्पर्श किये बिना ही उसका आवरण कर देता है। शिव के लिये संसार उपाधि या उपलक्षण तो बन सकता है, विशेषण नहीं। एवं च दिगम्बरता से शिव की सर्वापेक्षया अधिकसत्ताकता प्रकट होती है। बाकी सब न्यूनसत्ताक होने से ही उनके विशेषण बनने में असमर्थ हैं। महामाहेश्वर कालिदास ने यह रहस्य समझकर ही लिखा है 'दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु' (कुमार.५.७२) शिव ने दिगम्बरता से अपना धन स्फुट कर दिया है। अथवा अम्बर आकाश को कहते हैं 'अम्बरं व्योम्नि वाससि' (अमर)। अतः दिग्-रूप व व्योम रूप होने से महादेव दिगम्बर हैं। यह भी द्विपदात्मक एक नाम है। दिक् की तथा आकाश की ईश्वररूपता अन्वर्थनामा शिरोमणि ने 'पदार्थतत्त्वनिरूपणम्' नामक ग्रन्थ में सिद्ध की है–

'दिक्कालौ नेश्वरादतिरिच्येते मानाभावात्।'''''' शब्दनिमित्तकारणत्वेन क्लृप्तस्येश्वरस्यैव शब्दसमवायिकारणत्त्वम्।'

अथवा 'अम्बरं वाससि व्योम्नि कार्पासे च सुगन्धके' (विश्व.) आदि कोष से सुगन्धिद्रव्य विशेष को अम्बर कहते हैं। दिशायें ही शिव की सुगन्धि हैं। शिव की कीर्तिरूप सुगन्ध प्रत्येक दिशा में है। सुगन्धिद्रव्य पड़ा हुआ कुछ सुख देता है, जलाने पर अत्यधिक सुखद होता है। दिशायें भी यथावस्थित शिवस्मारक-शिव की अनुमापिका हैं, पर बाधित होने पर स्वरूपानन्द की प्रयोजिका बनती हैं। प्रत्येक अनुभूति के आवरण को–नाम-रूप को–हटाकर सच्चिदानन्द देखने की कोशिश दिगम्बर की उपासना है। अथवा अपने पंचकोषरूप वस्त्र हटाकर अपना चिन्तन भी दिगम्बर की ही पूजा है। अथवा दिगम्बर शिवभक्त सन्तों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की अन्न आदि से सेवा करना दिगम्बर की सेवा है।

दारुकवन लीला स्मरण करते हुए भास्कर राय दिगम्बर नाम की गेय व्याख्या प्रकट करते हैं–

महेश! दारुकावने महर्षिसिद्धसेविते तदङ्गनाः पतिव्रताः परीक्षमाणया धिया।
मनोभवातिशायिनीं मनोहरां दधत्तनू-मुपागतस्तदाश्रमेषु भिक्षितुं दिगम्बरः ॥८८॥

हे महेश ! महर्षियों व सिद्धों से उपाश्रित दारुकावन में उन ऋषियों की पतिव्रता पत्नियों की परीक्षा करने की दृष्टि से आप कामदेव से भी अधिक सुन्दर जिस मनोहारि शरीर को धारणकर उनके आश्रमों पर भिक्षा लेने पहुँचे, आपके उस रूप का नाम है–दिगम्बर।

उक्त चरित का संक्षिप्त वर्णन सौरपुराण में (६९.३५-५३) दर्शनीय है। कूर्मपुराण के उत्तर भाग में (अध्य. ३७) विस्तार से इसका प्रतिपादन है। लिङ्गादि पुराणों में भी यह लीला सुनी गयी है। अन्यों का सौन्दर्य वस्त्र आदि उपकरणों से होता है किन्तु शिव तो सुन्दरस्वरूप हैं, वस्त्रादि तो उनके सौन्दर्य को घटा देंगे–यह इस श्लोक की योजना का व्यंग्य अर्थ है।

छन्द है 'पंचचामर'। 'प्रमाणिकापदद्वयं वदन्ति पञ्चचामरम्'–प्रमाणिक के दो चरणों से जिसका एक चरण बने वह पंचचामर छंद होता है। प्रमाणिका का लक्षण है 'प्रमाणिका जरौ लगौ'। अतः पंचचामर के हर चरण का स्वरूप है–जगणं, रगण, लघु, गुरु, जगण, रगण, लघु, गुरु। सरल शब्दों में, लघु-गुरु–इस क्रम से सोलह अक्षर होने से यह छन्द बनता है।

(८३) **अष्टमूर्तिः** –भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्र, सूर्य और आत्मा रूप आठ विग्रह धारण करने वाले। सर्वरूप होने पर भी ध्यान की सुविधार्थ यह परिगणन है। परा प्रकृति और अपरा प्रकृति दोनों उनकी ही शक्ति हैं। शक्ति ही शिव की मूर्ति होती है और शिव ही शक्ति का आत्मा होता है।

ध्यानार्थ इन मूर्तियों का उल्लेख कूर्मपुराण में (पूर्व. १०.२६-२७) है–

सूर्यो जलं मही वह्निर्वायुराकाशमेव च। दीक्षितो ब्राह्मणश्चन्द्र इत्येता अष्टमूर्तयः॥
स्थानेष्वेतेषु ये रुद्रान् ध्यायन्ति प्रणमन्ति च। तेषामष्टतनुर्देवो ददाति परमं पदम् ॥

अत एव दक्षिणामूर्तिस्तोत्र के नवमश्लोक की अवतरणिका में भगवान् सुरेश्वराचार्य ने कहा है–

कथमेवंविधा माया निवर्तेतेति पृच्छतः। ईश्वरोपासनारूपस्तदुपायः प्रकीर्त्यते ॥
षट्त्रिंशतत्त्वरूपासु परमेश्वरमूर्तिषु। प्रत्यक्षेणोपलभ्यन्ते सर्वैरप्यष्टमूर्तयः ॥
अनुमेयासु न मनः क्षिप्रमारोहतीत्यतः। मूर्त्यष्टकमयीम्ब्रूते गुरुः सर्वात्मभावनाम् ॥
मानसो. ९.१-३ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इन मूर्तियों का व्यस्त वर्णन तत्तत् नाम से किया गया है। यहाँ आठों मूर्तियों वाले भगवान् ही हैं यह स्फुट करने के लिए अष्टमूर्ति नाम रख दिया है। स्तोत्रों में एकशः व एकत्र रूप से इनका बहुत जगह उल्लेख मिलता ही है। स्तुतिकुसुमांजलि में (३३.३६-४३) इनका दुर्लभ वर्णन है। आचार्य ने दशश्लोकी में कहा ही है–

यस्यासन् धरणीजलाग्निपवनव्योमार्कचन्द्रादयो विख्यातास्तनवोऽष्टधा परिणता नान्यत्ततो वर्तते।

किन्तु जैसा पुष्पदन्त ने कहा है (महिम्न. २६) इन आठ रूपों से शिव परिच्छिन्न नहीं। वे तो विश्वाधिक हैं (श्वे. ३.४)। अतएव नीलकण्ठ दीक्षित ने शिवोत्कर्षमंजरी में (श्लो. २६) स्पष्ट किया है–

शारीरः पृथिवी रवीन्दुदहना वायुर्वियत्तोयमि-त्यष्टाभिश्चिदचिद्गणैः परिवृतं विश्वं न तस्येति यः।
विश्वं विश्वविलक्षणः प्रभविता विश्वस्य विश्वाधिकः स स्वामी मम दैवतं तदितरो नाम्नाऽपि नाम्नायते॥

अष्टमूर्तिरूप वस्तुतः शिव को अनन्त समझाने में उपयोगी है, आठ में सीमित करने वाला नहीं। अतएव शिवरहस्य के सप्तमांश में विष्णुकृत शिवस्तोत्र में (श्लो. २४) कहा है–

त्वमिन्दुर्भानुस्त्वं हुतभुगसि वायुश्च सलिलं त्वमेवाकाशोऽपि क्षितिरसि तथात्माऽसि भगवन्!
ततः सर्वाकारस्त्वमसि भवतो भिन्नमणुवा-नतत्सत्यं सत्यं त्रिनयन! नमोऽनन्त! शिव! ते॥

स्तोत्रों से अतिरिक्त साहित्य में भी अष्टमूर्तिरूप का वर्णन विकीर्ण है। 'किरातार्जुनीयम्' में (१८.३७-४०) चार मूर्तियों का ओजस्वी वर्णन है। शाकुन्तल का कालिदासीय मंगल तो आठों मूर्तियों को अविस्मरणीय लड़ी में गूँथ देता है–

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हवि र्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥

भूमि आदि को देवरूप मानकर नमन अर्चन आदि नित्य व नैमित्तिक उपासनायें अष्टमूर्ति की ही हैं। यजमान भी स्वयं को शिव मानकर ही शिवार्चन में संलग्न होता है। अतः आत्ममूर्ति का पूजन भी हो जाता है। शिवपूजा के लिये स्वयं शिवरूप होना आवश्यक है। शिवपुराण की वायुसंहिता के उत्तर खण्ड में (२२.४२-४४) बताया है–

नाशिवः शिवमभ्यस्येन्नाशिवः शिवमर्चयेत्। नाशिवस्तु शिवं ध्यायेन्नाशिवः प्राप्नुयाच्छिवम्॥
तस्माच्छैवीं तनुं कृत्वा त्यक्त्वा च पशुभावनाम्। शिवोऽहमिति संचिन्त्य शैवं कर्म समाचरेत्॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पूजा के अंगरूप से 'शर्वाय क्षितिमूर्तये नमः' आदि मंत्रों से अर्चना की ही जाती है। किस मूर्ति से किस नाम का सम्बन्ध है यह शतरुद्रसंहिता (२.३-४) बता देती है–

शर्वो भवस्तथा रुद्र उग्रो भीमः पशोःपतिः। ईशानश्च महादेवो मूर्तयश्चाष्ट विश्रुताः॥
भूम्यम्भोऽग्निमरुद्व्योमक्षेत्रज्ञार्कनिशाकराः। अधिष्ठिताश्च शर्वाद्यैरष्टरूपैः शिवस्य हि॥

आलवाल की व्याख्या है–

मेदिनीं भूतमभिन्यसे शर्व इति पायसो भवपदेनाभिमानी।
रुद्रनाम्ना तु वैश्वानरस्योग्र इति मारुतं भीम इत्यम्बरस्य ।
भानुमीशान इति शीतभानुं महा- देव इत्यात्मनो यज्वनो वा
मन्यसे पशुपतीभूय शम्भो जगद् व्याप्य तिष्ठन् भवस्यष्टमूर्तिः ॥८९॥

पृथिवीरूप महाभूत के आप शर्व इस नाम से अभिमानी हैं। भव नाम से जलतत्त्व के अभिमानी हैं। रुद्र नाम से अग्नि के, उग्र नाम से वायु के, और भीम नाम से आकाश के आप अभिमानी हैं। सूर्य के अभिमानी ईशान नाम से, तथा चन्द्रमा के अभिमानी महादेव नाम से हैं। क्षेत्रज्ञों के या दीक्षितों के अभिमानी आप पशुपति नाम से हैं। यों सारे संसार को व्याप्त कर विद्यमान् आप अष्टमूर्ति हैं।

'तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत्सूर्यस्तदु चन्द्रमाः' (महाना.१.७.) 'तद्ब्रह्म तदापः' (महाना.१३.१), 'आकाशो वै नाम नामरूपयो र्निर्वहिता' (छां. ८.१४.१) आदि श्रुतियाँ शिव के इन रूपों में प्रमाण हैं। सभी भूत आदि अपनी नियत प्रवृत्तियाँ–धारण करना, पिपासा निवृत्त करना, जलाना, जिलाना, अवकाश देना आदि–न छोड़ते हुए एक दूसरे से तालमेल बैठाकर जो संसार चला रहे हैं वह तभी संभव है जब कोई चेतन उन्हें अपनाये हुए है। 'यह मेरा शरीर है'–इस तरह चेतन के निश्चय के बिना जड़ वस्तु इस ढंग से कार्यकारी नहीं होती। शिव ही इन भूतादि में इस निश्चय वाले हैं। तत्तद् भूत आदि में निश्चय वाले हुए उनके तत्तत् नाम हैं। यही अभिमानी का अर्थ है। महाभूतों की प्रधानता मानकर पाँच तीर्थ दक्षिणभारत में प्रसिद्ध हैं। पृथ्वी लिंग एकाम्रेश्वर में (कांची), जललिंग जम्बुकेश्वर में (श्रीरंगम्), तेजोलिंग अरुणाचलेश्वर में, वायुलिंग श्रीकालहस्तीश्वर में और आकाशलिंग चिदम्बरम् में।

छन्द है आन्दोलिका। प्रतिपाद सैंतीस मात्रायें होती हैं तथा दसवीं, बीसवीं, तीसवीं और सैंतीसवीं मात्रा पर यति होती हैं। इसका लक्षण यों व्यक्त किया गया है–

सप्तभिः प्रहरणैः संयुतान्तिमगुरुः त्रिर्दशसु यतियुतान्दोलिकोक्ता'।

प्रहरण शब्द पाँच की संख्या में पारिभाषिक है। सात को पाँच से गुणाकर पैंतीस की संख्या आती है। अंतिमवर्ण गुरु होने से उनकी दो मात्रायें हैं। अतः कुल सैंतीस मात्रायें सिद्ध होती हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(८४) अनेकात्मा— अनेक रूप धारण करने वाले । सारा विश्व शिव का रूप ही है क्योंकि 'बहु स्याम् प्रजायेय' (छां. ६.२.३) उन्हीं का संकल्प है । अतः वे एक होते हुए भी अनेक की तरह प्रतीत होते हैं । घटज्ञान, पटज्ञान, मठज्ञान आदि अनन्त रूप एक ज्ञानरूप शिव ही तो धरते हैं । मिट्टी या सोने की तरह यह अनन्तरूपता बोद्धव्य है । पूर्व नाम से सङ्कीर्णता की प्रतीति को यह नाम निवृत्त करता है । अथवा परमात्मा, अन्तरात्मा, देहात्मा, गौणात्मा, मिथ्यात्मा, साक्ष्यात्मा, जीवात्मा आदि अनेक रूप से वे अनेकात्मा हैं ।

जो अनेक होते हुए आत्मा हैं वे शिव अनेकात्मा हैं । आत्मा रहते हुए अनेक होना वास्तव में असम्भव होने से अनेकता काल्पनिक सिद्ध होती है अवश्य, किन्तु वह काल्पनिक रूप भी है शिव का, जैसे रजतरूप है शुक्तिका का ही । शुक्तिका ही अज्ञान से रजत दीखती है । शिव भी अज्ञान से अनेक दीखते हैं । अथवा अनेकों के आत्मा होने से वे अनेकात्मा हैं । विभिन्न विरोधी वस्तुओं का आत्मा यदि एक है तो वे वस्तुएँ अवश्य कल्पित हैं, कारण कि वास्तविक विरोधी वस्तुओं का एक आत्मा हो नहीं सकता । अथवा जो एकात्मा नहीं वे शिव अनेकात्मा हैं, गुणरहित होने से संख्यारूप गुण उनमें रहता नहीं अतः वे एक नहीं हैं । अथवा जो अनेक हैं वे जीव ही आत्मा अर्थात् ब्रह्म हैं यह महावाक्य जिसके तत्त्व को कह रहा है वे शिव अनेकात्मा हैं । हम शिव को कथमपि सीमित न मानें इसलिये यह नाम है । नौकर बनकर भी शिव भक्तों के संमुख उपस्थित हुए सुने गये हैं । यदि हम यह ख्याल रखें कि अनेकात्मा होने से वे न जाने कैसे हमारे निकट आ जायें तो जड़-चेतन हर एक से हमारा व्यवहार उसे शिवरूप मानकर होगा । यही अनेकात्मा की उपासना है । अथवा जहाँ अनेकता की बुद्धि हो—भेद बुद्धि हो—वहाँ आत्मदृष्टि करना अनेकात्मा की उपासना है । अथवा 'साध्य' इस मध्यपद का लोप समझकर अनेक उपायों से साध्य आत्मा है वह अनेकात्मा है अतः उपायों का—यज्ञ, दान, तप, कामत्याग आदि का—अनुष्ठान अनेकात्मा की सेवा है ।

पद्यमयी संक्षिप्त व्याख्या है—

यत्किंचिद् ब्रह्माण्डे सर्वो वै रुद्रस्तत् ।
संख्येयत्ताभावाद् विख्यातोऽनेकात्मा ॥९०॥

ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है वह सब रुद्र ही है अतः रुद्र अनेकात्मा हैं । और शिव की संख्यादृष्ट्या सीमा नहीं होने से वे अनेकात्मा नाम से प्रसिद्ध हैं ।

क्रमशः इन श्रुतियों के आधार पर यह अर्थ किया है—

विश्वं भूतं भव्यं भुवनं चित्रं बहुधा जातं जायमानं च यत् ।
सर्वो ह्येष रुद्रस्तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥ महाना. १३.२ ॥

तथा,

असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम् । तेषाँ सहस्रयोजनेवधन्वानि तन्मसि ॥
(शु.य. मा. सं. १६. ५४)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शेष नामक छन्द है–'मद्वन्द्वं शेषाख्यम्' । प्रतिपाद मगणद्वय हों तो शेष छंद होता है ।

(२५) सात्त्विकः –सत्त्व से पूर्ण । सत्त्व का अर्थ अन्तःकरण होता है । अन्तःकरण में ही उनका चित्, आनन्द आदि रूप प्रकट होने से शिव सात्त्विक हैं । अथवा सत्त्व का अर्थ है सत्ता । सत्तारूप से ही वे सर्वत्र चराचर में पूर्ण हैं अतः सात्त्विक कहे गये हैं । 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' (कठ. २.३.१३) श्रुति इसमें प्रमाण है । सांख्य प्रक्रिया से तो सत्त्वगुण ही उनका स्वभाव होने से वे सात्त्विक हैं । सत्त्वगुणी साधक को ही वे मिलते हैं अतः सात्त्विक हैं ऐसा हैरण्यगर्भों का मत है । पुराणदृष्टि से उनका श्वेतवर्ण, ज्ञान, वैराग्य तथा समाधि उनकी सात्त्विकता में स्पष्ट प्रमाण हैं । वैसे रुद्र तमोगुण के अधिष्ठाता भी माने गये हैं । तमोगुण का नियामक तो सत्त्वगुण ही हो सकता है ऐसा सब मानते हैं । जैसे तमोगुण से सत्त्वगुण दबाया जाता है, तब सत्त्वगुण के अधिष्ठातारूप को विष्णु कहते हैं । काला रंग, लम्बे समय तक निरन्तर सोते रहना आदि से वे अपनी तमोगुणता स्पष्ट करते हैं । रजोगुण का नियन्त्रण रजोगुण ही कर सकता है, अतः रजोगुण के अधिष्ठाता ब्रह्मा स्वयं भी रजोगुणी हैं । यह अपने लाल रंग, सृष्टि करना आदि से वे स्पष्ट करते हैं । अतः सत्त्वगुण वाले होने से यहाँ शिव को सात्त्विक कहा गया है । शुद्ध को भी लोक में सात्त्विक कहा जाता है । वे स्मरणमात्र से सबको शुद्ध करते हैं अतः सात्त्विक हैं ही ।

अप्पयदीक्षित ने ब्रह्मतर्कस्तव में तथा उसके विवरण में शिव की सात्त्विकता का सप्रमाण प्रतिपादन किया है । पहले वे रुद्र की तामसता की शंका हटाते हैं–

कालाग्निरुद्रवपुषा भगवन् ! भवार्तिं कल्पावसानसमयेषु हरन् जनानाम् ।
गृह्णासि शङ्कर ! तमः करुणैकमूर्तिः शस्त्रं नृणां व्रणरुजं शमयन्निव त्वम् ॥२०॥

जैसे शल्यचिकित्सक रोगी के अंग को कांटता है वैसे संसारभर के लोगों की आर्ति को हरने के लिये शम्भु तमोगुण को ग्रहण करते हैं । यह तो उनकी सात्त्विक करुणा का सूचक है, तामसता का नहीं ।

निद्रालुता न तव शङ्कर ! शक्यशङ्का क्रौर्यं किमप्यनुचिते विषये न दृष्टम् ।
नान्योऽपि कश्चन गुणस्तमसो विकारः शङ्क्या कथं तव बुधैस्तमसाभिभूतिः ॥२१॥

तामसता का पता निद्रालुता से चल सकता है पर शिव का निद्रालु होना कहीं वर्णित नहीं । जो तो शिव की क्रूरता देखी गयी है वह केवल अनुचित कार्य के दण्डस्वरूप ही है जिससे अनुचित करने वाला तथा अन्य सब सुधरें । पिता पुत्र को दण्डित करता है तो द्वेषपूर्वक नहीं–'नहि द्वेष्टि पिता पुत्रं यो निगृह्यापि शिक्षयेत्' । अतएव वह दण्ड तामस नहीं है । ऐसे ही शिव का ताडन भी तामस नहीं । अन्य भी कोई तामस विकार शिव में सुने नहीं गये हैं । किंच शिव की सात्त्विकता में शास्त्र प्रमाण हैं–

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सत्त्वप्रवर्तनकरस्त्वमसि प्रतीतः सत्त्वं तनुश्च तव सत्त्वमयश्य यत्त्वम् ।
एतावदद्रितनयाधिप! सात्त्विकत्त्वं किं सम्भवेत् क्वचन तामसताविरोधि ॥२२॥

श्वेताश्वतर उपनिषत् (३.१२) घोषणा करती है कि शिव सत्त्व के प्रवर्तक हैं 'सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः....ईशानो ज्योतिरव्ययः' । शिव का शरीर सत्त्व है व तम का ग्रहण संहार के लिये ही किया जाता है, जबकि विष्णु का शरीर तम है और सत्व का ग्रहण पालन के लिये ही किया जाता है, तथा ब्रह्मा का शरीर भी रज है और उत्पत्त्यर्थ ग्रहण भी उसी का किया जाता है । यह बात सूतसंहिता की सूतगीता में (४.२.१५-१७) कही गयी है–

यस्य मायागतं सत्त्वं शरीरं स्यात्, तमोगुणः । संहाराय, त्रिमूर्तीनां स रुद्रः स्यान्न चापरः ॥
तथा यस्य तमः साक्षाच्छरीरं, सात्त्विकोगुणः । पालनाय, त्रिमूर्तीनां स विष्णुः स्यान्न चापरः॥
रजो यस्य शरीरं स्यात्, तदेवोत्पादनाय च । त्रिमूर्तिनां स वै ब्रह्मा भवेद् विप्रा ! न चापरः ॥

वहीं सत्त्वमयता भी कही है (श्लो. ४०-४१)–

अस्ति रुद्रस्य विप्रेन्द्रा ! अन्तःसत्त्वं बहिस्तमः । विष्णोरन्तस्तमः सत्त्वं बहिरस्ति, रजोगुणः ॥
अन्तर्बहिश्च विप्रेन्द्रा ! अस्ति तस्य प्रजापतेः । अतोऽपेक्ष्य गुणं सत्त्वं मनुष्या विवदन्ति च ॥

एवं च तामसता का अत्यन्त विरोधी सत्त्व जैसा शिव में है वैसा अन्यत्र नहीं । शंका होती है कि नितान्त सत्त्व होने पर उग्र व भीम जैसे नाम कैसे ? इस पर दीक्षितजी कहते हैं–

उग्रस्त्वमुत्तरतया जगतः समस्ताद् भूयासमुग्र इति तत्परता हि दृष्टा ।
भीमोऽसि शङ्कर! नियन्तृतयाऽखिलानां वेदःप्रणौति यत एव महद्भयं त्वाम् ॥२३॥

'शिववाचक' उग्रशब्द का अर्थ है–सबसे उत्तर होने वाला । कोष में भी उत्कट या अति-उच्च अर्थ में उग्रशब्द प्रसिद्ध है–'उग्रः शूद्रासुते क्षत्राद् रुद्रे पुंसि त्रिषूत्कटे' (मेदिनी), 'उग्रोन्त्यजे शिवेऽत्युच्चे' (त्रिकाण्ड.) । श्रुति में भी इस तात्पर्य से उग्रशब्द प्रयुक्त है यह सोद्धरण मूल में व्यक्त है । तैत्तिरीय संहिता का वचन है 'उग्रोस्युग्रोहं सजातेषु भूयासम्' और भीमशब्द जो उनकी भयंकरता बताता हैं वह उनकी शासकता का द्योतक है, तामस क्रोधिता का नहीं । वेद ने भी (कठ. २.३.२) बताया है कि उनके भय से संसार नियमित चलता है । और भी कारण है कि शिव को सात्त्विक मानना आवश्यक है–

सङ्ख्यातिशायिगुण ! सत्त्वनिधिस्त्वमेव ज्ञानं सुखं च यदि सत्त्वगुणादवाप्यम् ।
जानीमहे तदुभयं त्वदधीनमीश ! जाबालसूनृतमुखै र्ननु जन्मभाजाम् ॥२४॥

ज्ञान व सुख सत्त्वगुण से ही प्राप्त होते हैं । जाबालोपनिषद् आदि से यह निश्चित पता चलता है कि शिव से ही ज्ञान व अतएव सुख होता है । वे ही प्रणवब्रह्म का उपदेश देकर आत्मज्ञान व स्वरूपसुख प्रदान करते हैं–'रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृती भूत्त्वा मोक्षीभवति' (जाबाल १) । अन्यत्र भी 'स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
(श्वे.४.१२),'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृ.४.३.३२), 'एष ह्येवानन्दयाति' (तै.२.७.१)। किंच ब्रह्मविद्यारूपिणी उमा जिनका शरीरार्ध है उनसे अतिरिक्त कौन ज्ञानप्रद होगा ?

विद्याप्रदं वरद विश्वसिमः कमन्यं विद्याधिपे भवति विश्वगुरौ प्रतीते ।
सर्वज्ञनामनि समुन्मिषदिन्दुचूडे सव्यार्धविग्रहसमाकलितात्मविद्ये ॥२५॥

'ईशानः सर्वविद्यानाम्' (महाना.१७.५) आदि श्रुति शिव की विद्येश्वरता में प्रमाण है। जगद्गुरुता तो पूर्व में (नाम ७४) बतायी जा चुकी है। इसी तरह शिव ही सुखप्रद भी हो सकते हैं, अन्य नहीं–

शम्भुः श्रुतोऽसि ननु तृप्तिविरागशाली वैराग्यचिह्नभरितश्च महेश्वरस्त्वम् ।
तं त्वामपारसुखसागरमन्तरेण कस्मात् सुखं भवितुमर्हति देहभाजाम् ॥२६॥

शिव का नाम ही शंभु है–जिनसे सुख होता है वे ही शंभु कहाते हैं। जिसके पास स्वयं सब हो, पर कुछ भी अपने लिये न चाहिये, वही दूसरे को कुछ देकर सुखी कर सकता है। शिव ही महेश्वर हैं–समस्त संसार उनकी निजी संपत्ति है; और स्वयं परम तृप्त और विरक्त हैं। अतः वे ही किसी को सुखी कर सकें यही संभव है। श्रुतिप्रोक्त शिवनाम ही उन्हें सुख के अद्वितीय प्रदाता घोषित करते हैं –

यज्जीवरत्नमखिलागमलालनीयं ये च त्रिनेत्र ! मृड-शङ्करनामधेये ।
एतैरपि स्फुटमनन्यसमाश्रयं ते विख्याप्यते सकलजीवसुखप्रदत्त्वम् ॥२७॥

'शिव' इस नाम को आगमिकों ने जीवरत्न कहा है। कल्याणमय सुख शिव पद का अर्थ है। उसी शब्द से 'तत्करोति' (वार्ति.) से णिच् तथा कृदन्तीय (३.३.५६) अच् प्रत्यय हो णिलोप (६.४.५१) होने से शिव नाम निष्पन्न होता है। अतः यह सुखदायकता का बोधक है। मृड नाम तो मृड सुखने (तु.प.से.) से स्पष्ट ही सुखदायक अर्थ वाला है। यही स्थिति शं-कर नाम की है। इस प्रकार हर तरह से शिव की सात्त्विकता सिद्ध होती है।

–श्रद्धा, बुद्धि, धृति, ज्ञान, याग, दान, त्याग, कर्तृत्व, सुख आदि सबको गीतोक्त (१७-१८) विधि से सात्त्विक रखने का प्रयास सात्त्विक शिव की उपासना है। अथवा शुद्धसत्त्वप्रधान माया की उपाधि वाले ईश्वर का ध्यान आदि सात्त्विक की उपासना है। परमार्थतस्तु सत्त्व जिसका है–जिस पर अध्यस्त है–उस साक्षीरूप से अवस्थित रहना ही सात्त्विक का पूजन है।

भास्करराय इस नाम को यों समझाते हैं –

त्वयि निवसति जन्तुरस्तिता गुणइति तानि तव प्रयोजनम् ।
त्वमपि भवसि तेषु तद्वपुः परशिव तेन मतोऽसि सात्त्विकः ॥९१॥

हे परम शिव ! प्राणिवर्ग, सत्ता औरं सत्त्वगुण आप में रहते हैं अतएव वे आपसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रवर्तित होते हैं अतः आप सात्त्विक हैं। आप भी उनमें रहते हैं और सत्त्वरूप शरीर वाले हैं इससे भी आप सात्त्विक माने गये हैं।

'प्रकृतिगुणे सत्तायां स्थाम्नि भूते च सत्त्वं स्यात्' (हला.) आदि कोष से सत्त्व का अर्थ भूत अर्थात् प्राणिवर्ग, विद्यमानता और प्रकृति का गुण विशेष—तीनों है। 'प्रयोजनम्' (अष्टा.५.१.१०८) सूत्र से 'सत्त्व जिसका प्रयोजन है, इस अर्थ में ठक्प्रत्यय है। प्रयोजन का भी अर्थ है प्रवर्त्यत्व। शिव से सत्त्व प्रवर्त्य है यह पूर्वोक्त श्रुति से (श्वे.३.१२) सिद्ध है। अथवा 'तत्र भवः' (४:३.५६) अर्थ में प्रत्यय है। अंतर्यामी होने से शिव सभी में रहते ही हैं। शिव की सत्त्वशरीरता भी पूर्वोक्त स्कन्दपुराण सूतसंहिता (४.२.१५) से सिद्ध है। यद्यपि शिव सत्ता में रहते हैं यह असंगत लगता है, तथापि सत्ता से अभिन्न प्रतीत होना ही सत्ता में रहना है, ऐसा समझने से कोई असंगति नहीं। गुण में रहना तो तद्रूप शरीर वाला होने से सिद्ध है।

वृत्त है अपरवक्त्र। 'अयुजि ननरला गुरुः समे, तदपरवक्त्रमिदं नजौ जरौ'— अपरवक्त्र के प्रथम व तृतीय पादों में दो नगण, एक रगण, लघु व गुरुवर्ण होते हैं तथा द्वितीय व चतुर्थ पादों में नगण, दो जगण और एक रगण होते हैं। इस तरह विषम पादों में ग्यारह और सम पादों में बारह वर्ण होने से यह अर्धसमवृत्त है।

(८६) शुद्धविग्रहः—शुद्ध मूर्ति वाले। शिव स्वरूपतः ज्ञान होने से शुद्ध हैं ही यह पूर्व में कहा, यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि उनकी मूर्ति भी शुद्ध है। ब्रह्माकारवृत्ति शिव की उत्कृष्ट मूर्ति है जो अविद्या को नष्ट कर सब पापों को निवृत्त करती है। सारी ही वृत्तियाँ ज्ञान को प्रकट करने से शुद्ध हैं। वे सभी शिव के विग्रह हैं। शिव का कभी किसी भी रूप में गर्भवास, मरण, दुःख, जरा, व्याधि आदि नहीं होता जैसे अन्य देवताओं का अवतार आदि में होता है, अतः वे ही शुद्धविग्रह हैं यह आगमों में स्पष्ट है। उनकी लिंगमूर्ति सदा शुद्ध रहती है। लिंग ही वस्तुतः शिव की मूर्ति है। अष्टमूर्तियाँ भी नित्य शुद्ध हैं। अतः वे शुद्धविग्रह हैं।

आत्मा के अशुद्धविग्रह जीव व ईश्वर, तथा शुद्धविग्रह साक्षी व ब्रह्म हैं यह वेदान्त-मर्यादा है। शुद्धविग्रहों का ही अत्यन्त अभेद महावाक्य ज्ञापित करते हैं। साधना का प्रमुख व सबसे कठिन भाग ही विग्रहशुद्धि का है। शुद्धविग्रह समझे बिना महावाक्यार्थ समझा नहीं जा सकता और यदि लगे कि समझ आ गया तो निश्चयं रखना चाहिये कि वह भ्रान्त समझ है। शिव शुद्धविग्रह हैं— साक्षी हैं, ब्रह्म हैं। यह शुद्धि नैसर्गिक है व अशुद्धि-निवृत्तिपूर्वक नहीं है। जैसे वस्तुतः स्वच्छ आकाश को ही वर्षा के अनन्तर 'आकाश साफ हो गया' कहते हैं; या स्वरूप से शीतल ही जल को 'जल शीतल हो गया' कहते हैं, वैसे ही स्वभाव-संशुद्ध आत्मतत्त्व के प्रमातृत्त्व, कारणत्वादि भ्रमों के हटने से उसे शोधित या शुद्ध कह देते हैं। वस्तुतः जैसे जो व्यक्ति आजन्म जेल गया ही नहीं— जिसके जेल जाने की सम्भावना ही नहीं हुई—उसके लिये कहना 'यह जेल से छूट गया'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

या 'यह जेल से छूटा हुआ है' असंगत ही है, वैसे शिव को शुद्ध कहना वास्तविक दृष्टि से असंगत ही है। किन्तु जैसे यह प्रयोग होता है 'कर्ण कौन्तेय हो गया', 'दसवाँ मिल गया' आदि, वैसे शिव की शुद्धता कहना भी है। ये दोनों तथ्य अतिधन्य वेद ने इतने से ही सूचित कर दिये हैं 'शुद्धमपापविद्धम्' (ईश.७)। इस शैवी शुद्धि को समझने के लिये अन्वयव्यतिरेक तथा आत्मानुसन्धान करना शुद्धविग्रह की उपासना है। अथवा शुद्ध हवि का ग्रहण करने वाले को ही शुद्धविग्रह कह दिया है, विसर्गलोप छान्दस है। अतः शुद्ध वस्तु ही शिव को समर्पित करना शुद्धविग्रह की उपासना है। भोजन व औषध से भी अधिक ध्यान शिव को समर्प्य वस्तु की शुद्धि का रखना चाहिये। अथवा जीवरूप पक्षी 'वि' शब्दार्थ है। शुद्ध जीव का ग्रहण करने वाले होने से शिव शुद्धविग्रह हैं। 'न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति' (प्र.१.१६) से प्रश्नोपनिषत् इस विषय में स्पष्ट है। अतः स्वयं को इन दोषों से रहित करना शुद्धविग्रह की पूजा है। आन्तर की तरह बाह्य शौच रखना भी शिवग्राह्य बनने के लिये आवश्यक है। उच्छिष्ट आदि भोजन, स्नानादि न करना तथा ऐसी गन्दी सभी प्रवृत्तियों से बचना चाहिये।

छन्दोबद्ध टीका है –

घनघृतमिव सत्त्वमात्रपिण्डो न तु वपुरण्वपि ते रजस्तमोक्तम्।
शिव! भवसि च नैव कूटयोधी हरसि मलानिति शुद्धविग्रहस्त्वम्॥९२॥

हे शिव! जैसे घनीभूत घी में घी से अतिरिक्त कुछ नहीं ऐसे आप केवल सत्त्वरूप शरीर वाले हैं। आपका शरीर रजोगुण व तमोगुण से थोड़ा भी कलुषित नहीं है। तथा युद्ध में आप कभी छल बल का प्रयोग नहीं करते और भक्तों के मलों को हर लेते हैं। इन सभी दृष्टियों से आप शुद्धविग्रह हैं।

विग्रह अर्थात् मूर्ति के लिये दृष्टान्त होने से घनीभूत घी कहा। रजस्तमोभ्यामक्तं रजस्तमोक्तम्–यह समास है। कल्पित से अथवा समझ-बूझकर ग्रहीत से कालुष्य नहीं होता। अतः संहारादि प्रयोजन से तम आदि के ग्रहण से भी कालुष्य सर्वथा असंभव है। विग्रह शब्द का अर्थ युद्ध भी होता है: 'विग्रहः कायविस्तारे विभागे ना रणेऽस्त्रियाम्' (मेदि.)। शिव का युद्ध भी शुद्ध है। यद्यपि कुत्रचित् शिव के युद्ध करते हुए उनकी सहायता के लिये अन्य देवताओं ने माया-प्रयोग किया है तथापि शिव ने ऐसा नहीं किया। यौक्तिक युद्ध में नास्तिकों से भी वाद ही करने वाला, वितण्डा न करने वाला, आचार्य शंकररूप शुद्ध विग्रह भी शिव का ही है। रामचन्द्र नामक आलवालव्याख्याता तो कूटयोधी का अर्थ करते हैं: कूट अर्थात कूटस्थ चैतन्य। उससे युद्ध करने वाला जीव कूटयोधी है। शिव ऐसा नहीं करते, कूटस्थभाव से ही रहते हैं। कूटस्थ से युद्ध है कर्तृत्वाद्यभिमान। अथवा कूट का अर्थ है शुद्धज्ञान उससे युद्ध करने वाला जीव कूटयोधी है। शिव तो विशुद्ध ज्ञानदेह हैं। किं च, शुद्धो विग्रहो यस्माद्यदुपासनाद्–इस विग्रह से अन्तिम अर्थ है। शिव की सेवा अमोघ है। अपने भक्तों की सभी अशुद्धियाँ हटाकर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपने शुद्धविग्रह रूप से उन्हें शीघ्र अभिन्न कर लेते हैं यह पुराणों में पग-पग पर बताया गया है। मलों से आणव, कार्मण और मायीय समझे जा सकते हैं। अथवा विद्यारण्य श्रीपाद के कथनानुसार ज्ञान-क्रिया-शक्ति का आच्छादक दोष ही मल है 'मलो ज्ञानक्रियाशक्त्याच्छादको दोष इष्यते' (अनुभू.प्र.१३.३१)।

पुष्पिताग्रा छन्द है। 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो, युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा'—प्रथम व तृतीय पादों में दो नगण, एक रगण व यगण हों तथा द्वितीय और चतुर्थ पादों में नगण, दो जगण, एक रगण व एक गुरु वर्ण हो तो पुष्पिताग्रा छन्द होता है। इस प्रकार समपादों में तेरह और विषम पादों में बारह अक्षर होते हैं।

(८७) शाश्वतः —नित्य। प्रलय करने के बाद तो वे अकेले ही बचते हैं। सृष्टि काल में भी वे तो वैसे ही बने रहते हैं। अतः उनकी शाश्वतता स्पष्ट है।

शश्वत् होने वाला शाश्वत है शश्वद्भवम्। शश्वद् अव्यय है जो प्लुत गति अर्थक शश (भ्वा.प.से.) धातु से बाहुलकात् वप्रत्यय कर बना है। शश्वत् का अर्थ है सतत, निरन्तर; जैसा कि इस सूक्ति में प्रयोग है 'शश्वद्भक्ति कुशिक्षितः'। अमर में भी 'अभीक्ष्णं शश्वद् अनारते' कहा है। शुद्धविग्रह से तो कूटस्थ नित्य स्वरूप प्रकट किया था, और शाश्वत से सदा होते रहने वाला स्वरूप कहा जा रहा है। अधिष्ठान तथा उपादान दोनों शिव ही हैं यह तात्पर्य है। वेदान्त की निजी प्रक्रिया में परिणामी उपादान को स्वीकारा ही नहीं गया है। पूर्व-भूमि के रूप में समझाने के लिये जब तक परिणामवाद का आश्रयण लिया जाता है तभी तक परिणामी कारण बता दिया जाता है। विचार करने पर परिणामवाद में आरम्भवाद से कोई खास वैलक्षण्य नहीं समझ में आता। एक में घट की नवीन उत्पत्ति और दूसरे में घटाभिव्यक्ति की नवीन उत्पत्ति मानी है। नवीन उत्पत्ति उभयत्र स्वीकार्य है और वही युक्ति से संगत नहीं। गीताभाष्य में (अध्य.१८) अत एव परिणाम की परीक्षा करके उसे अग्राह्य दर्शाया है। वेदान्त अनिर्वचनीय उत्पत्ति से सन्तोष करना ही यौक्तिक मानता है क्योंकि अन्य कोई प्रकार संभव नहीं। अजातवाद तो चरमसिद्धान्त है ही। अतः परिणामी उपादानरूप से माया मानना भी केवल समझाने के लिये है। शिव ही बाधदृष्टि से अधिष्ठान और प्रतीतिदृष्टि से उपादान हैं, इतना ही स्वीकार पर्याप्त है। सतत जगद् रूप से होते रहने वाले वे ही शाश्वत हैं। जगद्रूप से सृष्टि व प्रलय दोनों को समझना चाहिये। अथवा शश्वत् का अर्थ है साथ 'मुनः सहार्थयोः शश्वत्' (अमर.)। साथ रहने वाले ही शाश्वत हैं। हमेशा जीव के साथ बना रहना शिव क. ही करुणामय स्वभाव है। अन्य सभी हमें कभी न कभी छोड़ जाते हैं। शिवगीता में (८.६८) पक्षियों के दृष्टान्त से यह स्पष्ट किया है —

सायं सायं वासवृक्षं समेताः प्रातः प्रातस्तेन तेन प्रयान्ति।
त्यक्त्वान्योन्यं तं च वृक्षं विहङ्गा यद्वत्तद्वज्ज्ञातयोऽज्ञातयश्च॥

किन्तु कभी हमें न छोड़ने वाले शिव ही सदा हमारे साथ रहते हैं। इसीलिये श्रुति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ने भी ईश्वर को जीव का सखा बताया है 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'(श्वे.४.६) । प्रमाता जब तक रहता है ससाक्षिक ही रहता है । मायादि की उपेक्षा ही शाश्वत की उपासना है । प्रत्येक कार्य के नाना कारण ढूँढना हमारी आदत है । एकमात्र शिव ही सबके कारण हैं यह निश्चय रख काल, ग्रह, नक्षत्र, कर्म आदि की उपेक्षा करनी चाहिये । अथवा अन्य किसी को अपना साथी न मानकर एक शिव ही हमारा साथ दे रहे हैं यह दृढ भाव रखना शाश्वत का पूजन है । चित्तपक्षी को यही सदुपदेश भगवान भाष्यकार ने शिवानन्दलहरी में (श्लो.४५) दिया है –

छन्दःशाखिशिखान्वितैर्द्विजवरैः संसेविते शाश्वते
सौख्यापादिनि खेदभेदिनि सुधासारैः फलैर्दीपिते ।
चेतः पक्षिशिखामणे ! त्यज वृथा सञ्चारमन्यैरलं
नित्यं शङ्करपादपद्मयुगलीनीडे विहारं कुरु ॥

भास्करीय व्याख्यान संक्षिप्त है –

पूर्वतो जगतो जनेः सर्वसंहरतः परे ।
वर्तमाने जगत्यपि त्वमस्येवेति शाश्वतः ॥९३॥

जगत् की उत्पत्ति से पूर्व काल में, सारे संसार के संहार के उत्तर काल में और जगत् के विद्यमान रहते काल में आप हैं ही अतः शाश्वत हैं ।

'शाश्वतं शिवमच्युतम्' (महाना.११.३), 'अजो नित्यःशाश्वतोऽयं पुराणः' (गी. २.२०) आदि श्रुति-स्मृति में यह नाम प्रसिद्ध है । अथर्वशिर उपनिषत् में प्रारंभ में ही रुद्रवचन है –

'अहमेकः प्रथममासं वर्तामि भविष्यामि च नान्यः कश्चिन्मत्तो व्यतिरिक्तः ।'

अत एव ब्रह्मसूत्र में जगज्जन्मादि कारण को ही परमशिव बताया है । त्रितयकारण होने से त्रितयकाल में रहना अर्थसिद्ध है ।

छन्द है जविपुल अनुष्टुब् । अनुष्टुब् में चौथे अक्षर के अनन्तर चारों पादों में जगण हो तो उसका जविपुल नाम होता है ।

(८८) **खण्डपरशुः** –टूटे फरसे वाले । असंगता का ज्ञान रूपी परशु संसार रूप वृक्ष को अविद्यामूल सहित काटकर स्वयं भी कट जाता है । ब्रह्माकारवृत्ति अविद्या का नाशकर स्वयं ही नष्ट हो जाती है यह शाङ्करों का सिद्धान्त है । अतः परमेश्वर खण्डपरशु हैं । वह परशु दीखता है पर काटने का काम करने में असमर्थ है । ज्ञानी में ब्रह्माकारवृत्ति बाधितानुवृत्ति काल में प्रतीत होती है, पर वस्तुतः ज्ञान तो प्रथमवृत्ति में हो चुकने से अब ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकती । श्रीसुरेश्वराचार्य स्पष्ट ही प्रतिपादन करते हैं कि ज्ञानसन्तति से कोई नई प्राप्ति नहीं होती । वृत्ति को हमेशा चलाते रहने से ज्ञान में कोई विशेषता आ जाती है–इस प्रसंख्यानवाद का विरोध शाम्भवों ने किया है । यदि प्रथम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वृत्ति अज्ञान को काटने में असमर्थ है, तो उसका दुहराया जाना एवं उसकी अपेक्षा से अथवा उससे उत्पन्न चरम वृत्ति भी असमर्थ ही रहेगी। अतः परशु दीखने पर भी कार्यकारी न होने से खण्ड परशु हैं।

अथवा सम्पूर्ण शिव के लिये घोर हिंसक परशु यही है कि उन्हें सम्पूर्ण न समझ विश्व का एक देश समझा जाये। 'खण्ड एकदेशः परशुर्यस्मै। एकदेशइति तादृशो बोधो लक्ष्यते'। जैसे सुप्रतिष्ठित व्यक्ति को मरने से अधिक कष्ट होता है यदि उसकी प्रतिष्ठा पर आँच आये, वैसे ही सबसे बड़ा शिवापराध है शिव को सीमित मानना। अपने से भिन्न मानना भी उन्हें सीमित करना ही है। अतः बृहदारण्यक की (१.४.१०) घोषणा है–

'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योसावन्योऽहमस्मीति, न स वेद; यथा पशुरेवं स देवानाम्।'

हम यदि शिव पर परशुप्रहार न करना चाहें तो उन्हें अपने या किसी से भिन्न न समझें। अथवा 'खण्ड ऐक्षवः परशुर्यस्य' इस विग्रह से खाँड जिनका फरसा है वे खण्डपरशु हैं। जिससे सब मीठा होता है वह खाण्ड है। राग से ही सब प्रिय लगता है अतः वही यहाँ खाँड है; तथा वही भगवान् का फरसा है, जो जिसे लग जाये उसे नष्ट कर देता है। रागी व्यक्ति नष्ट होता है यह ध्रुव सत्य है। हमारी जो भी हानि होती है उसका कारण हमारा राग ही है। द्वेष भी विपरीत राग का ही नाम है। अथवा काशी में शंकराचार्य के संमुख चण्डाल रूप से आने के कारण महादेव को खण्डपरशु कहा है। विश्वकोष में खण्डपरशु शब्द का चण्डाल अर्थ भी बताया है–

धूर्जटौ खण्डपरशुः जामदग्न्ये विधुन्तुदे। खण्डामलकभैषज्ये चण्डालेऽपि स्मृतो बुधैः॥

इसी प्रसंग में जगत्प्रसिद्ध 'मनीषापंचक' का निर्माण हुआ था। खण्डपरशु की उपासना है उन्हें ससीम न समझना, राग को निवृत्त करना और चण्डाल आदि समाज में निकृष्ट माने जाने वालों से भी व्यवहार करते समय यह न भूलना कि उस रूप में भी वही शिव लीला कर रहा है।

पौराणिक परिपाटी का अनुसरण करते हुए आलवाल इस नाम को यों समझाता है–

गजासुरवधे खण्डास्तव जाताः परशवः।
तदारभ्याखिलै र्दैवै र्गीयसे खण्डपरशुः॥ १४॥

गजासुर का वध करने में आपके फरसे टूट गये थे, तब से सब देवताओं द्वारा आप खण्डपरशु कहे जाते हैं।

दारुकवन में ऋषियों ने वेदमय और वज्रशरीर वाला गजासुर भगवान् की हानि करने भेजा था जिसे मारने में भगवान् के अनेक परशु टूट गये थे ऐसा पुराणों में वर्णित है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विपरीतचपला नामक वृत्त है। चारों पाद आठ अक्षरों वाले हों पर समपादों में चतुर्थाक्षर के बाद यगण या जगण हो तथा विषम पादों में चतुर्थाक्षर के बाद नगण हो तो उसे चपला छन्द कहते हैं। इससे उल्टा होने पर विपरीतचपला कहते हैं। अर्थात् इसके विषम पादों में चतुर्थाक्षर के बाद यगण या जगण होगा व सम पादों में चतुर्थाक्षर के बाद नगण होगा। चारों पादों के अंतिम अक्षर के विषय में निर्बन्ध नहीं। जैसाकि कहा है–

यो वा जो वाऽसमे तुर्यात् समे तुर्याच्च नगणः।
चपला विपरीताऽसौ छन्दोविद्भिः प्रकथिता ॥

(८९) अजः –स्वयं अनुत्पन्न रहते हुए कुछ उत्पन्न न करने वाले। अखण्ड शाश्वत शिव बिना उत्पन्न हुए ही हैं। प्रपंचोपशम होने से वे कुछ उत्पन्न नहीं करते। जीवदृष्टि से उत्पत्ति है, अतः वह शिव से ही है, किन्तु वस्तुदृष्टि से सृष्टि न होने से वह शिव से भी नहीं है। यही श्रीकृष्ण का ऐश्वर योग (गी. ९.४.५) है।

शब्दरत्नावली में 'ज'-शब्द का अर्थ विष्र बताया है। शिव कभी विष नहीं हैं–घातक नहीं हैं। खण्डपरशु से भीति न हो इसलिये यह नाम तुरन्त कहा है। कृपा पूर्ण होने से चाहे जैसा प्राणी हो, शिव का उससे कोई वैर नहीं। उनके कारण कभी किसी का अहित नहीं होता। उनका ताडन भी जीव के कल्याणार्थ है। वे वैदिक कर्मों व उपासनाओं का तत्तत् फल के लिए विधान करते हुऐ मानो हमें फललोलुप बनाकर मोक्ष मार्ग से पराङ्मुख कर रहे प्रतीत होते हैं, वह भी हमारी भूल है, कारण कि वहाँ भी प्रसिद्ध करुणा ही ऐसी उपदेश-परिपाटी में कारण है। आचार्य ने छान्दोग्यभाष्य में (८.१.१) लिखा है 'सन्मार्गस्थास्तावद् भवन्तु, ततः शनैः परमार्थसदपि ग्राहयिष्यामीति मन्यते श्रुतिः'। अतः पापिष्ठ से पुण्यमय पर्यन्त सभी केलिए शिव सदा अगरल हैं। गरल को तो अपने कण्ठ में छिपा हमसे दूर कर ही दिया है। इसी दया के कारण वे जीतने वाले नहीं हैं–'जयतीति जः न जः अजः'। जि जये (भ्वा. पं. से.) धातु से डप्रत्यय (३.२.१०१) हो 'ज' शब्द बनता है। जो सबकी जय कराना चाहते हैं वे कैसे किसी को हराकर उस पर विजयी बनें? बल्कि इसी में शिव की जय है कि हमारी उन पर जय हो–वे ही शिव न बने रहें हम भी शिव ही हो जायें। यही अज की उपासना है।

आलवाल का संक्षिप्त व्याख्यान है–

न जनिः शिव! ते। तदसि त्वमजः ॥९५॥

हे शिव आपका जन्म नहीं होता और आपकी कृपा से आपके भक्त का भी जन्म नहीं होता, अतः आप अज हैं।

'सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मुं. २.१.२), 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' (कठ. २.१८), 'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा' (गी. ४.६) आदि श्रुति-स्मृति इस नाम में प्रमाण हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यद्यपि जीव मात्र जन्मता नहीं, अतः केवल भक्त का जन्म नहीं होता यह कहना निरर्थक है; तथापि हमें अज्ञानवश यह निश्चय हो जाता है कि हमारा जन्म-मरण होता है। पर भक्त का यह निश्चय ज्ञान से समाप्त हो जाता है, जिससे भक्त की जन्मनिवृत्ति कहना वैसे ही संगत है जैसे कर्ण की राधेयत्त्वनिवृत्ति कहना। कालविशेष से सम्बन्ध उत्पत्ति मानी जाती है, जो नित्य होने से शिव व अतएव जीव में असंभव है। काल अनित्य है और नित्य का अनित्य से वास्तव सम्बन्ध हो नहीं सकता क्योंकि अनित्य से सम्बन्ध भी अनित्य होगा तथा नित्य का कोई धर्म अनित्य होगा तो बलात् नित्य को भी अनित्य बना देगा। सब कालव्यक्ति अनित्य होने से काल अनित्य ही मानना संगत है। 'सर्वे निमेषा जज्ञिरे' (महाना. १.८) आदि वाक्यों से भी यही पता चलता है। न्याय भी है कि जो कुछ विभक्त है वह सब विकारी है (ब्र. सू. २.३.७)। भक्त की जन्मनिवृत्ति में ये शिवगीतावचन प्रमाण हैं–

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ॥ मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।
१४. ३४-३५।

संसारान्मुच्यते जन्तुः शिवतादात्म्यभावनात् ॥ १६.१३ ॥

न मद्भक्ता विनश्यन्ति मद्भक्त्या वीतकल्मषाः। आदावेतत् प्रतिज्ञातं न मे भक्तः प्रणश्यति
॥१७.३६॥

इत्यादि। मृतिह्वति शिववैशिष्ट्यद्योतक शिवगुण है ऐसा उपोद्घात में भास्करराय कह भी आये हैं।

छन्द का नाम रमण है। सगणात्मक चरण चतुष्टय होने पर रमण छन्द होता है।

(१०) पाशविमोचनः – पाश से छुड़ाने वाले। राग-द्वेषादि ही पाश हैं जिनसे आत्मा बँधकर पशुभाव वाला अर्थात् जीव दीख रहा है। शिव इनसे भक्त को छुड़ा देते हैं उसके मूलकारण द्वैतभाव को नष्ट करके। जहाँ द्वैत होगा वहीं राग-द्वेष होंगे। स्वयं अपने से न राग होता है और न द्वेष। अतः ज्ञानप्रद होने से वे पाशविमोचक कहे गये हैं। राजसिकता व तामसता को पाश मानें तो भी शिव सत्त्व में स्थित करा उनसे छुड़ाने वाले हैं ही। आणव, मायिक और कार्मिक तीनों मलों से छुड़ाकर निष्कलभाव प्राप्त कराते हैं, यह भाव आगमिकों का है। पापों से छुड़ाते हैं यह तो लौकिक भाव प्रसिद्ध ही है। शिव की करुणा तो इतनी प्रसिद्ध है कि कारुणिक मत वाले शैव प्रसिद्ध हैं। पुराणों में भी शिव को सर्वाधिक दयालु बताया गया है। इससे असुर, नाग, राक्षस भी उनकी दया प्राप्त कर लेते हैं। काशी में वे जीवमात्र को सभी पाशों से छुड़ाकर मुक्त कर देते हैं। अतः शिव पाशविमोचन हैं।

शिवोपनिषत् के अनुसार पाश ये हैं–

गुणो बुद्धिरहङ्कारस्तन्मात्राणीन्द्रियाणि च। भूतानि च चतुर्विंशदिति पाशाः प्रकीर्तिताः ॥
१.११॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और इनसे बँधने में निदान अज्ञान होने से शिवज्ञानवश शिवभावलाभ से ही इनसे छूट सकते हैं–

सत्यज्ञाने निबध्यन्ते पुरुषाः पाशबन्धनैः । मद्भावाच्च विमुच्यन्ते ज्ञानिनः पाशपञ्जरात् ॥ १.१३॥

अन्यत्र मल, कर्म, माया और रोधशक्ति को पाश कहा गया है । ज्ञानशक्ति व क्रियाशक्ति का आच्छादन करने वाला आत्माश्रित दोष मल है । कर्म धर्माधर्मात्मक है । जहाँ प्रपंच लीन होता है व जिससे व्यक्त होता है वह मायातत्त्व है । रोधशक्ति मल की सामर्थ्य का नाम है जिससे वह आवरण करता है । इस विषय को अनुभूतिप्रकाश में (१२.३०-३३) यों संग्रहीत किया है–

पाशाश्चतुर्विधाः शैवशास्त्रेषु प्रतिपादिताः । मलो माया कर्म तत्त्वतिरोधानं च ते मता ॥
मलो ज्ञानक्रियाशक्त्याच्छादको दोष इष्यते । रागादिहेतुर्मायोक्ता कर्म पुण्यं च पातकम् ॥
मूढैस्तत्त्वतिरोधानं सर्वैरप्यनुभूयते । इत्यादि ।

काश्मीर शैव आणवादि भेद वाले त्रिविध मलों से बंधन मानते हैं । मल हैं अज्ञानमूलक ही । सोमानन्दनाथ ने शिवदृष्टि में (१.४१) कहा है 'स्वशिवत्त्वमिवाजानन् पश्वात्मव्यपदेशतः' । उत्पलदेव ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में (३.२.४-५) मलों को बताया है–

स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता । द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥
भिन्नवेद्यप्रथाऽत्रैव मायाख्यं जन्मभोगदम् । कर्तर्यबोधे कार्मं तु मायाशक्त्यैव तत्त्रयम् ॥

स्वस्वरूप को न समझ स्वयं को संकुचित-परिच्छिन्न-समझना आणवमल है । भिन्नता का ज्ञान ही मायीय मल है । यद्यपि मायाकार्य होने से तीनों मायीय हैं तथापि इसकी यह संज्ञा रख दी गयी है । कार्म मल धर्माधर्मरूप है । संसरण का मुख्य हेतु यही है–'तत्रापि कार्ममेवैकं मुख्यं संसारकारणम्' (वहीं श्लो. १०) । इन सभी तरहों से समझाये पाशों के विमोचक महादेव ही हैं । शिव ही बाँधने वाले होने से वे ही उनसे छुड़ाने वाले हैं । वायुसंहिता उत्तरखण्ड में कहा है–

मलमायादिभिः पाशैः स बध्नाति पशून् पतिः ॥ स एव मोचकस्तेषां भक्त्या सम्यगुपासितः ।
चतुर्विंशतितत्त्वानि माया कर्म गुणा अमी ॥ विषया इति कथ्यन्ते पाशा जीवनिबन्धनाः ।
२.१२-१४।

अथवा पाश का संक्षिप्त वर्णन करते हुए वायुसंहिता पूर्वखण्ड में (५.१३-२०) माया को ही पाश बता दिया है–

अक्षरं पशुरित्युक्तःक्षरं पाश उदाहृतः । क्षराक्षरपरं यत्तत्पतिरित्यभिधीयते ॥
"प्रकृतिः क्षरमित्युक्तम्" । "माया प्रकृतिरुद्दिष्टा" । "माया माहेश्वरी शक्तिः ॥

मुखतः ही शिव को पशुओं के पाश का विमोचक वहीं (६.२) कहा है–

अस्ति कश्चिदपर्यन्तरमणीयगुणाश्रयः । पतिं विंश्वस्य निर्माता पशुपाशविमोचनः ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यद्यपि 'स बध्नाति' कहा है तथापि उसका अर्थ इतना ही है कि मल नैसर्गिक होने पर भी शिव से सत्तान्वित होने से शिव बन्धक माने जा सकते हैं । अतः शिव क्यों पशुओं को दुःखी करते हैं यह प्रश्न उठता नहीं, दुःख तो हमें अपने स्वाभाविक मल रूप से प्राप्त है । शिव तो संसारवैद्य होने से उसके निवर्तक हैं, पाशविमोचक हैं । यह प्रसंग भी वायुसंहिता पूर्वखण्ड में (३१.८२–९०) स्पष्ट किया है–

"'कथं दुःखं करोतीति नात्र कार्या विचारणा ॥ "'एवं स्वभावमलिनान् स्वभावाद् दुःखिनः पशून् ।
स्वाज्ञौषधविधानेन दुःखान्मोचयते शिवः ॥ "'दुःखे स्वभावसंसिद्धे कथं तत्कारणं शिवः।
स्वाभाविको मलः पुंसा स हि संसारयत्यमून् ॥ संसारकारणं यत्तु मलं मायाद्यचेतनम् ।
तत् स्वयं न प्रवर्तेत शिवसान्निध्यमन्तरा ॥ न निवर्तयितुं शक्यं सान्निध्यं सदकारणम् ।

और ज्ञान देकर ही शिव पाशों का विमोचन करते हैं–

अस्य रोगस्य भैषज्यं ज्ञानमेव न चापरम् । भिषगाज्ञापकः शंभुः शिवः परमकारणम् ॥
(वहीं श्लो. ८१) ॥

अतएव अभिनवगुप्तपाद ने विमर्शिनी में (४.१.११) स्पष्ट ज्ञान से मोक्ष का प्रतिपादन किया है–

'सोऽयं सर्गो यदा विकल्पहानक्रमेण तस्मिन्निर्विकल्पकपरिगृहीत एव स्पष्टाभेऽर्थे एकाग्रत्त्वमवलम्ब्य अहमिदमित्यैश्वर्यपरामर्शपदं भवति, तदा अन्तर्लक्ष्यबहिर्दृष्टिनिमेषोन्मेषपरिहारोपदेशदिशा क्रमेणाभ्यासतारतम्येन पशोः पशुत्त्वं प्रतिहन्ति ईश्वरत्त्वं च दर्शयति ।'

स्वकीय शिवरूपता का दृढ़ परामर्श सद्योमोक्ष का प्रयोजक है–

'"'दार्ढ्येन यदा परामृशति तर्हि तत्परामर्शमात्रादेव तावज्जीवन्मुक्तो भगवान् शिव एव । यथोक्तं (शिवदृ. ७. ६) परमेष्ठिपादैः–

ज्ञाते शिवत्त्वे सर्वस्थे प्रतिपत्त्या दृढात्मना । करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयापि वा ॥'
(वहीं ४.१.१६) ।

इस प्रकार ज्ञात होकर शिव पाशविमोचक हैं । अथवा 'ददामि बुद्धियोगं तम्' (गी. १०.१०)–इस प्रतिज्ञा के अनुसार वे अपने भक्तों को ज्ञानयोग्य बनाकर मुक्त करने वाले होने से पाशविमोचक हैं । इसी शिवग्रहसमर्थ बुद्धि की प्राप्ति के लिये द्विजों की नित्य प्रार्थना है 'धियो यो नः प्रचोदयात्' (शु.य.मा.सं.३.३५) और औपनिषदों का विश्वास है 'स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु' (श्वे. ४.१) ।

अथवा स्वयं पाशरहित होने से शिव पाशविमोचन हैं । वायुसंहिता उत्तरखण्ड में (अध्य. ६) विस्तार से शिव की पाशरहितता कही है–

न शिवस्याणवो बन्धः कार्यो मायेय एव वा । प्राकृतो वाथ बोद्धा वा ह्यहङ्कारात्मकस्तथा ॥
नैवास्य मानसो बन्धो न चैत्तो नेन्द्रियात्मकः । न च तन्मात्रबन्धोऽपि भूतबन्धो न कश्चन ॥
श्लो १-२ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इत्यादि । पूर्वखण्ड में (५.१४) भी 'क्षराक्षरपरं यत्तत्पतिः' से भी यह कहा है ।

विभिन्न मतों से पाशों को सूचित करते हुए 'पाशविमोचक' नाम का अर्थ भास्करराय स्पष्ट करते हैं । इन्हें 'पाशविमोचन' नाम अभिमत प्रतीत नहीं होता, एवमपि 'पाशेभ्यो विमोचयतीति पाशविमोचकः' और 'पाशानां विमोचनं यस्मात्स पाशविमोचनः' इस प्रकार दोनों शब्दों का एक ही तात्पर्य है–

अभिमतिगुणपञ्चपरुर्दश–त्रिचतुरयुतविंशतिपाशतः ।
शिव! पदभजनेन विमोचयन् पशुगणमिति पाशविमोचकः ॥ ९६ ॥

हे शिव ! अपने चरणों की सेवा को निमित्त कर आप पशुसमूह को अभिमान रूप पाश से, गुण रूप पाश से, पाँच पर्व वाली अविद्यारूप पाश से, दस इन्द्रियाँ रूप पाशों से, तेईस व चौवीस पाशों से छुड़ा देते हैं इससे आप पाशविमोचक हैं ।

कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि अहंकार ही अभिमानरूप पाश है ऐसा कुछेक का मत है । सत्त्व आदि तीन गुण पाश हैं ऐसा अन्य कहते हैं । सत्त्व भी बन्धन करता है यह गीता में (१४.६) कहा ही है–

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् । सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चाऽनघ ! ॥

भाष्यानुसारी इस बन्धन का स्वरूप है क्षेत्रधर्म की क्षेत्रज्ञ में प्रतीति होना है । रजोगुण तो तृष्णा व आसक्ति को उत्पन्न करते हुए कर्मसंग से बाँधता है । प्रमाद, आलस्य और निद्रा से तमोगुण बंधन करता है । अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये अविद्या के पाँच पर्व प्रसिद्ध हैं । 'ग्रन्थिर्ना पर्वपरुषी' (अमर.) आदि कोष से 'परुष्' पर्व का ही पर्याय है । अनित्य, अशुद्ध, दुःख व अनात्मा को नित्य, शुद्ध, सुख व आत्मा समझना अविद्या है । बुद्धि को निज स्वरूप समझ लेना अस्मिता है । सामान्यतः अहंबुद्धि अविद्या, व विशेषतः ' मैं समर्थ हूँ' आदि निश्चय अस्मिता है । सुख व उसके साधन की तृष्णा राग है । दुःख व उसके साधनों पर क्रोध द्वेष है । 'मैं कभी मरूँ नहीं' ऐसी इच्छा बने रहना अर्थात् मरने से होने वाला त्रास ही अभिनिवेश है । अविद्या के कारण अस्मिता, उसके कारण राग इत्यादि क्रम होने ही इन्हें पर्व कहते हैं । ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय भेद से दस इन्द्रियाँ प्रसिद्ध हैं । त्रयश्चत्वारो वा त्रिचतुरास्तैर्युता विंशतिः–यह विग्रह है । पाँच तन्मात्रायें, पाँच महाभूत, दस इंद्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार–ये तेईस पाश माने गये हैं । औरों ने चौबीस तत्त्वों को पाश माना है । प्रकृति, महान्, अहंकार, पाँच तन्मात्रायें, पाँच महाभूत और मन को मिलाकर ग्यारह इन्द्रियाँ–ये चौबीस सांख्यसंमत तत्त्व हैं । व्यष्टि में बुद्धि ही समष्टि में महान् है । चाहे जो पाश हों, शिव उनसे छुड़ा ही देते हैं । इसमें वे हमारे द्वारा की गयी उनकी सेवा को बहाना मात्र बना लेते हैं । वस्तुतः तो अहैतुकी करुणा से ही वे पाशविमोचक हैं यह रहस्य है । हमें हीनभावना न हो इसलिये वे हमारे आयास को मानो सफल करते हुए पाशों का बंधन हटाते हैं । मोक्ष तो शिवकृपा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का ही फल है । सूतसंहिता में (४.२४.४७) कहा है–

शिवप्रसादेन विना न भुक्तयः शिवप्रसादेन विना न मुक्तयः ।
शिवप्रसादेन विना न देवताः शिवप्रसादेन हि सर्वमास्तिका : ॥

श्वेताश्वतर भी अन्त में पराभक्ति की वस्तुप्रकाश के प्रति अनिवार्यता बताती है (श्वे. ६.२३) ।

प्रयुक्त छन्द का नाम है उज्ज्वला । 'ननभरसहिताऽभिहितोज्ज्वला'–प्रतिपाद क्रमशः दो नगण, एक भगण व रगण वाला छंद उज्ज्वला नाम से कहा जाता है ।

(९१) मृडः –सुखरूप हैं । प्रपंचोपशम होने से वे आनन्दरूप हैं । विषयानन्द में भी शिव का ही सोपाधिक स्फुरण है । अपने भक्तों को वे वैराग्य होने पर निरुपाधिक सुख तथा रागी होने पर विषंयरूप उपाधि से सुख देते हैं ।

पाशविमोचन से मोक्षसुख होना निश्चित है । इसके लिए किसी साधन की ज़रूरत नहीं, यह स्वप्रकाशार्थक देव शब्द से अनुपद कहा जायेगा । जैसे तालाब से पानी ही मिल सकता है, आग नहीं, वैसे ही आनन्दघन शिव से आनन्द ही मिल सकता है, दुःख नहीं । पारस पर द्वेष से भी पड़ा लोहा सोना ही बनता है । शिव से द्वेष के कारण भी सम्बन्ध होने से आनन्द ही मिलता है । चाहे जिस बहाने शिवनाम लिया जाये वह परमगति का प्रयोजक बनता है–

आश्चर्ये वा भये शोके क्षुते वा मम नाम यः। व्याजेन वा स्मरेद्यस्तु स याति
परमांगतिम् ॥ (शिवगी. १६.१७) ॥

मृड का वैशिष्ट्य है कि ज्ञात, अज्ञात व अन्यथाज्ञात–तीनों अवस्थाओं में वे सुखी करते हैं । ज्ञातशिव मोक्षसुखरूप होने से मृड हैं । सुषुप्ति में अज्ञात शिव सुखरूप से स्थित होने से मृड हैं । विषयभोग काल में अन्यथाज्ञात शिव वैषयिक सुख देने से मृड हैं ।

भट्ट जगद्धर मृड से प्रार्थना करते हैं–

त्राता भीतिभृतां पतिश्चिदचितां क्लेशं सतां शंसतां
हन्ता भक्तिमतां मतां स्वसमतां कर्ताऽपकर्ताऽसताम् ।
देवः सेवकभुक्तिमुक्तिघटनाभू र्भूर्भूवःस्वस्त्रयी-
निर्माणस्थितिसंहृतिप्रकटितक्रीडो मृडः पातु वः ॥स्तु. कु. ३.५१॥

अर्थात् भयभीतों के रक्षक, जड़-चेतन के स्वामी, स्तुति करने वाले सत्पुरुषों के क्लेश-हन्ता, भक्तों को इष्ट सायुज्य देने वाले, दुष्टों का निवारण करने वाले, सेवकों को भोग-मोक्ष-प्रदाता, त्रिलोकी के जन्म-स्थिति-भंग से जिसकी क्रीडा प्रकट होती है वह जगत् के समस्त हर्ष का एक मात्र स्वप्रकाश पुंज–महादेव, मृड आपकी रक्षा करे ।

आलवाल की व्याख्या है–

पूर्णाहुत्त्या त्वयि सुहिते यज्ञे पूर्णे सति सुहिते ।
यष्ट्रून् ध्यातॄनपि सुखय-स्यार्यानितस्तदसि मृडः ॥९७॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हे आर्यापति ! शुभ-हितकारी यज्ञ पूर्ण होने पर पूर्णाहुति से आपके तृप्त हो जाने पर यजमानों को, व ध्यानकर्ताओं को आप ही सुखी बनाते हैं अतः आप मृड हैं ।

मृड सुखने (तु. प. से.) से कर्तार्थ में कप्रत्यय (३.१.१३५) हो मृड शब्द बनता है, अतः इसका स्पष्टार्थ है–सुखी करने वाला । प्रसिद्ध है कि पुण्य से सुख होता है । किन्तु पुण्य जड होने से स्वयं सुख दे नहीं सकता । अतः पुण्य से प्रसन्न हो शिव ही सुख देते हैं । अतएव भगवान् बादरायण ने सूत्र बनाया है 'फलमत उपपत्ते :' (३.२.२८)– परमेश्वर से ही कर्मफल मिलता है क्योंकि यही संगत है । कर्म तो फलकाल तक बना न रहने से फलप्रदाता नहीं, और प्रमाणशून्य अपूर्व जड होने से फल देने वाला नहीं । अपूर्व तो मीमांसक इसी से सिद्ध करते हैं कि शास्त्र ने कर्म का फल बताया है जिसे संभव बनाने के लिए फलकाल तक बना रहने वाला कुछ मानना होगा, वही अपूर्व है । किन्तु ईश्वर से ही जब यह संभव हो जाता है कि वे कर्म को जानते हैं और फलकाल में वे ही फलप्रदाता बन जाते हैं, तो अपूर्व मानने का प्रसंग ही नहीं उठता । इससे गीता का वचन भी संगत है 'लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हितान्' (७.२१) । यह प्रश्न नहीं करना चाहिये कि नित्य ईश्वर की अनित्य फलदित्सा असंभव है, क्योंकि वेदान्त में अविद्योपाधि से ईश्वर का प्रतिजीव विभिन्न अनित्य अनुग्रह भी स्वीकार्य है, जैसाकि कल्पतरु में (३.२.४१) कहा है 'अविद्योपाधिवशादीश्वरस्याऽनित्यः कर्मसाध्यश्चानुग्रहोऽस्ति'। बृहदारण्यकभाष्य में (३.८.९) भी अपूर्व का इसी प्रकार निराकरण किया है 'अपूर्वमिति चेन्न तत्सद्भावे प्रमाणानुपपत्तेः । ..... । सेवाफलस्य सेव्यात्प्राप्तिदर्शनात् ।' अतएव न्यायरत्नावली में स्पष्ट किया है कि विहित क्रिया से ईश्वर प्रसन्न होते हैं, निषिद्ध से कुपित होते हैं और तदनुसार फल देते हैं । 'बादरायणेन विहितनिषिद्धयोरीश्वरं-प्रसादकोपजनकत्वोक्तेः..... विहितक्रियामात्रस्येश्वरप्रसादजनकत्वाद्, ईश्वरप्रसादस्यैव पुण्यरूपत्वस्य बादरायणसम्मतत्वात् ।' (श्लो ८, पृ. ३१५) । इस सारे शास्त्रार्थ का विचार कर पुष्पदन्ताचार्य ने कहा (महिम्न. २०) है–

क्रतौ सुप्ते जाग्रत्त्वमसि फलयोगे क्रतुमतां क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते ।
अतस्त्वां सम्प्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं श्रुतौ श्रद्धां बद्ध्वा दृढपरिकरः कर्मसु जनः ॥

जैसे बाह्य कर्म शिव की तृप्ति कर सफल होता है वैसे ही ध्यानादि आन्तर कर्म भी उन्हें प्रसन्न करने से ही फल वाला है । अतएव शास्त्रोक्त उपासनायें ही कर्तव्य हैं । कुछ विचारक आजकल मानते हैं कि ध्यान आदि केवल एकाग्रता फलक हैं अतः भगवच्चिन्तन ही करें यह आवश्यक नहीं, किसी प्रिय पेय का भी नाम लेते हुए उसकी अर्थभावना भी पर्याप्त है । किन्तु ऐसी बातें यह न समझने से ही होती हैं कि ध्यान आदि से शिव को प्रसन्न करना ही उद्देश्य है । अतः शास्त्रोक्त नाम जपादि करते हुए ध्यानादि करना ही उचित है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पारन्ती छन्द है। 'पारन्ती वै मभसगणैः' —प्रतिपाद मगण, भगण और सगण होने से पारन्ती छन्द होता है।

(९२) पशुपतिः —जीवरूप पशुओं के मालिक व पालक। शंकर के लिये दुपाये, चौपाये, छहपायों में फरक नहीं। भाव है कि वेद में मनुष्य को कर्माधिकारी बताया, अतः पाप-पुण्य का इसी योनि में विचार है, अन्य केवल भोगयोनियाँ हैं। इसमें कारण मनुष्य में बुद्धितत्त्व का विकास है। स्मृतियों में शूद्रों को भी पशुवत् ही माना क्योंकि उनमें बुद्धितत्त्व का विकास देखने में नहीं आता। पुराणों में आर्यावर्त से अन्यत्र सर्वत्र कर्मभूमि नहीं मानी क्योंकि वहां भी बुद्धितत्त्व का विकास नहीं देखा। अतः मनुष्य का लक्षण दो पैरों वाला जन्तुविशेष शास्त्रों में स्वीकृत नहीं है, यह स्पष्ट है। बुद्धि का विकास ही लक्षण है। जहाँ बुद्धि का विकास नहीं वहाँ धर्म या कर्म का अनधिकार ही मानना होगा एवं वह भोगयोनि होने से धर्म-अधर्म का प्रश्न नहीं उठा सकते। शंकर को तो सर्वत्र बुद्धि का विकास न लगने से वे सभी को पशु की तरह धर्म या कर्म का अधिकारी नहीं मानते। यदि बुद्धि का विकास होता तो क्यों धर्म में ही प्रवृत्ति नहीं करता ?—यह उनका भाव है। पिता को पचास वर्षीय व लाखों रुपये कमाने वाला पुत्र भी पाँच वर्ष के बालक सा निर्बुद्धि लगता है, यह लोकसिद्ध है। अतः सदा शुद्ध कर्म करने वाले ही मनुष्य हैं ऐसा शिव को लगता है। ब्रह्माकारवृत्ति में ही नित्यरमण करना वह कर्म है। यों निमेषार्ध भी ब्रह्मज्ञान रहित अवस्था में न रहने वाला तो शिव-स्वरूप होने से शिव ही है। अतः शिव के लिए बड़े से बड़े देव, ऋषि आदि भी बालक होने से पशु ही हैं। प्रश्न हो सकता है कि तब किसी को भी कर्म का फल नहीं मिलना चाहिये। उत्तर है कि शिव तो देना नहीं चाहते पर जीव जबरदस्ती अपने को कर्माधिकारी मान कर्ता बन बैठता है, और स्वयं को फलाधिकारी मान भोक्ता बन जाता है। जैसे पुत्र बड़ा होने पर पिता को बालक लगने पर भी ज़बरदस्ती अपना अधिकार माँग कर सुख-दुख भोगता है। कर्तृत्व-भोक्तृत्व भाव को छोड़कर अपने को बालक की तरह रखे तो शिव कभी भी कर्मफल न दें। वस्तुतः इन भावों को छोड़ने पर पहले किये कर्मों को भी वे क्षमा कर देते हैं यह वेद सिद्धान्त है। बालक में, 'मैं पिता से भिन्न सत्ता रखता हूँ' यह भाव ही अधिकार का आपादन कराता है। ऐसे ही शिव से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता मानना रूप द्वैतधी ही कर्तृत्व लाती है। पशु को भी भक्ति व ज्ञान का अधिकार है ही। अतः शैव सभी पशुओं को—अर्थात् जीवों को—एक जैसा अधिकारी मानते हैं। विवेक वैराग्यादि से सम्पन्न हो तो ज्ञान प्राप्त करे, नहीं तो शिवभक्ति करे; यह सामान्य साधना प्राणिमात्र का रक्षण व पालन करने में समर्थ है। शिवभक्ति ज्ञान का अधिकार प्राप्त करायेगी ऐसा निश्चय है। वस्तुतः वेदाधिकारी वर्णाश्रमाभिमानी यदि शैव होता है तो वह उन सभी कर्मों का शिव की आज्ञाकारितारूप भक्ति की दृष्टि से ही अनुष्ठान करता है, स्वयं को कर्माधिकारी या विकसित बुद्धि वाला मानकर नहीं। और यदि शैव वेद का अनधिकारी होता है तो भी कर्माधिकार प्राप्त करने की उसे कोई इच्छा न होने से न तो वह जन्मान्तर में ही ब्राह्मणादि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बनने की इच्छा करता है और न इस जन्म में ही शिवाज्ञा का विरोध कर अनधिकार चेष्टा करता है। वह आगमों में प्रोक्त शिवाज्ञा का पालनरूप भक्ति करता है। कुछ न जानने पर वह सभी प्राणियों में स्थित शिव को प्रसन्न करने का प्रयत्न कर शिवभक्ति करता है। विवेक, वैराग्यादि से सम्पन्न होकर वह ब्रह्माकार वृत्ति से अपना सर्वस्व समर्पणरूप भक्ति करता है। इस प्रकार शैव धर्म अत्यन्त व्यापक, प्राणिमात्र के लिए उपादेय, सारे भेदभावों से रहित, विश्व के चराचर अनन्त ब्रह्माण्डों के सभी पशुओं के लिए एक जैसा है। यह भाव पशुपति नाम से प्रकट है। जो अपने को कर्ता-भोक्ता मानने पर तुले हों एवं अपनी बुद्धि से अपने को बड़ा या प्रौढ मानने के कारण पशुभाव का स्वीकार न कर सकें, वे इसके अधिकारी नहीं। पशु जैसे अपने सभी भोजनादि को अपने पालक से पाता है, वैसे ही शैव अपनी सभी आवश्यकतायें शिव से पाता है। जैसे अपने मालिक के सामने भूख-प्यास लगने पर पशु चिल्लाता है वैसे यहाँ सभी कुछ शिव से माँगा जाता है। वे परम करुणामूर्ति सभी कुछ दे देते हैं यह अनुभवसिद्ध है। तभी पशुपति हैं।

महाभारत में (द्रो. १०२.१२२) बताया है कि क्यों पशुपति शब्द शिव का द्योतक है–

सर्वथा यत् पशून् पाति तैश्च यद्रमते पुनः। तेषामधिपति र्यच्च तस्मात्पशुपतिः स्मृतः॥

जाबाल्युपनिषत् में अहंकार वाले जीव को पशु कहकर पंचकृत्य वाले सर्वेश्वर को पशुपति कहा है–

'अहंकारविष्टः संसारी जीवः स एव पशुः। सर्वज्ञः पंचकृत्यसंपन्नः सर्वेश्वर ईशः पशुपतिः।'

पशुपतिरूप से भगवान् पशु के पालन के लिए सदा उसके संनिहित रहते हैं यह शतरुद्रसंहिता से (२.९) सिद्ध है–

सर्वात्मनामधिष्ठानं सर्वक्षेत्रनिवासकम्। रूपं पशुपते र्ज्ञेयं पशुपाशनिकृन्तनम्॥

पूर्वत्र कहा था कि पतित्व की आवश्यकता इस नाम से कही है। पशु को ही अपने पालन के लिए पति की ज़रूरत होती है। बँधा व्यक्ति कोशिश कर भी कुछ विशेष प्राप्ति कर नहीं सकता। हम सभी की पाशबद्धता गीता ने कह ही दी है 'आशापाशशतैर्बद्धाः' (१६.१२)। अतः हमें इसकी आवश्यकता है कि हमारा कोई पालक हो। किं च पाश-बद्ध ही पशु होना चाहिये, अतः हमारी पशुता के लिए पाश बाँधने-खोलने वाला पति अनिवार्य है। अतः शिवानन्दलहरी में (श्लो. ५) कहा कि पशु होने से रक्षणीय की शिव रक्षा करे, 'पशुं मां सर्वज्ञ! प्रथितकृपया पालय, विभो!' इस पाशबद्ध अवस्था की दीनता आत्मार्पणस्तुति में (श्लो. ९) अप्पय दीक्षित ने प्रकट की है। 'पशूनां पतये नमः' (तै.रुद्र. २.२), 'शर्वाय च पशुपतये च' (तै. रुद्र. ५.२) आदि श्रुतियों में यह नाम प्रसिद्ध है। पाशविमोचकता के विचार में जो शिवपुराण के स्थल सूचित हैं उनमें पशुपति के स्वरूप का विस्तार देखना चाहिये। पशुओं को बाँधने के लिए तो शिव को उनका पति बनना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रुचिकर नहीं, किन्तु बन्धन खोलने के लिये उन्हें अपनी कृपा के परवश ही पति बनना पड़ा, जैसा कि ब्रह्मतर्कस्तव में (श्लो. २९) दीक्षितेन्द्र कहते हैं—

शक्नोति नैव पशुपाशपतीन् विवेक्तुं मुक्तः कथं भवति मोहित एव लोकः ।
इत्याकलय्य भगवन् ! यदि वा वरेण स्पष्टीचकर्थ तदिदं किमु दूषणाय ॥

पशुपति के उपासक कभी पथभ्रंश से भय नहीं खाते क्योंकि पशु ग़लत रास्ते जाये तो भी मालिक उसे किसी तरह रास्ते लाकर घर पहुँचा ही देता है । नीलकण्ठ दीक्षित ने कहा है कि राजा का कोई जानवर अगर भटक कर किसी के घर पहुँच भी जाये तो उस पर उस घर वाले की मिलकियत नहीं हो जाती, वह तो राजा का ही पशु रहता है—

मौढ्यादहं शरणयामि सुरान्तरं चेत् किन्तावता स्वमपि तस्य भवामि मातः ! ।
अज्ञानतः परगृहं प्रविशन् परस्य स्वत्त्वं प्रयास्यति पशुः किमु राजकीयः ॥
आनन्दसा. ४४ ॥

शिव भी समझा-बुझाकर व आवश्यक होने पर दण्डित करके भी अपने पशुओं को सन्मार्ग पर ले जाते हैं । पुराणों में यह प्रसंग भी विस्तार से स्थान-स्थान पर आया है । औपनिषद दृष्टि से भेदबुद्धि वाले ही पशु हैं 'योऽन्यां देवतामुपास्ते—अन्योऽसावन्योऽहमस्मी—ति, न स वेद; यथा पशुरेवं स देवानाम्' (बृ. १.४.१०) । इस स्थिति वाले हम जीवपशुओं को देवता संसारकोल्हू में— जगद्-रेहट में—जोते रखते हैं । शिव अपनी अकारण कृपा से हमें अपनाकर—हमारे पति बनकर—हमें देवताओं की अनादि दासता से—बंधुआ मज़दूरी से—छुड़ा देते हैं । गुरुमूर्ति से आकर आत्मैक्य का उपदेश ही शिव का पशुपतित्त्व है । विचार करें तो शिवाभेदबोध का कोई साधन संभव नहीं । जड़ शब्द में अचिन्त्य शक्ति मानना भी क्लिष्ट कल्पना है । यह तो गुरुरूप शिव का चमत्कार ही है कि असंभव संभव हो जाता है । इससे यह आगमवचन गतार्थ हो गया—

परिपक्वमला ये तान् उत्सादनहेतुशक्तिपातेन ।
योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाचार्यमूर्तिस्थः ॥

विवेकचूडामणि में (५१८) भी गुरुकृपा की ही मोक्षहेतुता बतायी है—

स्वाराज्य-साम्राज्य-विभूतिरेषा भवत्कृपाश्रीमहिमप्रसादात् ।
प्राप्ता मया श्रीगुरवे महात्मने नमो नमस्तेऽस्तु पुनर्नमोऽस्तु ॥

यही बात सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह में कही है (९३२)—

त्वत्कटाक्षवरचान्द्रचन्द्रिका-पातधूतभवतापजः श्रमः ।
प्राप्तवानहमखण्डवैभवा-नन्दमात्मपदमक्षयं क्षणात् ॥

अतएव सर्वज्ञमुनि ने कहा है कि शास्त्रादि तो अनादि काल से थे ही, वे कहाँ बन्धमोक्ष करा पाये । यह तो गुरु के चरणों का सहारा ही है जिसने दुःख का आत्यन्तिक उच्छेद कर दिया—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

·····किमिमाः श्रुतयो न पूर्वं येन द्वितीयमभवत्तिमिरप्रसूतम् ॥
त्वत्पादपङ्कजसमाश्रयणं विना मे सन्नाप्यसन्निव परः पुरुषः पुरासीत् ।
त्वत्पादपद्मयुगलाश्रयणादिदानीं नासीन्न चास्ति न भविष्यति भेदबुद्धिः ॥
सं. शा. ४.५७-५८ ॥

ऋभु-निदाघ आदि की कथायें भी पशु के भटकने पर उसे रास्ते लाने वाले पतिरूप को गुरु में प्रदर्शित करती हैं । एवं च प्रत्यक्षसिद्ध गुरुरूप पशुपति की सेवादि ही पाशुपत उपासना है । अथवा हेमाद्रि में (२.१९७-२१२; २.४५५-४५७) विहित पाशुपतव्रत करना पशुपति की सेवा है । शिवपुराण की वायुसंहिता में (अध्य. ३३) भी पाशुपतव्रत का विस्तार से विधान बताया है । अथवा स्वयं को शिवपशु मानते हुए सदा उनकी आज्ञा में रहना और अपनी सब चेष्टाओं से उन्हें प्रसन्न करने का प्रयास पशुपति की पूजा है । जैसे भोजन स्वयं के लिये बनायें या महादेव को नैवेद्य चढाने के लिये, खाना तो स्वयं है ही । यदि शिव को अर्पित करने के लिये बनाकर प्रसाददृष्टि से खायें तो पशुपति की पूजा है । ऐसे ही शिवभक्तों की सेवा, मंदिरों की सफायी आदि उद्‌देश्यों से पैसा कमायेंगे तब भी कमाये धन का स्वयं पर कुछ खर्च होना ही है, पर उन उद्देश्यों को यथाशक्ति पूरा करते हुए स्वयं पर बचा धन विनियुक्त करें तो पशुपति की सेवा है । अल्प से अल्प भी शिवपूजा में अत्यधिक है, किंतु स्वसामर्थ्य से ही अल्पता का निर्णय होता है । अंतः हम कम ही कर सकते हैं तो न ही करें–यह उपासना न करने वाले का ही विचार है । धन से न कर पाने पर स्वयं मंदिरों की सफाई अवकाश आदि के दिनों में कर सकते हैं । अतः शिवसेवा के साधन स्वकीय जीवन में ढूँढ़कर उनका उपयोग करना ही चाहिये, यह पशुपति की उपासना है ।

भास्करीय अर्थ है–

ख्यातं तन्त्रेषु पाशः पशुरथ पतिरित्येतत्त्रयमपि
त्वद्रूपं नाथ ! जीवान् नियमयसि नुतो मुक्तांश्च कुरुषे ।
ग्राम्यारण्याधिपत्यं वहसि च यजमानात्माभिमतिमान्
भक्तान् नेपालपीठे रमयसि निवसन्नासीः पशुपतिः ॥९८॥

हे नाथ ! तन्त्रों में प्रसिद्ध है कि पशु, पाश और पति ये तीनों आपका ही स्वरूप है अतः आप पशुपति हैं । आप जीवों को नियमित रखते हैं और स्तुत होकर उन्हें मुक्त भी कर देते हैं इसलिये पशुपति हैं । ग्राम्य और वन्य पशुओं पर शासकत्व स्वयं में रखने से आप पशुपति हैं । यजमान आत्मा के अभिमानी हुए हुए भी आप पशुपति हैं । नेपालपीठ में इस रूप से आप भक्तों को आनन्दित करते हैं अतः पशुपति हैं ।

प्रथम अर्थ में पशुशब्द पाश का भी उपलक्षक है और पशुश्चासौ पतिश्च यों कर्मधारय समास है । सर्वरूप शिव के ही तीनों रूप हैं यह भाव है । द्वितीय तो तत्पुरुष

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मानकर प्रसिद्ध अर्थ है । तृतीय अर्थ में लोकरूढि की अपेक्षा से वही अर्थ है । इसमें हरिवंश (विष्णु. ७४.२३) प्रमाण है–

ग्राम्यारण्यानां त्वं पतिस्त्वं पशूनां ख्यातो देवः पशुपतिःसर्वकर्मा ।
नान्यस्त्वत्तः परमो देवदेव! जगत्पतिः सुरवीरारिहन्ता ॥

चतुर्थ अर्थ में यजमानमूर्ति का पशुपति नाम होने से तदभिमानी अर्थ है । यजमान व आत्मा में अभेदान्वय है । पंचम अर्थ में नेपालदेश में काष्ठमण्डप (काठमाँडू) नामक स्थान पर बागमती नदी के किनारे स्थित शिव का नाम स्मृत है । यहाँ पञ्चमुखी शिवलिंग है । शिव के जिस महिषरूप का धड़ केदारनाथ में है उसका शिरोभाग पशुपतिनाथ है ।

सुवदना वृत्त है । 'ज्ञेया सप्ताश्वषड्भिर्मरभनययुता भ्लो गः सुवदना'–मगण, रगण, भगण, नगण, यगण, भगण, लघु व गुरु वर्णों वाला और सातवें, चौदहवें व बीसवें अक्षरों पर यति वाला छंद सुवदना समझा जाता है ।

(९३) देवः –सूर्य, चन्द्र आदिरूप से जड़ प्रकाशक हैं, एवं जीवरूप से चेतन प्रकाशक हैं । अथवा प्रत्येक ज्ञान ही प्रकाशक होने से देव है । घटज्ञान, पटज्ञान आदि ही घटदेव, पटदेव हैं । इसी से वैदिक अनन्त देव स्वीकारता है, जो वस्तुतः एक देव के (ज्ञानके) ही अनन्त रूप हैं । रुद्र, ईश्वरी, विष्णु आदि देवों के रूप में होने से वे देव हैं ऐसा उपासक मत है ।

'चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति' (केन. १), 'एष ह देवः...यो देवोऽग्नौ' (श्वे. २.१५-१६) आदि श्रुतियाँ देव शब्द से परमेश्वर को अभिहित करती हैं । वे ही सर्वदेवरूप हैं यह भी श्रुतियों में कहा है 'एष उ ह्येव सर्वे देवाः' (बृ.१.४.६), 'यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः' (श्वे. ४.८) इत्यादि । शिव ही देवरूप से श्रुतिसिद्ध हैं यह आत्मार्पणस्तुति में (३) भी व्यक्त किया है–

इन्द्रं मित्रं वरुणमनिलं पद्मजं विष्णुमीशं प्राहुस्तेते परमशिव ! ते मायया मोहितास्त्वाम् ।
एतैः सार्धं सकलमपि यच्छक्तिलेशे समाप्तं स त्वं देवः श्रुतिषु विदितः शम्भुरित्यादिदेवः ॥

धात्वर्थ का विचार करने पर भी हर तरह से देवशब्द शिवार्थक प्रतीत होता है । प्रपंच क्रीड़ा करते हुए शिव ही उसमें विजयी हैं । व्यवहार चाहे क्रय-विक्रयात्मक हो चाहे अन्य हो सब वे ही करते हैं । कान्तिमान् शिव हैं यह तो शिवशब्द का ही अर्थ है । सबसे स्तुत होने से भी वे देव हैं । आनन्दरूप होने से मोदात्मकता निःसन्दिग्ध है । अविद्यामद तदाश्रित, तद्विषक है यही वेदान्त सिद्धान्त है जिससे संसारस्वप्न शिव का ही है । ईक्षणादि श्रुतियाँ शिव की कान्तिशब्दित इच्छा को बताती हैं । समग्र गतियाँ, अवगतियाँ, शिव को होती हैं, शिवरूप हैं । ये ही प्रकृत धातु के प्रसिद्ध अर्थ हैं–दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु (सि. कौ.) । निरुक्तोक्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(७.४.१५) देवशब्दार्थ है 'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा' । सर्वप्रदाता होने से शिव देव हैं । सुर, असुर, मनुष्य व अन्य प्राणी सभी शिव से ही पाते हैं । अतः वे औघड़ दानी प्रसिद्ध हैं । तेजोमय होने से वे ही दीप्त होते हैं, बल्कि उनके पीछे ही अन्य सूर्यादि दीप्त हो पाते हैं । द्योतन भी दीपनार्थक ही है, धातुभेद मात्र है । अथवा सभी ज्ञानों में शिव ही द्योतित होते हैं यह अर्थ है । अज्ञात ही ज्ञात हो सकता है । अनात्मा अज्ञानंविकार होने से अज्ञानरूप है, अतः अज्ञात नहीं हो सकता, अत एव ज्ञात भी नहीं हो सकता । तत्तदुपाधिसे अवच्छिन्न शिव ही अज्ञात हैं और तत्तदुपाध्यवच्छिन्न शिव ही ज्ञात होते हैं यह परिष्कृत दार्शनिकों ने स्पष्ट किया है । संसार तो शिव के एक पाद में ही है, तीन पाद तो द्युस्थान में हैं; 'पादोस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छां. ३.१२.६) । विजिगीषा और व्यवहार अर्थ से देवशब्द शिवार्थक है ऐसा श्रीकृष्ण ने हरिवंश में (विष्णु. ७४.२६) स्पष्ट किया है–

यस्माज्जितैरभिषिक्तोऽसि सर्वै-र्देवासुरैः सर्वभूतैश्च देव ! ।
महेश्वरं विश्वकर्माणमाहु-स्त्वां वै सर्वे तेन देवातिदेवम् ॥

क्योंकि किसी को मुक्त करना शिव के लिये क्रीडामात्र है इसलिये जैमिनी महर्षि ने नारदीयपुराण में (उत्तर. ७३.१२६) वेदपादस्तोत्र में देवरूप से ही संसार दुःख से बचाने की प्रार्थना की है–

संसाराख्यक्रुद्धसर्पेण तीव्रं रागद्वेषोन्मादलोभादिदन्तैः ।
दष्टं दृष्टवा मां दयालुः पिनाकी देवस्त्राता त्रायतामप्रयुच्छन् ॥

प्रत्येक अनुभव में ज्ञानरूप शिव को पहचानने का प्रयास देव की उपासना है । अथवा शिव ही जीतें, हम नहीं, यह भाव रखना, अर्थात् अपनी इच्छा की पूर्ति की अपेक्षा शिवेच्छा पूर्ण होने देना व उत्साह से उसे ही पूर्ण करने का प्रयास करना देव की अर्चना है । शास्त्र व गुरु से शिवेच्छा पता चल जाती है । या शिव की स्तुतियाँ करना देव की आराधना है । अधिकारी श्रौत स्तुतियाँ व अन्य लोग पुराणोक्त व इतिहासोक्त स्तुतियों से अथवा अनन्त अन्य भक्तों द्वारा विरचित स्तुतियों से भगवान् की कीर्ति गा सकते हैं । सामर्थ्य हो तो स्वयं शिवस्तुति का निर्माण करना चाहिये । स्वरचित स्तुति का शिव के सम्मुख गान करने से वैदिकस्तुति के तुल्य फल होता है ऐसी परम्परा है । प्रयत्नपूर्वक अर्थज्ञान सहित स्तोत्रपाठ में प्रवृत्ति उचिततर है । अर्थबोध के बिना भी शक्त शब्दों की आवृत्ति तो अमोघ है ही । अशक्तं शब्दों से भी देवस्मरण तो होता ही है अतः वह भी उपादेय है ।

आलवाल में इसे यों समझाया है–

द्युतिमोदव्यवहारात् सुरजातिष्ववतारात् ।
शशिमौले ! जगतीना-मधिपत्यादपि देवः ॥९९॥

हे शशांकशेखर ! देदीप्यमान, आनन्दरूप व समस्त व्यवहार के आश्रय होने से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आप देव हैं। देव-जाति में आप ही अवतरित हैं अतः आप देव हैं। संसार के अधिपति होने से आप देव हैं।

प्रथम अर्थ धात्वर्थों की अपेक्षा से है। 'येनादित्यस्तपति तेजसा भ्राजसा च' (महाना.१.३) आदि श्रुतियाँ प्रमाण हैं। जीवरूप से मानवशरीर की तरह देवशरीरों में भी परमशिव का ही अवतरण होने से उस जातिविशेष में रूढ शब्द भी शिव को विषय कर सकता है यह द्वितीय अर्थ का अभिप्राय है। 'मेघे राज्ञि सुरे देवः' (त्रिकाण्ड.) आदि कोष से राजार्थक मानकर तृतीय व्याख्या है।

छन्द है मोद। 'सभगा गो यदि मोदः'—यदि प्रतिपाद क्रमशः सगण, भगण और दो गुरु वर्ण हों तो मोद छन्द होता है।

(१४) **महादेवः** —सभी प्रकाशकों के अन्तिम प्रकाशक होने से वे महादेव हैं। घट का प्रकाशक सूर्य, सूर्य का प्रकाशक नेत्र, नेत्र का मन, मन का बुद्धि, बुद्धि का साक्षी एवं साक्षी का भी प्रकाशक महादेव है। अथवा ब्रह्माकारवृत्ति ही महादेव है। क्योंकि वहीं एकज्ञान से सर्वविज्ञान होता है। उपासक दृष्टि से तो विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र आदि के भी शासक व उत्पादक होने से वे महादेव हैं यह पुराण, आगम व स्मृतियों में सिद्ध है। उनकी महादेवता को न मानने से ही दक्षयज्ञ नष्ट हुआ, एवं ब्रह्मा का विष्णु से अपनी महत्ता के लिये झगड़ा हुआ।

अथर्वशिरउपनिषत् में महान् शब्द का अर्थ किया है 'सर्वान् भावान् परित्यज्यात्मज्ञानयोगैश्वर्ये महति महीयते' अर्थात् प्रौढ आत्मज्ञाननिष्ठ रहते हुए परमानन्दरूप निजप्रकाश से महत्ता प्राप्त करने वाला महान् है। अथवा योगियों द्वारा आत्मज्ञान का विषय बनाकर जो पूजित किया जाता है वह महान् है। अथवा त्रिविध परिच्छेदरहित होने से महत्ता जाननी चाहिये। इसी श्रुति का अनुसरण करती शिवगीता कहती है—

महत्यात्मज्ञानयोगैश्वर्ये यस्तु महीयते। सर्वान् भावान् परित्यज्य महादेवश्च सोस्म्यहम्॥ ६.४३॥

अर्थात् आत्मज्ञानरूप योग के महान् ऐश्वर्य में जो महिमा पाता है तथा सर्वविशेषों से रहित है वह महादेव मैं हूँ।

द्रोणपर्व के (२०२.१३२) अनुसार अनन्त नेत्र वाले होने से वे महादेव हैं, सभी उनके लिये प्रकाशित हो जाता है। तथा इस महान् विश्व का शासन करने से भी महादेव हैं—

सहस्राक्षोऽयुताक्षो वा सर्वतोऽक्षिमयोऽपि वा। यच्च विश्वं महत्पाति महादेवस्ततः स्मृतः॥

वासुदेव के अनुसार तो (अनुशा. १६१.८) सब देवताओं में महान् होने से व उनका हर विषय महान् होने से वे महादेव हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
देवानां सुमहान्यच्च यच्चास्य विषयो महान् । यच्च विश्वं महत् पाति महादेवस्ततः स्मृतः ॥

सर्वदेव द्वारा पूज्यता का प्रतिपादन श्रीकृष्ण ने अन्यत्र भी (हरिवंश विष्णु.७४.२७) किया है–

पूज्यो देवैः पूज्यसे नित्यदा वा शश्वच्छ्रेयःकांक्षिभि र्वरदाऽमेयवीर्य ! ।
तस्माद्विख्यातो भगवान् देवदेवः सतामिष्टः सर्वभूतात्मभावी ॥

इस विषय में ब्रह्माण्डपुराण के अट्ठाइसवें अध्याय का प्रसंग ज्ञातव्य है । सशिष्य काशी पहुँचकर व्यासजी ने किसी सन्दर्भ में ऋषिगणों के बीच घोषणा कर दी 'वेदशास्त्रात्परं नास्ति न देवः केशवात् परम्' । इस पर शिवगण नन्दी ने उनकी भुजा स्तम्भित कर दी । तब भगवती ने करुणा के कारण शिंव से प्रार्थना की कि वे व्यास को प्रकृतिस्थ करें । शिव ने यथार्थज्ञान प्रकाशित किया जिससे व्यासजी को समझ आया कि शिवद्रोह के कारण ही उनकी दुर्गति हुई थी । तब उन्होंने सत्रह श्लोकों से भगवत्स्तुति की जिसमें शिव की देवाधिदेवता नाना कारणों से सिद्ध की है । इसका नाम 'शम्भूत्कर्षस्तोत्र' है व इसके नित्य पाठ का बड़ा माहात्म्य है । यह कथा दशश्लोकीस्तुति में 'गोविन्दादधिकम्' (श्लो. ५) इत्यादि द्वारा आचार्य ने सूचित की है । सौरपुराण में (२०१-२७) महादेव की महत्ता बताकर निर्णय किया है–

विश्वं तस्माद्धि संभूतं तस्मिंस्तिष्ठति शंकरे ॥ लयमेष्यति तत्रैव त्रयमेतत्स्वलीलया ।
स एवात्मा महादेवः सर्वेषामेव देहिनाम् ॥ ज्ञानेन भक्तियुक्तेन ज्ञातव्यः परमेश्वरः ।
न पश्यामि महादेवादधिकं देवतान्तरम् ॥ वेदा अपि तमेवार्थमाहुः स्वायंभुवेऽन्तरे ।
(२.२८-३१) ॥

व तदनन्तर इक्कीस श्लोकों में वेदोक्ति का संग्रह है । शिवपुराण-वायुसंहिता के पूर्वखण्ड में (अध्य. ३. श्लो. १-२६) ब्रह्माजी ने भी विस्तार से यही प्रतिपादित किया है । वहीं कहा है (श्लो. १५)–

एको देवो महादेवो विज्ञेयस्तु महेश्वरः । न तस्य परमं किंचित् पदं समधिगम्यते ॥

श्रुति तो स्पष्ट कहती ही है उसकी तुलना करने वाला नहीं 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' (श्वे. ४.१९) 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' (श्वे. ६.८) । इसलिये श्रुति, स्मृति व पुराण तीनों से महादेव अन्वर्थनामा सिद्ध होते हैं । शिवरहस्य में महादेव नाम की बड़ी महत्ता बतायी है । यथा–

महादेव महादेव महादेवेति वादिनम् । वत्सं गौरिव गौरीशो धावन्तमनुधावति ॥
महादेव महादेव महादेवेति यो वदेत् । एक एव भवेन्मुक्ति र्द्वाभ्यां शम्भु र्ऋणीभवेत् ॥
महादेव महादेव महादेवेत्ययं ध्वनिः । मोक्षलक्ष्मीगृहद्वार-कपाटोद्घाटनध्वनिः ॥ इत्यादि ।

जगज्जन्मादि हेतु महादेव से अतिरिक्त किसी देवी, देवता, यक्ष, राक्षस, ग्रह, नक्षत्र, भूत, पिशाच या पुरुष को परमेश्वर न मान महादेव का ही जप, ध्यान, पूजन,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कथन आदि करना महादेव की उपासना है। यह समझ लेना चाहिये कि चाहे जिस नाम-रूप से हम समझें, यदि उसे जगज्जन्मादिकारण मानते हैं, सत्य ज्ञानादि स्वरूप मानते हैं तो महादेव को ही मान रहे हैं। महादेव नाम का विशेष माहात्म्य है इसमें तो कोई सन्देह नहीं।

महादेव नाम की पद्य व्याख्या है–

गीर्वाणानामपि मधुहादीनां नमनीयः स्तवनीयस्त्वं देवः।
शशिबिम्बेऽधिष्ठात्री तव मूर्ति-र्जगदाप्याययतीति महादेवः ॥ १०० ॥

देवताओं के तथा विष्णु आदि के आप नमनीय व स्तोतव्य देव हैं, अतः (देवताओं से महान् होने के कारण) महादेव हैं। चन्द्रमूर्ति के अधिष्ठाता आप इसी नाम से ही जगत् को आह्लादित करते हैं अतः महादेव हैं।

'तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्'(श्वे. ६.७) आदि श्रुति का स्मरण कर यह श्लोक है। अन्य देवों से अधिक माहात्म्य वाले होने से विष्णु आदि को पृथक् कहा। पुराणों में प्रायः सर्वश्रेष्ठता के विवाद में ये ही आते हैं, अन्य देवता नहीं। अथवा मधुशब्द सोमरस परक है। निरुक्त में (४.१.८) बताया है 'मधु सोममित्यौपमिकं, माद्यतेः; इदमपीतरत् मधु एतस्मादेव'। उसका पान कर उसे समाप्त करने वाला होने से इन्द्र मधुहा है। आदि से वायु और अग्नि को समझना चाहिये। इस प्रकार केनोपनिषद् में कही यक्षकथा की ओर संकेत है। अन्य देव तो शिव के निकट भी न जा पाये। जो अग्नि आदि निकट गये वे भी उनसे सर्वथा अभिभूत हो गये। इन्द्र ने हैमवती भगवती करुणामयी उमा के उपदेश से शिवतत्त्व समझा। अतः इन्द्रादि के भी वे पूज्य हैं। यद्यपि यज्ञों में स्वयं हविर्ग्रहीता होने से देवता यज्ञ करने के अनधिकारी हैं तथापि शिवपूजन में उनका अधिकार होना अविरुद्ध है। अन्य पूजा में संशय होने पर भी नमन व स्तवन में तो कोई विप्रतिपत्ति नहीं यह बताने केलिये इनका संग्रह है। इससे सभी कर्मानधिकारियों के लिये मार्गनिर्देश समझ लेना चाहिये। जन्म, अवस्था, योग्यतादि के कारण जो मनुष्य भी अन्यान्य विधियों से पूजा नहीं कर सकते, वे भी प्रणाम और स्तुति को कर ही सकते हैं। पूर्वार्ध में देवशब्द से कहा है कि आपकी सर्वपूज्यता में आपका देवत्व ही पर्याप्त कारण है। पूर्वनामव्याख्यानोक्तप्रकार से देवशब्द ही शम्भु को विषय करता है। अतः अध्ययनशब्दगत उपसर्ग की तरह महादेव में पूर्वपद व्यर्थ ही है। व्यर्थ होने से ज्ञापित कराता है कि इतरविषयतया प्रयुक्त देवशब्द तत्तद्रूप से स्थित परमेश्वर का ही वाचक है। देवशब्द और शिवरूप अर्थ की यह व्याप्ति ही महच्छब्दार्थ है। अतः देव से व्यापक होने के कारण वे महादेव हैं यह सूक्ष्म ध्वनि है। चन्द्रमूर्ति का यह नाम शतरुद्रसंहिता (३.११) से प्रमाणित है–

आप्याययति यो विश्वममृतांशुर्निशाकरः। महादेवस्य सामूर्तिः महादेवसमाह्वया ॥

कलहंसी नामक मात्रावृत्त है। 'षण्मात्रैस्त्रिभिरुदिता कलहंसी'–प्रतिपाद अठारह मात्रायें होने से कलहंसी छन्द कहा जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(९५) **अव्ययः** –कभी खर्च या कम न होने वाले। अनन्त काल से अनन्त ब्रह्माण्डों में अनन्त रूप धारण करने पर भी वे वैसे ही बने रहते हैं। ज्ञान घटादि रूपों में जन्मभर बनते रहने पर क्या वृद्धावस्था में कम होता है ? अतः वे अव्यय हैं। व्याकरण में भी सब लिंग, विभक्ति, वचनों के प्रत्यय लगने पर, एवं उनका भान होने पर भी, जो एक-सा बना रहता है वह अव्यय कहलाता है। वैसे ही शिव भी सभी उपाधियों के प्रत्यय (प्रतीति) लगने पर भी अखण्ड एकरस बने रहते हैं।

पूर्ण होने से शिव अव्यय हैं। पूर्ण का श्रुतिसिद्ध स्वभाव ही ऐसा है कि चाहे उसमें से पूर्ण ही निकल जाये, वह तो पूर्ण ही बना रहता है। बृहदारण्यक में (५.१) स्पष्ट कहा है–

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

अतएव पूर्ण चैतन्यरूप जीव और पूर्ण माया चाहे शिव से भिन्न प्रतीत होने से उसे सीमित-अपूर्ण-प्रतीत कराये, शिव तो पूर्ण ही रहते हैं इसमें संदेह नहीं। माया की पूर्णता में 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' (गी. १५.१६) इस स्मृति का अक्षरशब्द प्रमाण है। जीव की पूर्णता प्रसिद्ध है व 'देहिनमव्ययम्' (गी. १४.५) आदि स्मृतिप्रोक्त भी है। शिव की अव्ययता में 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (कठ. ३.१५), 'ईशानो ज्योतिरव्ययः' (श्वे. ३.१२) आदि श्रुति व 'विद्धयकर्तारमव्ययम्' (गी. ४.१३), 'पदमव्ययं तत्' (गी. १५.५), 'अव्यय ईश्वरः' (गी. १५.१७) आदि स्मृति प्रमाण है। अनंशी होने से व कालातीत होने से महेश्वर के व्यय की सम्भावना भी नहीं है। क्रिया आदि का विषय न होने से व्ययहेतु न होने के कारण भी शिव अव्यय हैं। सारे शास्त्रों में परमेश्वर रूप से स्थित रहने से भी वे अव्यय हैं। श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास आदि सभी की शिवपारमैश्वर्य में एक-वाक्यता है यह अप्पयदीक्षित आदि समन्वयवादी विद्वद्धौरेयों ने बहुत विस्तार से अनेक ग्रन्थों में उपपादित किया है। उपकार-अपकार के प्रति अविचल समदृष्टि होने से भी वे अव्यय हैं। दक्षयज्ञ विध्वंस में उमा ही कारण बनीं। शिव को तो अपने स्वरूप का—शक्ति और योग्यता का—ज्ञान था अतः स्वयं वे अविक्षिप्त थे। शान्तिपर्व में (२८४.२३-२९) वर्णन है कि दक्षयज्ञ में शिवभाग नहीं यह समझ भगवती ने खिन्न होकर कहा 'मैं कौन सी तपस्या करूँ जिससे मेरे पति को कुछ तो यज्ञभाग मिल जाये।' इस पर भगवान् ने प्रसन्नतापूर्वक उन्हें याथार्थ्य बताया–

एवं ब्रुवाणां भगवान् स पत्नीं प्रहृष्टरूपः क्षुभितामुवाच।
न वेत्सि मां देवि ! कृशोदराङ्गि ! किं नाम युक्तं वचनं मखेशे॥
अहं विजानामि विशालनेत्रे ध्यानेन हीना न विदन्त्यसन्तः।
तवाद्य मोहेन च सेन्द्रदेवा लोकास्त्रयः सर्वत एव मूढाः॥
मामध्वरे शंसितारः स्तुवन्ति रथन्तरं सामगाश्चोपगान्ति।
मां ब्राह्मणा ब्रह्मविदो यजन्ते मामध्वर्यवः कल्पयन्ते च भागम्॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शिव से अतिरिक्त है कौन जिसे भाग मिले ? अतः जो समझते हैं हम शिव की नहीं अन्य की पूजा कर रहे हैं वे भी अज्ञान से उन्हीं को तो पूजते हैं—'यजन्त्यविधिपूर्वकम्' (गी.९.२३) । अज्ञान ही अविधिशब्दार्थ है । अतः वे तो इस दुःसाहस से भी विचलित न होने से अव्यय हैं । ऐसे ही पार्वती के रूपलावण्य के भरोसे कामदेव के आक्रमण के समय शिव विचलित न हो पाये—काम सफल न हो पाया । यही शिव का धैर्य था–

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः । (कुमार. १.५९)।

कामदेव का जलना तो ब्रह्मा के शाप का फल था, शिव क्रुद्ध हुए हों ऐसा नहीं–

अभिलाषमुदीरितेन्द्रियः स्वसुतायामकरोत्प्रजापतिः ।
अथ तेन निगृह्य विक्रियामभिशप्तः फलमेतदन्वभूत् ॥ कुमार ४.४१॥

अतः काम, क्रोधादि विकारों वाला न होना ही अव्यय की उपासना है ।

जो विविध रूपों को प्राप्त होता है—विविधतया एति—उसे व्यय कहते हैं । जो इससे विपरीत है, कूटस्थ है, वह अव्यय है । छहों भावविकारों से अस्पृष्ट होने से शिव अव्यय हैं ऐसा आलवाल समझाता है–

न जायसे परिणमसि प्रवर्धसे न हीयसे न च विकृतोऽसि नश्यसि ।
त्वमव्ययै र्दशभिरपि क्षमादिभिः परिष्कृतः परशिव ! तेन चाव्ययः ॥१०१॥

हे परमशिव ! आप न उत्पन्न होते हैं, न बदलते हैं, न बढ़ते हैं, न क्षीण होते हैं, न बिगड़ते हैं और न नष्ट होते हैं; अतः आप अव्यय हैं । और आप क्षमा आदि दस अव्ययों से अलंकृत हैं, इससे भी आप अव्यय हैं ।

यास्क मुनि ने वार्ष्यायणि आचार्य के मत से भावपदार्थों के छह परिवर्तन दिखाये हैं–

'षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः–जायतेऽस्तिविपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति' (नि. १.१.३) । शिव में छहों नहीं । 'अज आत्मा' (बृ. ४.४.२२) आदि श्रुति से आद्य विकार निषिद्ध हो जाने पर आगे के विकारों का प्रश्न ही नहीं । गीता में शिवतत्व की दृष्टि से कहा ही गया है 'अविकार्योयमुच्यते' (गी. २.२५) । द्वितीय अर्थ में अव्ययवान् अर्थ में अव्ययशब्द से अर्शआदि में विहित मत्वर्थीय अच्प्रत्यय है (५.२.१२७) । दस अव्यय वायुपुराण में बताये हैं–

ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः । प्रभुत्वमात्मसम्बोधो ह्यधिष्ठानगुणैर्युतः ॥
पूर्व. ३०.१३६ ॥

अन्यत्र भी इन दस अव्ययों को शंकर में रहने वाला कहा गया है ।

रुचिरा छन्द है । 'जभौ सजौ गिति रुचिरा चतुर्ग्रहैः'–प्रतिपाद क्रमशः जगण, भगण, सगण, जगण, और एक गुरुवर्ण हो तथा चौथे व तेरहवें अक्षरों पर यति हो तो रुचिरा छंद होता है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(९६) हरिः —हरि रूप । विष्णु शिव की उपादान शक्ति है । पिता का वीर्य ही पुत्र का उपादान कारण है, अतः पुत्र के सभी अवयवों का घनीभवन ही कारणरूप से स्थित वीर्य है । वैसे ही हरि सारे जीवों व जगत् का घनीभूत कारणरूप है । उपनिषदों में इसीलिये नारायण को शिववीर्य कहा है । गीताभाष्य के प्रारम्भ में सर्वज्ञ शंकरभगवत्पाद पुराण प्रमाण से सिद्ध करते हैं कि नारायण से अव्यक्त, अव्यक्त से ब्रह्माण्ड एवं वहाँ सभी जीव जगत् के देह उत्पन्न होते है । अतः हरि सर्वकारण हैं । वीर्य वस्तुतःप्रजोत्पत्ति की कामना से ही अभिन्न देह से अलग होता हुआ प्रतीत होता है, वैसे ही बहुभवन की शिवेच्छा से ही अखण्ड निमित्तोपादान कारण से उपादान कारणरूप हरि अलग होते हुए प्रतीत होते हैं । यहाँ इच्छा ही निमित्त कारण है अतः इच्छास्वरूपिणी शिवा को ही निमित्त कारण माना है । इच्छा सदा अभिन्न होती है अतः शिव-शिवा का सदा अभेद है । व्यक्त होना ही मानो उसका कारण बनना है । वस्तुतस्तु उपादान व अधिष्ठान सदा ही अभिन्न होते हैं । अतः शिव, निमित्त शक्ति व उपादान विष्णु से नित्य अभिन्न होने से ही, अधिष्ठानरूप निमित्तोपादान कारण हैं । जो हरे वह हरि है । अतः सारे जगत् का अपने में पुनः आहरण करने से वे हरि कहे गये हैं । उपादान कारण में ही लय होना सर्ववादिसंमत है । अथवा जो हरा जाये वही हरि है । निमित्त कारण कुम्हार मिट्टी का आहरण करता है । इसी प्रकार शिव की इच्छाशक्ति नारायण का सृष्टि के लिये आहरण करती है अतः वे हरि कहे गये हैं । पुराणों में बलि का आहरण करने से उन्हें हरि माना है । इतिहास में सिंह का रूप धारण करने से वे हरि कहे जाते हैं क्योंकि सिंह का नाम हरि है । आगमों में तो ह्रीं-मन्त्र के सम्बन्ध से हरि शब्द है ।

दीक्षित अप्पय ने रत्नत्रयपरीक्षा में पुराणादिवचनों के ऊहापोह से शिव की अधिष्ठानता, उमा की निमित्तता और नारायण की उपादानता प्रतिपादित की है । यथा

यश्चोपादानभूतः पर इह पुरुषः सैव नारायणोक्त्या
ख्यातः श्रीकूर्मवाक्यैरधिगदितमिदं नारदस्यापि वाक्यैः ॥ श्लो. ४ ॥

कूर्मपुराण के (श्वे. १६.१५३-६५)

अयं नारायणो गौरी जगन्माता सनातनः । विभज्य संस्थितो देवः स्वात्मानं बहुधेश्वरः ॥

"""एकोऽयं वेद विश्वात्मा भवानी विष्णुरेव च ॥ """मामेव केशवं प्राहुर्लक्ष्मीं देवीमथाम्बिकाम् ॥

तस्मादनादिमद्वैतं विष्णुमात्मानमीश्वरम् । एकमेव विजानीथ ततो यास्यथ निर्वृतिम् ॥

आदि वाक्यों से यह स्पष्ट किया है । हरिवंश में भी कहा है–

यो विष्णुः स तु वै रुद्रो यो रुद्रः स पितामहः । एका मूर्तिस्त्रयो देवा रुद्रविष्णुपितामहाः ॥
विष्णु. १२५.३१ ॥

रुद्रस्य परमो विष्णुर्विष्णोश्च परमः शिवः । एक एव द्विधा भूतो लोके चरति नित्यशः ॥
वहीं ४१ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तथा सांख्याभिमत प्रकृतिस्थानीय विष्णु हैं यह भी बताया है–

तस्य कारणमाहुस्त्वां सांख्यप्रकृतिसंज्ञकम् । तद्रूपेण भवान् विष्णो ! परिणम्याधितिष्ठति ॥
भवि. ८८.२० ॥

अतः दार्शनिक दृष्टि से शिव से विष्णु भिन्न नहीं । पौराणिक दृष्टि से पालनप्रधान मूर्ति विष्णु प्रसिद्ध है, किंतु मूर्ति वह शिव की ही है अतः अभेद स्फुट है । इसी से कालिदास ने कहा है । 'एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा' (कुमार. ७.४४) । अन्य स्मार्तों को भी यह इष्ट है । गीतागूढार्थदीपिका की तत्त्वालोकव्याख्या के मंगल में वच्चा झा ने कहा है–

आनन्दैकरसे चिदात्मनि परे ब्रह्मण्युमाश्लेषतो यत्रैश्वर्यवतीश्वरेत्यभिधयैकान्तिक्युपेता स्थितिः ।
तस्यैकस्य शिवस्य मायिकगुणप्रोद्भासिभेदां परां विश्वोत्पत्त्यवनक्षयक्षमतमां मूर्तित्रयीं तां नुमः ॥

जो कुत्रचिद् विष्णु के अपकर्ष की सिद्धि स्मार्तों के लेख में लक्षित होती है वह केवल उन्हें चुप करने के लिये है जो शिव पर अनर्गल लांछन लगाने वाले नासमझ माध्वादि वैष्णव हैं । जैसाकि कहा है–

किन्त्वीशद्वेषगाढानलकलितहृदां दुर्मतीनां दुरुक्तीः
भङ्क्तुं यत्नो ममायं न हि भवतु ततो विष्णुविद्वेषशङ्का ॥ (अप्पयदी.) ॥

जो तो तत्तत्पुराणों में निकर्ष-उत्कर्ष वर्णित है उसका प्रयोजन तो तत्तद् देवता की उपासना में प्रवृत्त करना ही है । निन्दा का प्रयोजन विधेय-स्तुति है ऐसी मीमांसामर्यादा है । विष्णुपूजक विष्णुरूप से ही सर्वोत्कर्ष मानकर एकनिष्ठ हो उपासना में लग सकता है अतः कहीं वैसा वर्णन है । जो शिवरूप से परमेश्वरार्चन में प्रवृत्त है उसकी प्रेरणा के लिये तदनुकूल वर्णन है । पुराणों का कथमपि यह अर्थ नहीं कि इनमें वस्तुतः भेद है या उच्च-नीच भाव है । इसी शांकर मान्यता को मध्वतन्त्रमुखमर्दन में अप्पय दीक्षित ने यों प्रकट किया है–

स्फारात्तत्तत्पुराणागमवचनशतप्रापिता याऽन्यनिन्दा
तत्तद्भक्त्यादिसिद्ध्यै स्तवनविरचने सा भवेद् द्वारमात्रम् ।
कर्मानुष्ठापनार्थं किमु निरतिशयां ब्रह्मसंस्थादिनिन्दा-
मापस्तम्बादिवाक्ये न कलयसि ततः काऽस्य हानिस्तवेष्टा ॥५४॥

इसी तरह जो कुछ वैष्णवंमन्यों ने पूर्वापर-संगति लगाये विना शैव पुराणों को व अन्यान्य शास्त्रों को तामस घोषित कर रखा है, वह भी इस न्याय को न समझने से है । अन्यथा उनका सर्वस्व पाञ्चरात्र भी प्रमाण नहीं रह सकता, क्योंकि कूर्मपुराण में (पूर्व. १६.११८-११९) कहा गया है–

चकार मोहशास्त्राणि केशवोऽपि शिवेरितः ॥ कापालं नाकुलं वामं भैरवं पूर्वपश्चिमम् ।
पाञ्चरात्रं पाशुपतं तथान्यानि सहस्रशः ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अतः पांचरात्र भी मोहशास्त्र है यह प्रमाणसिद्ध है । एवं च यदि 'न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्ततेऽपि तु स्तुत्यं स्तोतुम्' इस यौक्तिक न्याय को न मानें तो समस्त शास्त्र अनर्थक होंगे । इस तथ्य को जानते हुए व्यास जी ने सहस्रनामों में विष्ण्वादि वाचकतया प्रसिद्ध नाम शिव के और शिववाचकतया प्रसिद्ध नाम विष्ण्वादि के कह दिये हैं । हरिवंश में (भवि. ८८.६१) तो स्पष्ट घोषणा है–

नामानि तव गोविन्द यानि लोके महान्ति च । तान्येव मम नामानि नात्र कार्या विचारणा ॥

यद्यपि पुराणादि में शब्द-दृष्टि से ही विचार करें तो शिव, ईशान, महेश्वर आदि शब्दों से ही परमेश्वर का प्रतिपादन प्रायशः मिलता है और इसी से तत्र-तत्र शिवोत्कर्ष का वर्णन संगत है, तथापि स्मार्तों का स्वकीय मत यही है कि जगज्जन्मादि हेतु सत्यज्ञानस्वरूप चित्तत्त्व को चाहें जिस नाम से व चाहे जिस रूप से माना जाये वह ईश्वर को मानना ही है । क्योंकि सब नाम-रूप कल्पित हैं इसलिये एक नाम-रूप में आग्रह करना अद्वैतियों को शोभा नहीं देता । यही दीक्षितजी ने भी कहा है–

विष्णुर्वा शङ्करो वा श्रुतिशिखरगिरामस्तु तात्पर्यभूमिः ।
नास्माकं तत्र वादः प्रभवति किमपि स्पष्टमद्वैतभाजाम् ॥

इसीलिये यहाँ भी हरिनाम है । भगवद्गीता का अध्ययन अध्यापनादि ही हरि की पराभक्ति है ।

विष्णु से भेद अभेद आदि विवाद से बचते हुए भास्करराय हरिशब्द को यौगिक मानकर ही समझाते हैं –

परशिव ! तव नाम सङ्कीर्तनं कलिकलुषितचेतसां पावनम् ।
निवससि नगरे हरिश्चन्द्रके हरसि च दुरितानि स त्वं हरिः ॥१०२॥

हे परमशिव ! आपके नाम का संकीर्तन कलिदोष से युक्त चित्त वालों को पवित्र कर देता है । हरिश्चन्द्रनामक क्षेत्र में हरीश्वर नाम से आप प्रतिष्ठित भी हैं । (वहां पूजित होकर व अन्यत्र भी कहीं संकीर्तित होकर) जो आप पापों का हरण करते हैं वे आप हरि हैं ।

शिवनाम के संकीर्तन में प्राणिमात्र का अधिकार है और उससे मोक्ष प्राप्त होता है–

नामसङ्कीर्तने ध्याने सर्व एवाधिकारिणः ॥ शिवगी. १६.१२ ॥
अन्यानि शैवकर्माणि करोतु न करोतु वा । शिवनाम जपेद्यस्तु सर्वदा मुच्यते तु सः ॥
वहीं २२॥

जप के माहात्म्य को जानने वाले मनु महाराज ने भी कहा है–

जप्येनैव तु संसिद्ध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः । कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥
२. ८७॥

अतः सब हरिभक्तों को नाम संकीर्तन तो करना ही चाहिये । नाना सहस्रनामों का आवर्तन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करना चाहिये । अथवा इसी शतनाम की आवृत्ति करनी चाहिये । या किसी एक नाम का ही जप करना चाहिये । शिव के नामों का उच्चारण तो अत्यन्त आह्लादक है । उपमन्युकृत शिवस्तोत्र में (५) कहा है–

त्वदनुस्मृतिरेव पावनी स्तुतियुक्ता न हि वक्तुमीश सा ।
मधुरं हि पयः स्वभावतो ननु कीदृक् सितशर्करान्वितम् ॥

शिवनाम संकीर्तन से ही जन्मसाफल्य भट्ट जगद्धर ने भी माना है–

शिव शिव शङ्कर शङ्कर भव गतिरिति यः प्रलापमुखरमुखः ।
तस्य हि सफला दिवसाः शिवसायुज्यं च हस्तगतम् ॥ ॥ स्तु. कु. ३७.४ ॥

अन्य नाम कठिन हों तो भी शिवनाम में कहाँ कठिनता है ? इसका जप करते हुऐ जीवन व्यतीत करना कितनों को रुचा है । 'शिवेति मन्त्रमुच्चरन् कदा सुखी भवाम्यहम्' (शिवतां. १२) 'अतस्त्वां संयाचे जननि जननं यातु मम वै मृडानी रुद्राणी शिव शिव भवानीति जपतः' (देव्यप. ८) आदि । वेदपादस्तव में भी–

स्मृतिमात्रेण संसारविनाशनपराणि ते । नामानि तव दिव्यानि प्रब्रवाम शरदः शतम् ॥८९॥

कहकर शिवनामसंकीर्तन की महत्ता बतायी है । प्रकृत श्लोक में हृञ हरणे (भ्व. उ. अ.) धातु से सर्वधातुभ्य इन् (४.११९) इस औणादिक सूत्र से इन् प्रत्यय लगा हरिशब्द केवल यौगिक माना गया है ।

प्रयुक्त छन्द का नाम है प्रमुदितवदना । 'प्रमुदितवदना भवेन्नौ च रौ'–दो नगण व दो रगण हर चरण में हों तो प्रमुदितवदना छन्द होता है ।

(९७) **पूषदन्तभित्** –पूषा के दांत तोड़ने वाले । दक्षयज्ञ में वीरभद्र ने पूषा के दाँत तोड़े थे यह पुराण-प्रसिद्ध है । पूषा सूर्य को भी कहते हैं । अतः बादल या अन्तरिक्ष में त्रसरेणुओं से सूर्य की उष्णता को नष्ट कर मानो सूर्य के दाँतों को नष्ट कर देते हैं । ज्योतिष शास्त्र के अनुसार सूर्य के पुष्य में आते ही वर्षा का प्रारंभ होता है । यह काल श्रावणमास का लगभग आरंभ होता है । उस समय मेघों की प्रधानता होने से सूर्य की गर्मी कम हो जाती है । श्रावणमास इसीलिये मानो पूषदन्तभित् होने से शिव का मास स्वीकृत है । वेद में तो पूषा का अर्थ पोषण करने वाला है । अतः जगत् का पोषण करने वाली माया ही पूषा है । वह जिस दाँत से काटती है वह कामना अथवा द्वैतभाव है । शिव सोपाधिक उपासना के द्वारा कामना तथा कर्म, एवं निरुपाधिक ज्ञान से द्वैतभाव को निवृत्त करने वाले होने से पूषदन्तभित् है । उपनिषत् शिव की मूर्ति हैं, एवं वे श्रवणमात्र से जगत् के सत्यत्व के निश्चय को नष्ट करती हैं, मनन से ब्रह्मलोक तक पहुँचाती हैं, एवं निदिध्यासन से जीवन्मुक्ति देती हैं यह सबको अनुभवसिद्ध है । अतः संसरण करने वाले द्वैतभाव या जीवभाव का पोषण न कर उसका भेदन करने से ही शिव पूषदन्तभित् हैं ।

पूष वृद्धौ (भ्व. प. से.) धातु से औणादिक निपातन (१.१.५९) से पूषन् शब्द

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बना है। अतः बढने वाला ही पूषा है। तथा दमु उपशमे (दि. प. से.) धातु से औणादिक तन्प्रत्यय (३.८६) हो दन्तशब्द बनता है। एवं च जो बढ़े और उपशान्त भी करे वही पूषदन्त है। भोग ही वह वस्तु है जो निरन्तर बढ़ती जाती है और लगभग (उप) शान्ति भी देती है। इसलिये मोक्षमार्ग का यही प्रतिबन्धक है। शिव इस भोग का भेदन करते हैं वैराग्योदयद्वारा। शिवकृपा यही है कि विषयभोगों की इच्छा निवृत्त हो। 'तेनेशस्य विधीयतामपचितिः काम्ये मतिस्त्यज्यताम्' इस शंकरोपदेश का गम्यमान अर्थ यह भी है कि ईशार्चन से काम्यकामना क्षीण होती है। शिवभक्त प्रायः विरक्तों में अधिक देखे भी जाते हैं। पाप प्रवृत्ति रोकने के लिये, अपनी हरिरूपता बनाये रखने के लिये, और संसारिक क्षुद्रतापों से अव्यग्र रखने के लिये यह भोगेच्छानिवृत्ति अनिवार्य भी है यह पाठक्रम से स्पष्ट है। अथवा क्विबन्त पूषू शब्द बढ़ने वाले चन्द्र को कहता है, व पूषद् उसके भक्षक देवताओं को। 'तं देवा भक्षयन्ति' (छां. ५.१०.४) श्रुति है। उनके अन्त अर्थात् निश्चय को–'अन्तः स्वरूपे निकटे प्रान्ते निश्चयनाशयोः' (हैम.)–छिन्न-भिन्न करने वाले होने से शिव पूषदन्तभित् हैं। केनोपनिषत् में बताया है कि देवताओं को दृढ़ कर्तृत्वाभिमान होने पर शिव ने ही उनके उस निश्चय का समापन किया। वैराग्यभावना स्थिर करना और कर्तृभाव के दार्ढ्य से बचना पूषदन्तभित् की उपासना है। पौराणिकादि दृष्टि से पूषा के दाँत इस कारण तोड़े थे कि जब दक्षयज्ञसभा में भगवान् पर आक्षेप किये जा रहे थे तब उसने हँसकर दाँत दिखाकर सहमति प्रकट की थी–

शप्यमाने हरे पूर्वं योऽहसद् दर्शयन् दतः ॥ शिवपु. रुद्रसं. ३७.५४ ॥

इसी से दण्ड देते समय भगवान् ने हँसते हुए ही उसके दाँत तोड़ दिये–

पूषाणमभ्यद्रवत शङ्करः प्रहसन्निव। पुरोडाशं भक्षयतो दशनान् वै व्यशातयत् ॥
महाभा. द्रोण. २०२.५९ ॥

अतः कभी शिवनिन्दा में भाग नहीं लेना चाहिये। सामर्थ्य हो तो उसका विरोध करे, न हो तो वहाँ से चला जाये, किन्तु कभी शिव पर लांछन लगे तो उसका अनुमोदन न करे। यही है पूषदन्तभित् की उपासना। उपमन्यु के संमुख इन्द्ररूप से जब भगवान् ने ही शिवनिंदा की तो भगवल्लीला से अनभिज्ञ उपमन्यु ने कहा–

श्रुत्त्वा निन्दां भवस्याथ तत्क्षणादेव सन्त्यजेत्। स्वदेहं तन्निहत्याशु शिवलोकं स गच्छति ॥
एवमुक्त्वोपमन्युस्तं मर्तुं व्यवसितः स्वयम्। क्षीरे वाञ्छामपि त्यक्त्वा निहन्तुं शक्रमुद्यतः ॥
वायुसं. पू.३५.२८.२९ ॥

ऐसे ही सती ने कहा है–

तज्जन्म धिग्यो महतां सर्वथावद्यकृत् खलः। परित्याज्यो विशेषेण तत्सम्बन्धो विपश्चिता ॥
सतीखं. ३०.५९ ॥

विद्याचौरो गुरुद्रोही वेदेश्वरविदूषकः। त एते बहुपाप्मानः सर्वे दण्ड्या इति श्रुतिः ॥
वायुसं. पू.१८.४७ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पार्वती के भी ओजस्वी वंचन हैं–

शिवनिन्दां करोतीह तत्त्वमज्ञाय यः पुमान् । आजन्मसंचितं पुण्यम् भस्मीभवति तस्य तत् ॥

·····शिवविद्वेषिणं दृष्ट्वा सचैलं स्नानमाचरेत् । शिवविद्वेषिणं दृष्ट्वा प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥

·····न केवलं भवेत्पापं निन्दां कर्तुः शिवस्य हि । यो वै शृणोति तन्निन्दां पापभाक् स भवेदिह ॥

शिवनिन्दाकरो वध्यः सर्वथा शिवकिंकरैः । ब्राह्मणश्चेत्स वै त्याज्यो गन्तव्यं तत्स्थलाद् द्रुतम् ॥ पार्वतीखं. २८. २५–३८ ।

अतः परमशैव कविराज ने संग्रह कर कहा है 'न केवलं यो महतोऽपभाषते श्रृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्' (कुमार. ५.८३) । पूषदन्तभित् का उपासक इसीलिये देवनिन्दा का असहिष्णु होता है ।

आलवाल की व्याख्या है–

अधिमखं रदविकासपूर्वकं परिहसन्तमवलोक्य पूषणम् ।

शिव ! भवानकृत पिष्टभागिनं गलितदन्तभिति पूषदन्तभित् ॥ १०३ ॥

हे शिव (दक्ष के) यज्ञ में पूषा को दाँत दिखाकर शिव पर हँसता देख आपने उसके दाँत तोड़ दिये और केवल पिसे हुए यज्ञभाग का अधिकारी बना दिया ।

'पूषा प्रपिष्टभागः, अदन्तको हि सः' (तै. सं. २.६.८) इस श्रुति के आधार पर यह श्लोक है ।

प्रयुक्त छन्द प्रियंवदा नाम का है । 'भुवि भवेन्नभजरैः प्रियंवदा'–प्रतिचरण नगण, भगण, जगण, रगण होने से प्रियंवदा छन्द होता है ।

(९८) अव्यग्रः –व्यग्र न होने वाले । अपनी इच्छा के विरुद्ध कुछ होने की संभावना से ही व्यग्रता आती है । शिव की इच्छा से प्रत्येक घटना होने से उनकी व्यग्रता संभव ही नहीं । जीवरूप से भी उन्हीं की इच्छा कार्य करती है । अतः जीव के व्यवहारों से भी वे व्यग्र नहीं होते । इसीलिये राक्षसादि के नाश में भी उनकी स्वयं प्रवृत्ति नहीं होती यह पुराणों में प्रतिपादित है । श्रुति की दृष्टि से तो जब वे ही सर्वाकार होते हुए सर्वहीन बने रहते हैं तो व्यग्रता कैसे संभव है । क्या रज्जु सर्प से घबराती है ? अतः वे अव्यग्र हैं ।

जिसके आगे कुछ न हो वह व्यग्र होता है –विगतमग्रं यस्य–अतः जिसके आगे सबकुछ है अर्थात् जो सबके पीछे है वह अव्यग्र शिव है । परम अधिष्ठान होने से सब कुछ शिव पर अध्यस्त है, वे स्वयं सद्रूप होने से किसी के सहारे नहीं हैं । अथवा विविध कुटिल गतियों वाली अविद्या व्यग्र है-विविधमगतीति, अग कुटिलायां गतौ (भ्व प. से.)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धातोरौणादिकाद् (२.२९) रन्प्रत्ययादग्रशब्दः–और जो अविद्या से अस्पृष्ट मुक्तोपसृप्य परमेश्वर है वही अव्यग्र है । अथवा 'व्यग्रो व्यापृताकुलयोः' (हैम.) इस कोष से जो सर्वव्यापारशून्य है उसे अव्यग्र कहा है । यद्यपि प्रपंच के सारे व्यापार शिव के कारण हैं तथापि शिव उन सबसे सर्वथा अस्पृष्ट हैं । शिव से अतिरिक्त सभी व्यग्र हैं । अतएव अन्य देवताओं को अशान्तवेश वाला कहकर शिव का वैशिष्ट्य दक्षिणामूर्तिस्तोत्र में (१४) कहा गया है–

अगौरगात्रैरललाटनेत्रैरशान्तवेशैरभुजङ्गभूषैः ।
अबोधमुद्रैरनपास्तनिद्रैरपूर्णकामैरमरैरलं नः ॥

अथवा, कर्म व उपासना का चरमफल हिरण्यगर्भरूप सूर्य की प्राप्ति है । 'अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते' (प्रश्न. १.१०), 'स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः' (प्रश्न. ५.५) । शिव उससे भी आगे होने से अव्यग्र हैं । अवि सूर्य का नाम है 'अवयः शैलमेषार्काः' (अमर.) 'अविः शैले रवौ मेषे' (विश्व.) आदि कोषों में यह प्रसिद्ध है । 'अग्रं पुरस्तादुपरि' (मेदिनी.) आदि से आगे या ऊँचा–अग्र कहा जाता है । अवेरग्रमव्यग्रं तत्स्थानमस्येत्यव्यग्रः । क्रिया से–वह चाहे बाह्य हो चाहे मानस–अप्राप्य होने के कारण ही वे सूर्य से भी आगे बताये गये हैं । व्यापक होने से भी ऐसा कहा है । क्रियादि व्यापारों का परित्याग जिसका लक्षण है वह पारिव्राज्य ही अव्यग्र की उपासना है । अथवा शिवलीला से परेशानी का अनुभव न करना ही अव्यग्र की उपासना है ।

पुराणप्रसिद्ध प्रसंगों से महादेव की व्यग्रेतरता समझाते हुए आलवाल कहता है–

पौलस्त्येनोन्नमनसमये कैलासाद्रे- ब्रह्माण्डानामपि दहनकाले संवर्ते ।
युद्धेष्वन्येष्वपि बहुषु सन्तोषोद्रेकाद् देवीं पश्यन्नटसि शिव ! तस्मादव्यग्रः ॥ १०४ ॥

हे शिव ! रावण द्वारा कैलास पर्वत हिलाये जाते समय भगवती को देखते हुए आप अविचल भाव से व्यवहार करते रहे अतः अव्यग्र हैं । प्रलय में ब्रह्माण्डों के जलते समय भी आप को कोई विक्षेप नहीं होता, इसलिये अव्यग्र हैं । अनेक युद्धों के समय व कालकूट भक्षण आदि अन्य अनेक दुष्कर कार्यों के समय आप निर्विकार रहते हैं जिससे आप अव्यग्र हैं । आपमें सदा सन्तोष की पूर्णता है अतः अव्यग्र हैं ।

रावण द्वारा कैलास उखाड़ने का प्रयास और अनायास शंभु द्वारा पादांगुष्ठ से ही उसे दबा देना रामायण के उत्तरकाण्ड में (सर्ग १६) वर्णित है । प्रलय में सबके नष्ट होते हुए भी परमेश्वर की अविचलता का शिवानन्दलहरी में (श्लो. ३४) आचार्य ने वर्णन किया है । युद्धों के पौराणिक वर्णनों में सर्वत्र शिव के धैर्य व शान्ति का उल्लेख है । स्थापत्य में इसीलिये शिल्पियों का समय है कि असुरों को मारते हुए भी भगवान् का मुख मुस्कान और सौम्यता वाला ही होता है । अन्य भी अनेक स्थल विकट उपस्थित हुए जैसे विषभक्षण, गंगा-धारण आदि, पर उनमें भी वे विचलित न हुए यह तत्र तत्र विस्तार से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बताया है। पतंजलि महर्षि की खोज है कि संसार के सब सुखों से अधिक सुख सन्तोष में है। यह सर्वथा सत्य अन्वेषण है क्योंकि श्रुति ने ही इसे सत्यापित कर दिया है 'श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य'(तै. २.८.) । यह सन्तोष शिव में नैसर्गिक है । उन्हें कुछ चाहिये नहीं– 'न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति' (महि. ८) । इससे भी वे अव्यग्र हैं ।

प्रयुक्त छंद हंसश्येनी है । 'मो भो न्मौ गौ यदि निगदिता हंसश्येनी'–मगण, भगण, नगण, मगण और दो गुरु वर्ण होने से हंसश्येनी छन्द होता है ।

(९९) दक्षाध्वरहरः –दक्ष के यज्ञ को नष्ट करने वाले । पुराणों में बताया है कि दक्ष ने प्रार्थना कर अम्बा को अपनी पुत्री रूप से जब प्राप्त किया था तभी अम्बा ने यह कह दिया था कि कभी दक्ष श्वसुरता-प्रयुक्त गर्व से शिव का अपमान नहीं करेंगे । दक्ष जब यह भूल गया तो अम्बा ने सतीदेह का परित्याग कर दिया । तब दक्ष के यज्ञ का नाश किया गया । वस्तुतः कर्मवादी ही अपने को अत्यन्त चतुर समझने के कारण दक्ष-अभिमानी होते हैं । उनके किये कर्मकाण्ड शिवप्रसन्नता की जगह अभिमानवर्धक होकर नाश के कारण बनते हैं । अतः वे दक्षाध्वरहर हैं।

शीघ्र फलक मार्ग बताने वाला हर ही दक्षाध्वरहर है । दक्षोऽध्वा दक्षाध्वा, तं राति ददातीति दक्षाध्वरः, स चासौ हरश्चेति दक्षाध्वरहरः । शिवपुराण की वायुसंहिता के उत्तरखण्ड में महर्षि उपमन्यु ने यह मार्ग इन अनति विस्तृत शब्दों में व्यक्त किया है–

ज्ञानं ज्ञेयमनुष्ठेयमधिकारोऽथ साधनम् । साध्यं चेति षडर्थानां संग्रहस्त्वेष संग्रहः ॥
गुरोरधिकृतं ज्ञानं, ज्ञेयं पाशः पशुः पतिः । लिंगार्चनाद्यनुष्ठेयं भक्तैस्त्वधिकृतोऽपि यः ॥
साधनं शिवमन्त्राद्यं साध्यं शिवसमानता । षडर्थसंग्रहस्यास्य ज्ञानात्सर्वज्ञतोच्यते ॥
प्रथमं कर्म यज्ञादे र्भक्त्या वित्तानुसारतः । बाह्येऽभ्यर्च्य शिवं पश्चादन्तर्यागरतो भवेत् ॥
रतिरभ्यन्तरे यस्य न बाह्ये पुण्यगौरवात् । न कर्म करणीयं हि बहिस्तस्य महात्मना ॥
ज्ञानामृतेन तृप्तस्य भक्त्या शैवशिवात्मनः । नान्त र्न च बहिः कृष्ण ! कृत्यमस्ति कदाचन ॥
तस्मात् क्रमेण सन्त्यज्य बाह्यमाभ्यन्तरं तथा । ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य ज्ञानं चापि परित्यजेत् ॥
नैकाग्रं चेच्छिवे चित्तं किं कृतेनापि कर्मणा । एकाग्रमेव चेत् चित्तं कि कृतेनाऽपि कर्मणा ॥
तस्मात् कर्माण्यकृत्त्वा वा कृत्त्वा वान्तर्बहिः क्रमात् । येन केनाप्युपायेन शिवे चित्तं निवेशयेत् ॥
शिवे निविष्टचित्तानां प्रतिष्ठितधियां सताम् । परत्रेह च सर्वत्र निर्वृतिः परमा भवेत् ॥
॥ ११.४६-५५ ॥

इसी घण्टापथ को कोटिरुद्रसंहिता में मुनिसमाज में निश्चित किया उपाय कहा है । तत्रत्य वर्णन है–

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रथमं सद्गुरुं प्राप्य भक्तिभावसमन्वितः । शिवबुद्ध्या करोत्युच्चैः पूजनं स्मरणादिकम् ॥
तद्बुद्ध्या देहतो याति सर्वपापादिको मलः । तदाऽज्ञानं च नश्येत ज्ञानवाञ्जायते यदा ॥
तदाऽहङ्कारनिर्मुक्तो जीवो निर्मलबुद्धिवान् । शङ्करस्य प्रसादेन याति शङ्करताम्पुनः ॥
यथाऽऽदर्शस्वरूपे च स्वीयरूपं प्रदृश्यते । तथा सर्वत्रगं शम्भुं पश्यतीति सुनिश्चितम् ॥
जीवन्मुक्तः स एवासौ देहः शीर्णः शिवे मिलेत् । प्रारब्धवशगो देहस्तद्भिन्नो ज्ञानवान् मतः ॥
शुभं लब्ध्वा न हृष्येत कुप्येल्लब्ध्वाऽशुभं नहि । द्वन्द्वेषु समता यस्य ज्ञानवानुच्यते हि सः ॥
आत्मयोगेन तत्त्वानामथवा च विवेकतः । यथा शरीरतो यायाच्छरीरं मुक्तिमिच्छतः ॥
सदाशिवे विलीयेत मुक्तो विरहमेव च । ज्ञानमूलन्तथाऽध्यात्मं तस्य भक्तिः शिवस्य च ॥
भक्तेश्च प्रेमसम्प्रोक्तं प्रेम्णश्च श्रवणन्तथा । श्रवणाच्चापि सत्संगः सत्संगाच्च गुरु र्बुधः ॥
सम्पन्ने च तथा ज्ञाने मुक्तो भवति निश्चतम् । इति चेज्ज्ञानवान् यो वै शम्भुमेव सदा भजेत् ॥
अनन्यया च भक्त्या वै युक्तः शम्भुं भजेत् पुनः । अन्ते च मुक्तिमायाति नात्र कार्या विचारणा ॥
अतोऽधिको न देवोऽस्ति मुक्तिप्राप्त्यै च शङ्करात् । शरणं प्राप्य यं चैव संसाराद्विनिवर्तते ॥
इति मे विविधं वाक्यमृषीणां च समागतैः । निश्चित्य कथितं विप्रा ! धिया धार्यं प्रयत्नतः ॥ ४३.२६–३८ ॥

शिवगीता में (१३.१७–३१) कृतोपास्तियों के लिए और अकृतोपास्तियों के लिये (अध्य. १४) यही मार्ग विभक्त कर विस्तार से बताया गया है । वैदिक कर्म, वैदिक उपासना सहित वैदिक कर्म, वैदिक कर्मज्ञान समुच्चय, भक्ति, भक्ति-कर्म समुच्चय, भक्ति-ज्ञान समुच्चय–इन छह अध्वाओं से विलक्षण यह दक्षाध्वा है । इनमें स्थित उपयोगी अंशों को लेते हुए वह अमोघ आखिरी कदम वाला है, जिसमें समकाल ही मोक्ष है । यही तो इस मार्ग की दक्षता है कि मार्ग समाप्ति के बाद मोक्ष नहीं, समाप्ति पर ही मोक्ष है । बृहद्भाष्य में कहा है–

'विद्याकालानन्तरितत्त्वाद् ब्रह्मप्राप्तिफलस्य । कथम् ? यथा लोके द्रष्टुश्चक्षुष आलोकेन संयोगो यत्कालस्तत्काल एव रूपाभिव्यक्तिः, एवं आत्मविषयं विज्ञानं यत्कालं तत्काल एव तद्विषयाऽज्ञानतिरोभावः स्यात् ॥' (१.४.१०. पृ. ९८ म. अ. स.)

इसीलिये 'ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरहप्रतियोगित्वं हि ज्ञाननिवर्त्यत्वम्' इस सिद्धि की व्याख्या में गौडाचार्य ने इस नियम की घोषणा की है–'या याऽप्रामाण्यज्ञानादिशून्यसाक्षात्करप्रमा सा स्वसमानविषयका ज्ञान क्षणावृत्तिः' (तृतीयमिथ्या. पृ. २९८ कलकत्ता सं.) । यह मान्य नहीं है कि प्रथम क्षण में ज्ञान उत्पन्न होकर द्वितीय क्षण में अज्ञान को नष्ट करेगा । वैसा हो तो ज्ञानकाल में अज्ञानस्थिति माननी होगी और जब एक क्षण उनका सहभाव होगा तो आगे भी रह जायेगा । अतः मान्य यह नियम है कि जिस काल में जिसका ज्ञान रहता है, उसी काल में उसीका अज्ञान नहीं रहता । तत्त्वज्ञानाधिकरणक्षण अज्ञानानधिकरण होता है क्योंकि वेदान्त में प्रमा और अज्ञान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का विरोध स्वीकार्य है । न्यायरत्नावली में कहा है 'अस्मदीये दर्शनेऽपि प्रमायाः स्वसमानविषयकाऽज्ञानतत्प्रयुक्तदृश्यविरोधित्वनियमः' (पृ. १७७ प्र. द्वा.) तथा विरोध का मतलब ही है युगपत् न रहना । अतः सबसे शीघ्रता वाला यही मार्ग है जो एक क्षण के विलम्ब को भी सहन नहीं करता । इस दक्षाध्वा का उपदेश शंकर ने ही दिया है जिससे वे दक्षाध्वर हैं । अतएव समूल दुःख के हर्ता हैं । किं च यह अध्वा इसलिये भी दक्ष है क्योंकि यह आदि से अन्त तक सुखमय है । दुःखपूर्ण साधना से सुख क्योंकर साध्य होगा ? उपाय-उपेय में तो तालमेल होता है । हर कदम गन्तव्य के कुछ न कुछ निकट ही पहुँचाता है । सुखघन महादेव की ओर ले जाने वाला मार्ग कष्टप्रद हो यह असम्भव है । अध्वा की यह दक्षता उत्पलदेव ने बखूब पहचानी है–

दुःखान्यपि सुखायन्ते विषमप्यमृतायते । मोक्षायते च संसारो यत्र मार्गः स शाङ्करः ॥
(स्तोत्र. २०.१२) ॥

इस वामेतर मार्ग पर प्रसन्नता से चल पड़ना ही दक्षाध्वरहर की उपासना है । हम जहाँ हैं वहीं से इस पर चल सकते हैं यह इसकी सुलभता अनन्य साधारण है ।

पौराणिक अमानुष व मानुष दक्षों के अध्वर अर्थात् यज्ञ के नाशक होने से शम्भु का यह नाम है ऐसी व्याख्या भास्करराय करते हैं–

पुरा देवो दक्ष इति शिव ! तवैकः श्वशुरकः
परो मर्त्यो दक्ष इति विटपिकन्योदरभवः ।
प्रचेतःपुत्रोऽखिलमखफलदाताऽपि च भवां-
स्तयो र्यज्ञौ हा व्यदलयदि'ति दक्षाध्वरहरः ॥१०५॥

हे शिव ! पहले दक्षनामक एक देवता आपका ससुर था, बाद में होने वाला एक दक्षनामक मनुष्य था जो प्रचेता का पुत्र था और विटपिकन्या के गर्भ से उत्पन्न हुआ था । आश्चर्य है कि समस्त यज्ञों के फलदाता होते हुए भी आपने उन दोनों के यज्ञों को नष्ट कर दिया । (दोनों दक्षों के यज्ञों का नाश करने वाले होने से) आप दक्षाध्वरहर हैं ।

श्वशुर शब्द से स्वार्थ में या कुत्सितार्थ में 'क' प्रत्यय है । सतीजनक दक्ष के यज्ञध्वंस की कथा अनेक पुराणों में व महाभारत में आयी है । शिवपुराण-सतीखण्ड में (अध्य. ३२-३७) तथा वायुसंहिता-पूर्वभाग में (अध्य. १८-२३) इसका विस्तार से वर्णन है । कूर्मपुराण-पूर्वभाग में (अध्य. १५) तथा सौरपुराण में (अध्य. ७) भी इसकी प्रस्तुति दर्शनीय है ।

वायुपुराण के पूर्वार्द्ध में (अध्य ३०. श्लो.३८-१६५) कथा आयी है कि एकदा दक्ष ने अपनी अन्य कन्याओं को बुलाया, सती को नहीं और जब वे अनाहूत ही पहुँची

---

१. व्यदलय इतीति मातृकासु दृश्यते । टीकायां व्यदलयदिति ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तो दक्ष ने अपना शिवविद्वेष प्रकट किया जिससे क्षुब्ध भगवती ने दक्षप्राप्त अपने शरीर को छोड़ दिया। यह सूचना पाकर महादेव वहाँ आये और उन्होंने दक्ष को शाप दिया कि वह चाक्षुष मनु के वंश में प्राचीनबर्हि का पौत्र, प्रचेता का पुत्र होकर शाखियों की कन्या में मानव देह से उत्पन्न हो। तदनुसार वह उत्पन्न हुआ, व पुनः दक्ष नाम वाला बना। उस जन्म में उसने अश्वमेध का आयोजन किया और उसमें भी भगवान् शंकर के लिये भाग न रखने का निश्चय किया। उस यज्ञ को भी वीरभद्र द्वारा महेश्वर ने नष्ट किया। इन दोनों दक्षों को व उनके यज्ञों के ध्वंसों को यहां श्लोक में कहा गया है।

कलातन्त्र छन्द है। 'कलातन्त्रं यात्तनसभलघुभि र्गेन सहितम्'–प्रतिपाद यगण, तगण, नगण, सगण, भगण, लघु व गुरु वर्ण हों तो कलातन्त्र छंद होता है। छठे, तेरहवें और सत्रहवें अक्षरों पर यति है। शिखरिणी से इतना ही अंतर है कि छठा अक्षर लघु है।

(१००) हरः –सभी तापों का व पापों का हरण कर व अन्त में मन का भी हरण कर अविद्या को भी हर लेते हैं अतः वे हर हैं। प्रसिद्ध है कि अन्यत्र प्रयुक्त 'हर' शब्द भी शिव को इतना प्रिय होता है कि वे उसका फल दे देते हैं।

द्रोणपर्व में (२०२-१३७) व्यास जी ने अर्जुन को बताया है–

ब्रह्माणमिन्द्रं वरुणं यमं धनदमेव च। निगृह्य हरते यस्मात्तस्माद्धर इति स्मृतः॥

जो हरण करे व जिसका हरण किया जाये वह हर है। ह्रियते हरतीतिवा हरः॥ चरमवृत्ति से उपहित शिव ही सब को हरकर, उपहितरूप स्वयं को भी हर लेने से वे ही निरवच्छिन्न हर हैं। अन्य तो स्वेतर को ही हर पाते हैं, स्व को भी हर लेना हर के ही बलबूते का है। अतः किसी का विचार है–

ह्रियते वा हरते ततो हरो हरते सर्वमखण्डवृत्तिगः।
ह्रियते स्वेन तथा स्वयं भवानुचितं नाम महेश! ते हरः॥

जैसे भेद स्वयं ही भिन्न को व अपने को भिन्न करता है, या जैसे अज्ञान जगदध्यास का व स्वयं अपने अध्यास का प्रयोजक बन जाता है, या जैसे गरम तवे पर पड़ा पानी तवे की गर्मी को मिटाते हुए स्वयं भी समाप्त हो जाता है, वैसे समस्त बाधक स्वयं की भी शान्ति कर लेता है। सर्वज्ञवचन है–

वेदान्तवाक्यजनिता मतिवृत्तिरेवम् उत्पत्तितः सकलमेव भवार्णवाम्बु।
पीत्त्वा स्वयं च खलु शाम्यति दग्धलोह-पीतं यथाऽम्बु चितिमेव तु शेषयित्वा॥
॥सं.शा. ४.२८॥

अमलानन्दाचार्य का भी कथन है 'शुद्धं ब्रह्मेति विषयीकुर्वाणावृत्तिः स्वस्वेतरोपाधिनिवृत्तिहेतुरुदयते, स्वस्या अप्युपाधित्वाऽविशेषात्' (कल्पतरु पृ. ५७)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निवृत्तिहेतु का अर्थ है स्व और स्वेतर जो कोई भी उपाधि है उसकी निवृत्ति का व्याप्य होना । लघुचन्द्रिका में (पृ. २६० वम्वई.) यह व्यक्त है । वस्तुतस्तु जैसे तन्तुनाश पटनाश का प्रयोजक दृष्टचर है, वैसे अविद्यानाश से ही तत्कार्यमनःकार्य चरमवृत्ति का भी नाश हो जाने से किसी शंका को जगह नहीं । मधुसूदनस्वामी ने कहा है 'तन्तुनाशस्य पटनाशप्रयोजकत्वदर्शनेन स्वोपादानाऽविद्यानाशस्यैव तन्नाशकत्वात्' (अ.सि.पृ.८८६ बंवई) । कारणनाशद्वारा स्वनाश होने से कर्तृकर्मविरोध भी नहीं है क्योंकि स्वकर्तृक नाश का कर्म तो कारण ही है, स्व नहीं, स्वनाश तो कारणनाशप्रयुक्त है । एवं च सति कालभेद की आपत्ति भी नहीं क्योंकि तत्वज्ञान काल ही अविद्यानिवृत्ति का काल है । यह नहीं कह सकते कि तब वही काल तत्त्वज्ञान के अभाव का भी काल होगा क्योंकि उस पर प्रश्न होगा कि किस काल को तत्त्वज्ञानाभाव वाला कहा जा रहा है ? तत्त्वज्ञानकाल को या तदितरकाल को ? यदि प्रथम पक्ष है तब वदतोव्याघात है और यदि द्वितीय, तब स्वीकृत है व कथन पिष्टपेषण ही है । वस्तुतः अनिर्वाच्यवाद में ये सभी प्रश्न 'न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नामास्ति' न्याय से परिहृत हैं । इस प्रकार हर का ही यह महत्त्वशाली हरण है जो सबका–स्वयं अपना भी–हरण कर लिया जाता है । इस चरमवृत्ति का लाभ ही परमार्थतः हर की उपासना है ।

क्योंकि शिव का तापादि-हरण स्वभाव है इसलिये इस कुटिल कलिकाल में हर के चरणों में ही निरन्तर मति लगाना व सेवा करना ही कल्याण का एकमात्र उपाय है । अन्य तप आदि इसके संमुख निष्फल हैं । उपमन्यु महर्षि ने संसारभय के रोग की अचूक दवाई हरभक्ति नाम का रसायन बताया है । अन्य तप छोड़ निरन्तर भगवच्चरणोपासन ही वह रसायन है–

वाय्वम्बुभुजोऽपि सतो नरस्य दुःखक्षयःकुतस्तस्य ।
भवति हि सुरासुरगुरौ यस्य न विश्वेश्वरे भक्तिः ॥
अलमन्याभिस्तेषां कथाभिरप्यन्यधर्मयुक्ताभिः ।
येषां न क्षणमपि रुचितो हरचरणस्मरणविच्छेदः ॥
हरचरणनिरतमतिना भवितव्यमनार्जवं युगं प्राप्य ।
संसारभयं न भवति हरभक्तिरसायनं पीत्त्वा ॥

महांभा. अनुशा. १४.१८२–१८४ ॥

अतः भव को रोग समझ चुका हो तो, या भवमें किसी रोग से पीड़ित हो तो, भवरोग की अमोघ औषधि हरभक्ति का सेवन करे । सभी कष्ट सदा के लिये निवृत्त होंगे ।

सृष्टि-स्थिति-संहार करने वाली शिवमूर्तियाँ भव, मृड और हर नाम से प्रसिद्ध हैं । इस दृष्टि से आलवाल की व्याख्या है–

परशिव! जनयसि भव इति भणितः स्थिरमपि रचयसि मृडपदगणितः ।
सुचरमचरमपि चरमगुणधरः प्रहरसि जगदिदमखिलमिति हरः ॥१०६॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हे परमशिव ! स्थावर-जंगम समस्त जगत् को 'भव' इस नाम से कहे गये आप उत्पन्न करते हैं । 'मृड' शब्द से कथनीय आप इसे स्थिर भी रखते हैं । अन्तिम अर्थात् तीसरे गुण का–तमोगुण का–धारण कर समस्त उक्त जगत् का प्रहरण करते हैं अतः 'हर' भी आप ही हैं ।

'सुचरम्' व 'अचरम्' जंगम व स्थावर के वाचक हैं । इन्हीं नामों के इसी वैशिष्ट्य को वेदसारशिवस्तोत्र की समाप्ति में बताया है–

त्वत्तो जगद्भवति देव ! भव ! स्मरारे ! त्वय्येव तिष्ठति जगद् मृड ! विश्वनाथ ।
त्वय्येव गच्छति लयं जगदेतदीश ! लिङ्गात्मके हर ! चराचरविश्वरूपिन् ! ॥

शिवमहिम्नस्तोत्र के उपसंहारमें (श्लो. ३०) भी तत्तद्गुण के उद्रेक से तत्तद् रूपों को लेने वाले परमशिव ही तत्तन्नाम वाले हैं यह सुस्पष्ट किया है–

बहलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमो नमः प्रबलतमसे तत्संहारे हराय नमो नमः ।
जनसुखकृते सत्त्वोद्रिक्तौ मृडाय नमो नमः प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमो नमः ॥

संसार की उत्पत्ति, स्थिति व संहार करने वाला एक परमेश्वर है यह वेदान्त का आधारभूत सिद्धान्त है । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म' (तै. ३.१) । इन कार्यों को विभिन्न देवताओं का मानना श्रौतों के लिये असंभव है । हाँ तत्तत् कार्य करते हुए शिव को यदि उन उन पृथक् नामों से कहा जाये तो कोई विरोध नहीं । बल्कि पुराणों का समन्वय ही इस प्रकार हैं । प्रकृत श्लोक में चरमगुणधरः प्रहरसि कहकर स्पष्ट किया कि प्रहरणार्थ ही चरमगुण का धारण है । इस विषय में सात्त्विक नाम (८५) के विचार में कहा जा चुका है ।

मणिगणनिकर छन्द है । चार नगण व एक सगण हो एवं आठवें और पद्रहवें अक्षरों पर यति हो, तो मणिगणनिकर या मणिगुणनिकर छन्द होता है । वस्तुतः शशिकला छन्द में यति भेद से यह छंद बना है । 'वसुमुनियतिरिति मणिगुणनिकरः' ।

(१०१) भगनेत्रभिद्–भग के नेत्र को फोड़ने वाले । पुराणों में लिखा है कि दक्षयज्ञके समय वीरभद्र के गणों ने भगदेवता का नेत्र नष्ट किया था । वैसे भग का अर्थ होता है जो दो भागों में बँटा हो । अतः दृश्य और द्रष्टा आदि द्वैतभाव में बँटा हुआ दर्शन आदि ही भग है, और उसे चलाने वाला अज्ञान ही भगनेत्र है । उसे नष्ट करने से शंकर भगनेत्रभित् हैं । पूषदन्तमें कष्ट का भाव प्रधान है और भगनेत्र में द्वैतका भाव प्रधान है, अतः अपुनरुक्ति है । इस दृष्टि से ऐश्वर्य आदि छह भग हों या उत्पत्ति आदि छह का ज्ञान हो, तो भी ये सभी अज्ञानसे ही चलते हैं अतः उन सभी का नाशक शिव है । देहस्थ त्रिकोणात्मक मूलादिबन्धत्रय हकाररूप काली के नेत्र का भेद करके शिवशक्तिसामरस्य की प्राप्ति भगनेत्रभेद है जिसका आगमों में प्रतिपादन है व जो गुरुगम्य रहस्य ही है ।

भिद्धातु का विकास भी अर्थ प्रसिद्ध है । अतः 'विदरः स्फुटनं भिदा' (अमर.) आदि कोष में भिदाशब्द का अर्थ स्फुटन-प्रस्फुटित होना–भी दिया है । काव्य में भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri
'भिन्नमिवारविन्द ... वपुः' (कुमा. १.३२) आदि प्रयोग है जहाँ भिन्न का अर्थ विकसित ही है। ऐश्वर्यादि षट्क भग कहा गया है। उस गण का नेता ऐश्वर्य ही है। उसका विकास करने वाले होने से महादेव भगनेत्रभित् हैं। शिवकृपा से शैवों का ऐश्वर्य असीम होता है। शासन की सामर्थ्य ऐश्वर्य है। शासन चाहे स्वयं पर करना हो चाहे अन्यों पर, शासक में ऐश्वर्य के विना उसकी संभावना नहीं। और निःसीम ऐश्वर्य वाले महादेव ही ऐश्वर्य देते हैं। शिव क्योंकि भक्त को अपने से अलग नहीं रखते इसलिये उनका भक्त शिवरूप होने से समग्र ऐश्वर्य वाला स्वतः हो जाता है। इसी सर्वशासकता को शिववेदन का फल श्रुति ने वताया है 'यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात् तस्य देवा असन् वशे' (शु.य.मा.सं. ३१.२१)। शिवविद्या की ऐश्वर्यफलता आचार्य ने दक्षिणामूर्तिस्तोत्र के अन्त में बतायी है--

सर्वात्मत्वमिति स्फुटीकृतमिदं यस्मादमुष्मिन् स्तवे
तेनास्य श्रवणात् तथाऽर्थमननाद् ध्यानाच्च सङ्कीर्तनात्।
सर्वात्मत्वमहाविभूतिसहितं स्यादीश्वरत्वं स्वतः
सिद्ध्येत् तत् पुनरष्टधा परिणतं चैश्वर्यमव्याहतम्॥ श्लो. १०॥

इस पर सुरेश्वराचार्य ने कहा है कि जैसे सर्दी में भोजन बनाने वाले की ठण्ड अग्निसन्निधिवशात् स्वयं ही नष्ट हो जाती है; या जैसे भागते व्यक्ति की छाया अनायास उसके साथ दौड़ती है; या जैसे फूल के साथ खुशबू भी चली आती है, उसी प्रकार पुत्र, पौत्र, गृह, क्षेत्र, धन, धान्य आदि समृद्धियाँ, अणिमादि सिद्धियाँ व अन्य परिच्छिन्न विभूतियाँ शिवभाव के साथ स्वयं ही उपस्थित हो जाती हैं। बल्कि 'तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः' न्याय से शैव पथिक को ही ऐश्वर्यलाभ हो जाता है, गन्तव्य पर पहुँच चुके का क्या कहना? 'नेत्रो नेतरि वाच्यवत्' (विश्व.) आदि कोष से नेत्र शब्द नेतावाचक है। स्वयं पर, अपने देहादि पर व उपस्थित प्रत्येक परिस्थिति पर स्वकीय नियन्त्रण रखना भगनेत्रभित् की उपासना है। परिस्थिति आदि द्वारा शासित होना शैव के लिये अशोभनीय है। समग्र संसार के अपराधीन अखण्ड शासक का स्वयं को गण माननेवाला यदि किसी से नियन्त्रित हो जाता है तो यही सूक्ति चरितार्थ होगी 'तातस्य कूपोयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिवन्ति'। अतः भागवतों को अपना व्यक्तित्व यों विकसित करना चाहिये कि वे नियन्ता वनें, नियन्त्रित नहीं। स्वयं को व अन्यों को शैवमार्ग पर बढ़ाये ले चलना ही अपने पर व उन पर शासन है। सांसारिक दिशा में तो अशासित ही बढ़ते हैं। अतः हर तरह से खुद व स्वकीयों को शिवभक्ति में प्रेरित करना तथा उसमें सफल होने के उपाय ढूँढकर उनका प्रयोग करना ही फलतः यह उपासना है।

महाभारत में (दानपर्व. १६०.१८) बताया है 'भगस्य नयने क्रुद्धः प्रहारेण व्यशातयत्' दक्षयज्ञ विनाश के समय भग की आँखें फोड़ दी गयी थीं। इस लीला के अनुसार आलवाल कहता है--

विष्णुब्रह्माद्यखिलदिविषद्धूते मखमण्डपे वीरं भद्रापतिमुपगतं सुरासुरमर्दनम्।
कोपाटोपादरुणनयनो भगस्तमदीदृशत् तन्नेत्रे स प्रसभमभिनत् ततो भगनेत्रभित्॥ १०७॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विष्णु, ब्रह्मा आदि अखिल देवताओं से व्याप्त यज्ञशाला में आये देवासुरनाशक भद्रा-पति वीर को क्रोधावेश से लाल आँखों वाला हुआ भग-देव बार-बार देखने लगा । अतः उस वीर ने भग की दोनों आँखें बलपूर्वक फोड़ दीं, इससे (वीर-रूपधारी आप) भगनेत्रभिद् हैं ।

दक्षयज्ञ का ही प्रसंग है । वायुसंहिता-पूर्वभाग में (२१.१९) बताया है–
भगस्य विपुले नेत्रे शतपत्रसमप्रभे । प्रसह्योत्पाटयामास भद्रः परमवेगवान् ॥

भद्रापति वीर ही वीरभद्र है । जैसे शिव से वीर उपजा वैसे भगवती से भद्रा यह भी वायुसंहिता पूर्वभाग में (१९.३५) कहा है–

मन्युना चासृजद्भद्रां भद्रकालीं महेश्वरीम् । आत्मनः कर्मसाक्षित्वे तेन गन्तुं सहैव तु॥

सतीखण्ड (३२.२५) के अनुसार शिवजटा के बाल के एक हिस्से से वीरभद्र और दूसरे से महाकाली उत्पन्न हुई थी–

महाकाली समुत्पन्ना तज्जटापरभागतः । महाभयंकरा तात ! भूतकोटिभिरावृता ॥

प्रकृत भद्राशब्द से उसे भी विषय कर सकते हैं । वीरभद्र पर क्रोध प्रकट करने के लिये भग आँखों से उसे घूर रहा था, अतः उसकी आँखें ही वीर ने निकालीं । वीरभद्र शिव का ही अपररूप होने से उसके द्वारा किया कृत्य शिव द्वारा किया ही माना जाता है ।

वृत्त है भाराक्रान्ता । 'भाराक्रान्ता मभनरसला गुरुः श्रुतिषड्हयैः'–प्रतिचरण क्रमशः मगण, भगण, नगण, रगण, सगण, लघु और गुरु वर्ण हों व चौथे, दसवें, सत्रहवें अक्षरों पर यति हो तो भाराक्रान्ता छन्द होता है । पूर्व में (श्लो. ४४) भी इस छंद का प्रयोग है ।

(१०२) **अव्यक्तः**– इन्द्रिय, मन आदि से उनका अपरोक्ष नहीं हो सकता, अतः वे अव्यक्त हैं । सारा संसार बीजरूप से उनकी इच्छा में रहने के कारण भी वे अव्यक्त हैं ।

अव्यक्त की तरह–मूर्ख की तरह–आचरण करने से भी शिव अव्यक्त हैं । 'अव्यक्तः परमात्मनि मूर्खे स्पष्टेतरे च निर्दिष्टः' (हलायुध.) आदि कोष से अव्यक्त मूर्खार्थक शब्द है । अखिल ब्रह्माण्ड नायक का दिगम्वर रहना, श्मशान में रहना, खाट का टूटा पाया रखना, बूढ़े साँड़ पर सवारी करना, टूटा फरसा रखना, साँपों को शरीर पर रखना, राख पोत लेना, जहर पी लेना आदि सभी चरित्र अव्यक्त हैं । परमात्मनिष्ठों के विषय में जाबालोपनिषत् (६) कहती है 'अव्यक्तलिंगा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तः' । सांसारिक लोग समय व्यर्थ करने न आते रहें इस उद्देश्य से विद्वानों की ऐसी चर्या है । शिव भी मुमुक्षुओं के प्रति उपलब्ध रहना चाहने से, बुभुक्षुओं से दूर रहने के लिये अव्यक्ताचार वाले हैं । यद्यपि 'आत्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः' (मुं. ३.१.१०) आदि श्रुति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से ज्ञात होता है कि ब्रह्मवेत्ता लौकिक फल दे सकता है, एवं पूर्वनामोक्त ऐश्वर्यलाभ का फल ही यह है, तथापि वह स्वयं उसे व्यर्थ जानते हुए दूसरे को भी हृदयसे उसे देना चाहता नहीं । इससे बचने का सीधा उपाय ऐसा वेष आदि रखना है कि लौकिक पुरुष निकट न आये । शिव की भी यही स्थिति है । स्मरण मात्र से ऋद्धि, सिद्धि, निधि सब मिलता है, पर वह सब हम लें यह शिव चाहते नहीं, क्योंकि जानते हैं कि यह सब अत्यन्त अनित्य और मोहनस्वभाव है । इसलिये इन्हें चाहने वाला शिव को अमंगल समझ छोड़े रहे, केवल शिवरहस्य का जानकार शैवमार्ग पर चलने के लिये शिव से सहायता माँगे, और वे दें यही उनका इष्ट है । अतएव वे अव्यक्त हैं । इन चर्याओं की अस्पष्टता से भी वे अव्यक्त हैं । इन सभी आचारों से शिव हमें नानाविध शिक्षायें दे रहे हैं, किन्तु वे उपदेश व्यक्त नहीं हैं, केवल गुरुबोध्य व श्रद्धापूर्ण विचार से समझ में आने वाले हैं । श्रुति में अनेकत्र शिव को अव्यक्त नाम से कहा है– 'अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपम्' (कै. १.६), 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपम्' (महाना. १.५) आदि । गीता भी शिवात्मतत्त्व के विषय में इस शब्द का प्रयोग करती है 'अव्यक्तोऽयम्' (२.२५) । शिवकृपा से प्राप्त ऐश्वर्य के प्रदर्शन से दूर रहकर, उसका किसी के सांसारिक लाभ के लिये प्रयोग न कर, केवल पारमार्थिक प्रयोजन से प्रयोग करना अव्यक्त की उपासना है । इसका सीधा उपाय है शिव की तरह ऐसा आचरण रखना कि सांसारिक लोग स्वयं ही दूर रहें ।

दार्शनिक धरातल पर उतरकर भास्करराय इस नाम को समझाते हैं –

साङ्ख्यो मूलप्रकृतिरिति यदाचख्यौ यत्पाराशर्यश्चिदिति गदति तत्त्वं तत् त्वम् ।
सामष्ट्यं चाक्षरमपि भुवि नैव व्यक्तं लिङ्गं बाणाभिधमपि शिव इत्यव्यक्तः ॥१०८॥

जिसे सांख्यवादी 'मूलप्रकृति' ऐसा कहते हैं, और जिसे पाराशर्य मुनि–व्यासजी 'चित्' (आत्मा) ऐसा कहते हैं, वह तत्त्व आप हैं (अतः अव्यक्त हैं) । अखिल प्रपंच की समष्टि शिव है इसलिये, अक्षर शिव है इसलिये, और पृथ्वी में जो व्यक्त नहीं होता है ऐसा बाणनामक लिंग शिव है इसलिये वे अव्यक्त हैं ।

सांख्यदर्शन में मूलप्रकृति को अव्यक्त कहते हैं । व्यक्त प्रपंच से कितना विलक्षण और कितना समान यह अव्यक्त है यह ईश्वरकृष्ण की इन दो (सां. का. १०-११) कारिकाओं से स्पष्ट है –

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं विपरीतमव्यक्तम् ॥
त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥

तथा प्रधान या प्रकृति को कार्यलिंगक अनुमान से इन दो कारिकाओं में (१४-१५) सिद्ध किया है–

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अविवेक्यादिः सिद्धस्त्रैगुण्यात् तद्विपर्ययाभावात् । कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम् ॥

भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च । कारणकार्यविभागादविभागा द्वैश्वरूप्यस्य ॥ कारणमस्त्यव्यक्तम्"...... ॥

यहाँ जो मूलप्रकृति को शिव कहा है उसका अभिप्राय प्रकृति की जगदुपादानता से ही है । अन्य भी कुछ धर्म जैसे अहेतुकता, नित्यता, व्यापकता, निष्क्रियता आदि विवक्षित समझ लेने चाहिये । जाड्य आदि की अविवक्षा को ही द्वितीय पाद से स्पष्ट किया है ।

यह प्रश्न होने पर कि यदि प्रपंचविलक्षण परमात्मा है तो उपलब्ध क्यों नहीं होता ? व्यास जी ने ब्रह्मसूत्र में उत्तर दिया है 'तदव्यक्तमाह हि' (३.२.२३) । सारे दृश्यों का साक्षी होने से वह इन्द्रियों का अविषय है–अव्यक्त है– इसलिये उपलब्ध नहीं होता । इस अव्यक्तता को श्रुतियाँ व स्मृतियाँ कहती हैं । अतः पराशरसुत व्यास चेतन को अव्यक्त कहते हैं ।

संघीभूत समस्त पदार्थ समष्टि कहे जाते हैं । जैसे पेड़ों की समष्टि वन है । हर पेड़ व्यष्टि है । शिव सर्वरूप होने से और सबमें तादात्म्य रखने से समष्टि हैं । जैसा पंचदशी में (१.२५) कहा है–

समष्टिरीशः सर्वेषां स्वात्मतादात्म्यवेदनात् । तदभावात् तदन्ये तु ज्ञायन्ते व्यष्टिसंज्ञया ॥

अक्षर अर्थात् माया भी शिव की शक्ति होने से शिव से अभिन्न है । माया संसार का अव्यक्त रूप है ही, क्योंकि नाम-रूप उसी से व्यक्त होता है ।

वे नर्मदेश्वर जिन्हें यदि सात बार भी तोला जाये तो हर बार उनका वज़न अधिक रहे, बाणलिंग कहलाते हैं ।

सप्तकृत्वस्तुलारूढं वृद्धिमेति न हीयते । बाणलिंगमिति ख्यातं शेषं नार्मदमुच्यते ॥
त्रिपंचवारं यस्यैव तुलासाम्यं न जायते । तदा बाणं समाख्यातं शेषं पाषाणसम्भवम् ॥
॥ वीरमित्रोदय ॥

इसे जब भी तोलें, वज़न बराबर नहीं होता, यही इसकी परीक्षा है । इसकी पूजा का अत्यधिक माहात्म्य है । क्योंकि यह दुर्लभ है इसलिये अव्यक्त कहा ।

कुटिलक छन्द है । 'मो भो न्यौ गौ यदि कुटिलकमुक्तं वृत्तम्'–प्रतिपाद क्रमशः मगण, भगण, नगण, यगण व दो गुरुवर्ण होने पर कुटिलक छन्द बताया जाता है ।

(१०३) सहस्राक्षः –अनन्त आँखों वाले । सृष्टि के प्रणिमात्र की आँखें ईश्वर की ही हैं । अथवा अनन्त प्रकार के अक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष ही सहस्राक्ष हैं । अनन्त ज्ञानरूप से तात्पर्य है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यद्यपि शिव सब के लिये अव्यक्त है, क्योंकि सबकी दृष्टि सीमित है, तथापि शिव के लिये कुछ भी अव्यक्त नहीं, क्योंकि उनकी दृष्टि निःसीम है । अथवा जीवरूप पासों से सृष्टिरूप जुआ खेलने वाले शिव सहस्राक्ष हैं । अक्ष जुए के पासों को कहते हैं– 'अथाक्षमिन्द्रिये, ना द्यूतांगे' (अमर.) । जैसे जुए में पासों की मनगढ़न्त कीमत होती है, वास्तविक कीमत कुछ नहीं, वैसे जीव की भी वास्तविक कोई कीमत नहीं, उसकी अपनी सत्ता ही नहीं है, किन्तु कल्पित कीमत बहुत कुछ है । यह जुआ ही है कि शिव और जीव ने साथ ही साथ माया को पकड़ा, जिसे आवरण हुआ वह बद्ध हो गया और जिसने माया को पकड़कर भी आवरण का अनुभव नहीं किया वह ईश्वर हो गया । यही इस जुए की शर्त है । 'क्रीडामृगास्ते जनाः' (शिवानंदल. ६६), 'मायया मां विभज्य' (आत्मार्पण. ३५) आदि द्वारा यही भाव प्रकट है । पौराणिकों ने भी कहा है–

स्वतः सिद्धं पतित्त्वं मे युष्माकं पशुताऽपि च । तदेव दर्शयाम्यद्य पणबन्धविनोदतः ॥

यद्यपि हमें पासा बनाया है तथापि खेल भी हमसे ही है । जैसे दौड़ आदि में दौड़ने वाले ही जीतने-हारने वाले भी होते हैं, वैसे समझना चाहिये । एवमपि शिव पर वैषम्यादि दोष नहीं क्योंकि पासा व हारने वाला भी है वही, जैसा कि अथर्ववेद के ब्रह्मसूक्त में कहा है 'ब्रह्मेमे कितवा उत' (पैप्पलादशाखा) । खेल की दृष्टि से संसार में प्रवृत्त होना, इसे सच्चा न मान लेना और माया के रहते उसके आवरण से बच निकलने का प्रयास करना सहस्राक्ष की उपासना है ।

'विश्वं शतं सहस्रं च सर्वमक्षयवाचकम्' इत्यादि के अनुसार सहस्र का अर्थ अनन्त और अक्ष का अर्थ इन्द्रियसामान्य मानकर भास्करव्याख्यान है–

अगणितकरचरणशिरोदंष्ट्रोदरयुक् प्रतिभयमाश्चर्यं
युगपत् सृष्टिस्थितिलयकारि च यदवच्छेदकभेदेन ।
क्षेत्रे च सुवर्णाक्षे प्रथितं लिङ्गे शिव ! तव यद्रूपं
बहुविधकर्मज्ञानेन्द्रियपरिपूर्णं तदिति सहस्राक्षः ॥१०१॥

हे शिव ! जो आपका अनगिनत हाथ, पैर, सिर, दाढ़ व पेटों वाला भयानक और आश्चर्यजनक रूप है, तथा जो रूप इकट्ठे ही विभिन्न स्थानों पर सृष्टि, स्थिति और संहार कर लेता है (उस रूप वाले होने से आप सहस्राक्ष हैं); एवं सुवर्णाक्ष क्षेत्र में प्रतिष्ठित लिंग में जो रूप प्रसिद्ध है (उस 'सहस्राक्षेश्वर' रूप वाले भी आप सहस्राक्ष हैं); एवं जो रूप श्रुति आदि में नानाविध कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों से युक्त बताया गया है, वे सब आपका ही रूप हैं, अतः आप संहस्राक्ष हैं ।

श्वेताश्वतरोपनिषत् में (३. ११,१४) वर्णन है–

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः । सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात्सर्वगतः शिवः ॥
सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । स भूमिं विश्वतो वृत्त्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऐसे ही 'सहस्रशीर्षं देवम्' आदि महानारायण में (११.१) है । तथा 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्' (श्वे. ३.३; महाना. २.२) उभयत्र है । गीता के एकादशाध्याय में इसका विस्तृत वर्णन है । यह विश्वरूप प्रतिभय अर्थात् भयानक है–'भयङ्करं प्रतिभयम्' (अमर.)–इसमें सन्देह नहीं क्योंकि इसे देख श्रीराम भी डर गये थे–

दृष्ट्वा रामो भयाविष्टः प्रणनाम पुनः पुनः । उत्पन्नतत्त्वज्ञानोऽपि बभूव रघुनन्दनः ॥
शिवगी. ७.२० ॥

इस रूप का वैशिष्ट्य बताते हुए भट्ट जगद्धर कहते हैं कि यह स्वयं सहस्रशीर्षा है इतना ही नहीं, सहस्रशीर्षा शेषनाग इस मूर्ति का कण्ठाभरण भी है । यह स्वयं ही सहस्रचक्षु नहीं है, सहस्रचक्षु इन्द्र इसके चरणों की सेवा करता है । स्वयं सहस्रपात् होते हुए ही सहस्रपात् सूर्य इस विश्वरूप की दायीं आँख को सुशोभित करता है–

सहस्रशीर्षा पुरुषः पुनातु वः सहस्रचक्षु र्भगवान् सहस्रपात् ।
गलेऽङ्घ्रिमूले नयने च निश्चला-स्त्रयोप्यमी यं पुरुषा उपासते ॥ स्तु. कु. ३८.१ ॥

शम्भु का सहस्राक्षरूप ज्ञानामृत वर्षक भी है । रुद्रसूक्त में अतएव कहा है 'सहस्राक्षाय मीढुषे' (मंत्र ८) । स्मृति में इस रूप के प्रदर्शन के अनन्तर ही ज्ञानोपदेश वर्णित है । इसकी आश्चर्यजनकता में ही हेतु बताया कि यह विविध ब्रह्माण्डों के सृष्टि आदि की इकट्ठे ही व्यवस्था कर लेता है । एक ही क्षण में अनन्त ब्रह्माण्डों को प्रलीन व अनन्तों को ही उत्पन्न होना है । यह सब इसी ऐश्वररूप की महिमा है । यद्यपि शिव को यह सब करने के लिये इस रूप को ग्रहण करना अनावश्यक है, तथापि भक्तों पर कृपा कर वे रूप धर लेते हैं जो यह काम भी कर ले, और उपासकों का पूज्य व ध्येय भी हो जाये ।

आनन्द-नामक मात्रावृत्त का प्रयोग है । 'सार्धैः सप्तगणै र्द्वाविंशत्या वसुभिर्मतमानन्दम्'–

गण-शब्द का अर्थ है चार मात्रायें । अतः साढ़े सात गण का अर्थ है तीस मात्रायें । एवं च प्रतिपाद तीस मात्रायें हों तथा बाइसवीं और तीसवीं मात्राओं पर यति हो तो आनन्द छन्द होता है । प्रस्तुत पद्य में सोलहवीं और तीसवीं मात्राओं पर यति है इतना विशेष है ।

(१०४) **सहस्रपात्**–अनन्त पैरों वाले । सृष्टि के सभी पैर उनके ही हैं । अथवा सभी कर्मेन्द्रियां उनकी ही हैं । अनन्त कर्म वाले से तात्पर्य है । शिव की अनन्त क्रियाशक्ति ही सर्वत्र क्रियारूप में प्रकट है ।

पाद का अर्थ अंश भी है । यद्यपि 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' (अमर.) आदि से चतुर्थांश ही इसका मुख्य वाच्य है तथापि मीमांसादर्शन के अध्यायों के आठ पाद भी मिलते हैं । वेदान्त में पंचपादिका प्रसिद्ध है । अतः प्रयोग से इसका अंशमात्र अर्थ भी समझना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चाहिये । 'अंशो नाना व्यपदेशात्' (ब्र. सू. २.३.४३) इत्यादि बादरायण-निर्धारित शास्त्रसम्मत न्याय से जीव ही मानो शिव के सहस्रों अंश हैं जिससे वे सहस्रपात् हैं । शिव और जीव का यद्यपि अत्यन्त अभेद ही शास्त्र का अभिप्राय है, तथापि अत्यन्त अभेद शोधित जीवस्वरूप का विवक्षित है, और हमारे सामान्य अनुभव में अभी अशोधित रूप ही आता है, इसलिये व्यावहारिक दृष्टि से भेदाभेद मान सकते हैं। जीव अपने अशुद्ध रूप में भिन्न व शुद्ध रूप में अभिन्न है । अशुद्ध रूप व भेद कल्पित होने से सिद्धान्त की हानि नहीं । जिस रूप से हम स्वयं को शिव से भिन्न मान रहे हैं उस रूप से तो कभी अभेदज्ञान होना नहीं, क्योंकि वह रूप ही कल्पित है, और कल्पित का अकल्पित से अत्यन्त अभेद है ही नहीं । उस कल्पित रूप से स्थित हम ही शिव के काल्पनिक अंश हैं । जब तक अंश कल्पना है तब तक शिव में अंशित्व कल्पना है, वे सहस्रपात् हैं । शिव के इस नाम से जीव के आत्यन्तिक व वास्तविक भेद का प्रत्याख्यान हो जाता है । स्वयं को शिव से अनतिरिक्त मानना, चिन्तन करना ही सहस्रपात् की उपासना है । अथवा सहस्रों मूलभूत प्रकार हैं, जिनसे शिव समझे जा सकते हैं । पाद शब्द का अर्थ मूल भी है 'पादो मूलेऽस्त्रतूर्यांशाङ्घ्रिषु प्रत्यन्तपर्वते' (हैम.) । पहले तो सहस्रों श्रुतियाँ हैं जिनका रहस्य समझने पर शिव ही हाथ लगेगा । प्रत्येक श्रुति किसी न किसी ढंग से शिवबोधिका है । फिर स्मृति, इतिहास, पुराण, आगम आदि हैं जो विविध प्रक्रियाओं के सहारे शिवबोधन में व्यापृत हैं । पाशुपत, प्रत्यभिज्ञा, पातञ्जल, मीमांसा आदि अनेक दर्शन अपने-अपने अधिकारियों को शिवतत्त्व समझा रहे हैं । न्यायदर्शन ने तो अकाट्य युक्तियों का किला ही खड़ा कर दिया है जिससे ईश्वरसिद्धि समझी जाती है और शिवतत्त्व में तो अनुभव भी प्रमाण है । शिवस्वरूप का अनुभव समाधि आदि में ध्याननिष्ठों ने तथा भक्तों ने प्रत्यक्ष ही किया है । सिद्ध तो स्वयं शिवरूप होने से खुद ही प्रमाण व प्रमेय हैं । अन्य साधकों के लिये शिव की वास्तविकता में जीता जागता प्रमाण सिद्ध गुरु ही है, व गुरु स्वयं प्रमेय होकर प्रमाणादि त्रिपुटी से अतीत हो चुका है । विचारमार्ग के दो पक्ष हैं—शास्त्रपक्ष और तर्कपक्ष । दोनों पक्षों में सहस्रों मौलिक प्रकार शिवावगति के हैं । साधनामार्ग के भी योग व भक्ति—ये दो पक्ष हैं तथा इनमें भी हज़ारों उपाय गुरुगम्य हैं जिनसे शिवलाभ होता है । एवं च सहस्रों मूलों वाले होने से शिव सहस्रपात् हैं । प्रथमतः यथासंभव मूलों के सहारे व बाद में किसी एक मुख्य मूल के सहारे शिवनिश्चय का प्रयास सहस्रपात् की उपासना है ।

पादशब्द को किरणार्थक मानकर हज़ारों किरणों वाली सूर्यमूर्ति सहस्रपात् नाम से कही गयी है ऐसी व्याख्या आलवाल में है—

जगदवनार्थमष्टसु धृतासु मूर्तिषु स्मरहर ! भास्करस्य तव मूर्तिरष्टमी ।
गणनपथातिगाङ्घ्रिमय—विश्वरूपधृक् ! श्रुतिगदितोऽसि शङ्कर ! ततः सहस्रपात् ॥ ११० ॥

हे कामनाशक शंकर ! संसार के रक्षणार्थ धारण की हुई आपकी आठ मूर्तियों में सूर्यमूर्ति आठवीं है, (उस मूर्ति वाले आप सहस्रपात् हैं) । गिनती न की जा सके इतने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चरणों वाले विश्वरूप का धारण करने वाले आप (होने से आप सहस्रपात् हैं)। श्रुति में भी आप इस नाम से कहे गये हैं, अतः आप सहस्रपात् हैं।

'उर्वी-नीर-समीरणा-ऽरुण-शिखि-व्योमा-ऽऽत्म-सोमात्मकैरष्टाभि र्विभवै र्बिभर्ति भुवनम्' (स्तु. कु. ८.५२) आदि से आठों मूर्तियाँ याद की जा सकती हैं। 'भास्करस्य मूर्तिस्तवाष्टमी मूर्तिः' यों मूर्तिपद का द्विविध अन्वय समझना चाहिये। अथवा भास्करस्य में अभेदार्थक षष्ठी है: भास्कराभिन्ना मूर्तिस्तवाष्टमी मूर्तिरित्यध्याहारः। मूर्तिषु में निर्धारण होने से आठवीं भी मूर्ति ही हो सकती है। द्वितीय व्युत्पत्ति में पाद शब्द चरणार्थक ही है। विश्वरूप में अनन्त चरण हैं ही। श्रुति पूर्वनामव्याख्यान में कही जा चुकी है। 'सहस्राक्षः सहस्रपात्' (शु. य. मा. सं. ३१.१) आदि पुरुषसूक्त भी समझ लेना चाहिये।

प्रभद्रक छन्द है। 'भवति नजौ भजौ रसहितौ प्रभद्रकम्'–प्रतिचरण क्रमशः नगण, जगण, भगण, जगण, और रगण होने से प्रभद्रक छंद होता है।

(१०५) अपवर्गप्रदः –मोक्ष देने वाले। शिव ही ज्ञान द्वारा मोक्ष देते हैं।

पाप, फलाशा, बीभत्सा, भ्रम और मोह–इन पाँचों से रहित को अपवर्ग कहते हैं। उसे देने वाले शिव हैं। इसमें भी वैशिष्ट्य यह कि सबको अपवर्ग बाँटने वाले का स्वयं का शरीर पवर्ग वाला ही है–

पिनाक-फणि-बालेन्दु-भस्म-मन्दाकिनीयुता। पवर्गरचिता मूर्तिरपवर्गप्रदास्तु वः॥

जिससे संसार का वर्णन किया जाता है वह शिवात्मैक्य ज्ञान भी अपवर्ग है। अपवृज्यते संसारोऽनेनेति। दक्षिणामूर्ति आदि रूपों से ज्ञान देने वाले होने से भी महादेव अपवर्गप्रद हैं। अथवा वर्गान् वर्जयित्वा अर्थ में अपवर्ग शब्द बनता है। त्रिपुटियाँ ही वर्ग हैं, उन्हें छोड़ केवल एक मात्र शिवतत्त्व रहता है। वह है तो शिवस्वरूप ही पर पराभक्ति से प्रसन्न हुए महादेव उसे भी दे देते हैं अतः अपवर्गप्रद हैं। अपवर्ग या मोक्ष कुछ प्राप्तिरूप नहीं, केवल अविद्यानिवृत्तिरूप है, परमानन्द-प्राप्ति तो नित्यसिद्ध का अनुवादमात्र है। आनन्द आत्मस्वरूप होने से नित्यप्राप्त है। उसकी प्राप्ति का अर्थ है तद्विषयक आवरण की निवृत्ति। अतः अविद्यानिवृत्ति ही मोक्षप्राप्ति है। इस निवृत्ति की प्रयोजिका है विद्या। एवं च अपवर्गप्रद का अर्थ ज्ञानप्रद ही होता है। 'अविद्यानिवर्तकं च ''''श्रवणादिसाध्यापरोक्षवृत्तिसमारूढं तदेवं' (अ. सि. पृ. ८८५ बंबई) कहकर सरस्वतीजी ने शिव की अविद्यानिवर्तकता व्यक्त की है। सदृष्टान्त यह विषय वार्तिककार ने ही स्पष्ट कर दिया है–

तृणादेर्भासिकाप्येषा सूर्यदीप्तिस्तृणं दहेत्। सूर्यकान्तमुपारुह्य तन्न्यायं विनियोजयेत्॥

इस प्रकार शिव की अपवर्गप्रदता निर्विवाद है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सालोक्यादि कैवल्यान्त पंचविध अपवर्गों के प्रदाता के रूप से इस नाम की आलवाल में व्याख्या है–

प्रतीकविदहंग्रहो भृतक इत्युपास्ति र्निजाद्‌ विधेः शिवसलोकताशिवतदात्मतासाष्टिताः । भवन्ति ससमीपता अमृततात्मविज्ञानतोऽ–खिलं फलमतो भवेदिति मतोऽपवर्गप्रदः ॥ १११ ॥

प्रतीकोपासना, अहंग्रहोपासना, सेवकभाव से उपासना, और अपने को विषय करने वाली विधियों का पालन रूप कर्मोपासना से क्रमशः शिवसालोक्य,शिवसायुज्य, शिवसारूप्य और शिवसामीप्य रूप मोक्ष प्राप्त होते हैं । आत्मानुभव से अमृततारूप कैवल्यमोक्ष होता है । सारे अपवर्गफल परमशिव से प्राप्त होते हैं अतः वे अपवर्गप्रद स्वीकारे गये हैं ।

उपासना का सामान्य लक्षण शिवगीता में है–

ज्ञानान्तरानन्तरितसजातिज्ञानसंहतेः । सम्पन्नदेवतात्मत्त्वमुपासनमुदीरितम्‌ ॥ १२.१६ ॥

उपास्याकार वृत्ति लगातार बनी रहे, न किसी अन्याकारवृत्ति से व्यवधान हो और न ही वृत्तिशून्य अवस्था हो, और उपास्य के साक्षात्कार तक यह अभ्यास चलता रहे, इसे उपासना कहते हैं । आचार्यों ने भी कहा है (वृ. भा. १.३.९)–

'उपासनं नाम–उपास्यार्थवादे यथा देवतादिस्वरूपं श्रुत्त्या ज्ञाप्यते तथा मनसोपगम्य आसनं चिन्तनं लौकिकप्रत्ययाऽव्यवधानेन यावत्तद्‌देवतादिस्वरूपात्माभिमानाभिव्यक्तिरिति लौकिकात्माभिमानवत्‌ ।'

इस दृष्टि से ध्यान ही उपासना है । किन्तु पूजादि भी उपासना रूप से प्रसिद्ध है, अतः भाष्यकार ने एक व्यापकस्वरूप भी उपासना का वताया है (बृ. भा. १.४.१० पृ. १०२ म. अ. सं.)–

'उपास्ते–स्तुतिनमस्कारयागवल्युपहारप्रणिधानध्यानादिनोपास्ते तस्या गुणभावमुपगम्य आस्ते ।'

उपास्य के लिये चेष्टाऐं करना ही उपासना है, वे चेष्टाऐं चाहे बाह्य क्रियायें हो चाहे आन्तरध्यान । उपासना के चार भेद प्रसिद्ध हैं–संपत्‌, अध्यास (प्रतीक), संवर्ग और कर्मांग संस्काररूप । शिवगीता में (१२-११-१४) कर्मांग संस्काररूप उपासना को छोड़ उसकी जगह अंग में अंगी की दृष्टिरूप अध्यासविशेष को आरोप नाम से कहा है–

**अल्पस्य चाधिकत्त्वेन गुणयोगाद्विचिन्तनम्‌। अनन्तं वै मन इति संपद्विधिरुदीरितः ॥
विधावारोप्य योपासा साऽऽरोपः परिकीर्तितः । यद्वदोङ्कारमुद्गीथमुपासीतेत्युदाहृतः ॥
आरोपो बुद्धिपूर्वेण य उपासाविधिश्च सः । योषित्त्यग्निमति र्यत्तदध्यासः स उदाहृत ः ॥
क्रियायोगेन चोपासाविधिः संवर्ग उच्यते । संहृत्य वायुः प्रलये भूतान्येकोवसीदति ॥**

भामती में (१.१.४. पृ. १२२) चारों उपासनविधाओं का संक्षिप्त परिचय कराया गया है–

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(१) यथा वृत्त्यनन्तत्त्वेन मनसो विश्वेदेवसाम्याद्विश्वान्देवान्मनसि सम्पाद्य मन आलम्वनमविद्यमानसमं कृत्वा प्राधान्येन सम्पाद्यानां विश्वेषामेव देवानामनुचिन्तनं (सम्पत्) ।''''

(२) अध्यासे तु आलम्वनस्यैव प्राधान्येनैवारोपिततद्भावस्यानुचिन्तनं यथा मनो व्रह्मेत्युपासीत''''।

(३) क्रियाविशेषयोगात् (संवर्गः)'''यथा 'वायु र्वाव संवर्गः' 'प्राणो वाव संवर्गः'; बाह्या खलु वायुदेवता वह्न्यादीन् संवृङ्क्ते,'''अध्यात्मं च प्राणः'''सर्वाणि वागादीनि संवृङ्क्ते''''।

(४) (कर्मांगसंस्काररूपम्–) यथा दर्शपूर्णमासप्रकरणे 'पत्न्यवेक्षितमाज्यं भवती'ति समाम्नातं, प्रकरेणना च गृहीतमुपांशुयागाङ्गभूताज्यद्रव्यसंस्कारतयाऽवेक्षणं गुणकर्म'''''' ।'

इस प्रसिद्ध विभाजन से हटकर प्रकृत श्लोक में चातुर्विध्य माना गया है । इसका संभवतः मूल है विद्यारण्यस्वामी की सूतसंहिताटीका (३.२.२८) । वहाँ मुक्तियों के उपायरूप से उन्होंने इस क्रम को ही माना है और श्रौत विधियों को अनुकूल बनाया है । प्रतीकोपासना तो प्रसिद्ध है–प्रतिमादि किसी शास्त्रोक्त प्रतीक में (देवतास्मारक में) देवतादृष्टि करना । प्रतीक वस्तुतः निकृष्ट है, उसमें उत्कृष्ट देवतादि की दृष्टि की जाती है । इसका यहाँ फल बताया है सालोक्य । उपास्य के समान लोक में निवास सालोक्य है । प्रतीक के विना ही अपने से देवता को पृथक् मानकर 'वह ऐश्वर्यविशेष वाला है' इस तरह उपासना करने का सार्ष्टिता अर्थात् सारूप्य फल है । देवता के समान रूप की प्राप्ति सार्ष्टिता है । इस उपासना को प्रकृत में सेवक भाव से उपासना करना कहा है । 'विशेषताओं सहित देवता मैं ही हूँ' ऐसी उपासना अहङ्ग्रहोपासना है, जिसका फल देवतातादात्म्य रूप सायुज्य है । अपने लिये विहित कर्म ही करे व साथ ही ब्रह्मचारी रहे तो इष्ट से सामीप्य रूप मोक्ष होता है । ये चारों क्रियाजन्य स्वर्गतुल्य औपचारिक मोक्ष हैं । ज्ञान से अज्ञाननिवृत्तिप्रयुक्त नित्यनिरतिशय आनंद की अभिव्यक्ति कैवल्य मोक्ष है । यही मुख्य मोक्ष है । इसे भी सूतसंहिता में बताया है (३.२)–

एषैव परमा मुक्तिः प्रोक्ता वेदार्थवेदिभिः । अन्याश्च मुक्तयः सर्वा अवराः परिकीर्तिताः ॥
जन्मनाशाभिभूताश्च तारतम्येन संस्थिताः । स्पर्धयोपहता नित्यं परतन्त्राश्च सर्वदा ॥
सुखोत्तरा अपि श्रेष्ठा दुःखमिश्राश्च सर्वदा । एताश्च मुक्तयोऽन्येषां केषांचिदधिकारिणाम् ॥
विश्रान्तिभूमयः साक्षान्मुक्तेः प्रोक्ताः क्रमेण वै । ३५–३८ ॥

द्वितीय चरण में तदात्मता और सार्ष्टिता शब्दों का द्वन्द्व समास कर शिवशब्द

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से तत्पुरुष समास है। द्वन्द्वादि में होने से शिव का सार्ष्टिता से भी सम्बन्ध है। यों बने शिवतदात्मतासार्ष्टिता शब्द का पुनः शिवसलोकता शब्द से द्वन्द्व है। ये तीनों समीपता के साथ चार अवर मोक्ष हैं। इस प्रकार शब्द योजना समझ लेनी चाहिये। श्रुति में तत्र-तत्र (छां. २.२०.२; बृ. १०.५०.२३; महाना-१२.३) इन नानाविध मुक्तियों का नाम लेकर इनके साधनों को बताया है।

पृथ्वी छन्द है। 'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' प्रतिपाद जगण, सगण, जगण, सगण, यगण, लघु व गुरु वर्ण हों तथा आठवें और सत्रहवें वर्णों पर यति हो तो पृथ्वी छंद होता है।

(१०६) अनन्तः —देश, काल, वस्तुरूपी तीनों परिच्छेदों से रहित होने से शिव अनन्त हैं।

अन्तर् मध्यार्थक अव्यय है 'अन्तः स्वीकारमध्ययोः' (मेदिनी)। अतः जो मध्य में नहीं वह अनन्तर् है। शिव संसार के मध्य नहीं हैं। अधिष्ठान कभी अध्यस्त के बीच रहे यह असंभव है; अधिष्ठान के लिये तो अध्यस्त शशशृंग की तरह है ही नहीं। सदादि रूप से शिव की प्रतीति भी प्रतीतिमात्र ही है, वस्तुतः प्रपंच ही नहीं है जिसमें शिव का सद्रूप से अनुवेध हो। भ्रम में सत्य का दर्शन कथमपि नहीं होता। क्योंकि—

अध्यस्तमेव हि परिस्फुरति भ्रमेषु नान्यत् कथंचन परिस्फुरति भ्रमेषु।
रज्जुत्वशुक्तिशकलत्वमरुक्षितित्वचन्द्रैकताप्रभृतिकाऽनुपलम्भनेन ॥सं.शा. १.३६॥

अतएव अन्योन्याध्यास स्वीकृत है। इसी तरह जीवरूप से शरीर में भी शिव नहीं हैं। शरीर ही नहीं है जिसमें शिव प्रविष्ट हों। संसार में प्रतीयमान सुख भी शिवरूप नहीं क्योंकि वह वस्तु ही वस्तुतः नहीं तो उसमें सुखरूप शिव का निवास अशक्यशंक है। कल्पलता के अवसान में इस परमार्थ अजातवाद की सूचना के लिए अनन्त नाम है। क्योंकि यह चरमानुभवैकगम्य है इसलिये इस पर प्रायः अधिक विचार करना निष्फल समझा जाता है। समझने के लिये उपयोगी विवर्तादि वाद हैं। उन्हीं के अनुसार प्रायशः विचार करना सार्थक होता है। अतएव कह दिया जाता है कि प्रपंच के हर अंश में परमेश्वर है। जब तक हमें प्रपंच की प्रतीति है तब तक यही प्रणाली है। किन्तु वास्तव में शिव अनन्त है। अथवा अन्त स्वरूप को कहते हैं—'अन्तः स्वरूपे नाशे ना न स्त्री शेपेऽन्तिके त्रिषु' (मेदिनी.)। तथा नञ् सादृश्यार्थक है। इस प्रकार अनन्त का अर्थ है—स्वरूपसदृश। शिव का स्वरूप जीवस्वरूप के सदृश ही है। दोनों की सच्चिदानन्तरूपता समान है। अल्पता व आनन्त्य का प्रातीतिक भेद अवश्य है। शिव की उपासना उन्हें अपने स्वरूप की तरह अपरोक्ष ही समझ कर करनी चाहिये। यह उपासना होने पर भी सत्यविषयक होने से मोक्षप्रद हो सकती है। इस विषय में पंचदशी के (९.१२३,१५५) ये वचन स्मरणीय हैं—

यथा संवादिविभ्रान्तिः फलकाले प्रमायते। विद्यायते तथोपास्ति मुक्तिकालेऽतिपाकतः॥
अनुभूतेरभावेऽपि ब्रह्मास्मीत्येव चिन्त्यताम्। अप्यसत् प्राप्यते ध्यानान्नित्याप्तं ब्रह्म किं पुनः॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पद्य व्याख्यान है–

नात्रेति विभो ! नेदानीमिति नेदं ब्रह्मेति न वाचो यत्र प्रसरन्ति ।
नास्त्येव गुणानामन्तो न विभूतेः शेषोऽसि धराधृत्तेन त्वमनन्तः ॥११२॥

हे विभो ! 'यहाँ', 'अब' या 'यह'–इस तरह जो देश, काल या वस्तु की सीमा में बँधा नहीं वह ब्रह्म आप हैं अतः अनन्त हैं । जिसे विषयकर वाणी प्रवृत्त नहीं होती वह ब्रह्म आप हैं अतः (वाग्विषयतारूप परिच्छेद से रहित होने के कारण आप) अनन्त हैं । अथवा आपके गुणों की औंर विभूतियों की सीमा नहीं अतः आप अनन्त हैं । पृथ्वी का धारण करने वाले शेष भी आप ही हैं इसलिये भी अनन्त हैं ।

प्रथमार्ध का टीकानुसारी अर्थ है–'यहाँ ब्रह्म नहीं है', 'अब ब्रह्म नहीं है' या 'यह ब्रह्म नहीं है' इस प्रकार की बात जिसके बारे में नहीं कही जा सकती ऐ से होने से आप अनन्त हैं ।

जिसमें सव देशकालादि हैं उसे किस देशादि में समझा जाये ? सवका धारण करने वाली धरा का भी धारण करने वाले का धारण कौन करे ? जिसके होने से 'अव', 'तब', 'जव' आदि रहते हैं, वह कव हो ? जिसमें 'यह', 'वह' आदि हैं, वह क्या हो ? अतः शिव का आनन्त्य अर्थसिद्ध है । वाणी जिसे विषय करती है वह सीमित वस्तु ही है । विषयता भी एक सीमा विशेष ही है । अदृश्य व अचिन्त्य को भी विषय कर लेने वाली वाणी शिव की ओर बढ़ने पर कुण्ठित हो जाती है । अनन्त को सान्त करने का दुःसाहस आखिर कैसे करे ? समस्त अप्रधानों के एकमात्र अधिष्ठान होने से शिव की अनन्तगुणता में क्या शंका ? विभूतियों के लिये तो स्वयं ही भगवान् ने कहा है–

दृश्यन्ते पंचभूतानि येन लोकाश्चतुर्दश । समुद्राः सरितो देवा राक्षसा ऋषयस्तथा ॥
दृश्यन्ते यानि चान्यानि स्थावराणि चराणि च । गन्धर्वाः प्रमथा नागाः सर्वे ते मद्विभूतयः ॥
शिवगी. ६०५-६॥

भगवद्गीता में भी 'नान्तोस्ति मम दिव्यानां विभूतीनाम्' (१०.४०) कहा ही है । पूर्व में (नाम ८१) शेषरूप शिव का प्रसंग दिखाया जा चुका है ।

दक्षिणामूर्ति की सर्वविध अनन्तता बतायी गयी है ।

यस्यान्त र्नादिमध्यं न हि करचरणं नामगोत्रं न सूत्रं नो जाति र्नैव वर्णो न भवति पुरुषो नो नपुंसं न च स्त्री ।
नाकारं नैवकारं न हि जनिमरणे नास्ति पुण्यं न पापं तत्त्वं नो तत्त्वमेकं सहजसमरसं सद्गुरुं तंनमामि ॥

हाथ आदि शरीर सीमा बनता है । शिव निःशरीर होने से अनन्त हैं । नाम, गोत्र आदि सभी परिच्छेदक हैं । सूत्र से गोभिल आदि स्वकीय परंपरा में मान्य श्रौतादि सूत्रों को समझना चाहिये । एवकार व्यवृत्त्यर्थक होता है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परिच्छिन्न ही स्वेतर से व्यावृत्त किया जा सकता है। अपरिच्छिन्न के लिये एवकार व्यर्थ ही नहीं असंभव है। वे तत्त्व अर्थात् वास्तविक होते हुए भी अतत्त्व हैं क्योंकि नित्य अपरोक्ष होने से उनमें तत्-ता (वह पना) नहीं है। तत्-अतत् के भेद वाला ससीम होगा। अनन्त की शिवनामता में 'अनन्तश्चात्मा विश्दरूपः' (श्वे. १.९), 'अनन्तमव्ययं कविं···· विश्वशम्भुवम्' (महाना. ११.७) आदि श्रुतियां प्रमाण हैं।

मणिमाला वृत्त है। 'त्यौ त्यौ मणिमाला छिन्ना गुहवक्त्रैः'–प्रतिपाद क्रमशः तगण, यगण, तगण व यगण हों तथा (गुह के मुँह अर्थात्) छह-छह अक्षरों पर यति हो तो मणिमाला छन्द होता है।

(१०७) तारकः –जावालोपनिषत् में संसार-समुद्र से काशी क्षेत्र में सवको तारने से शिव को तारक माना है। अथवा प्रणवरूप तारक मन्त्र का उपदेश देने से वे भी प्रणवार्थ रूप तारक हैं। तारकेश्वर महादेव प्रसिद्ध हैं।

तार्यते विस्तार्यतेऽनेनेति तारः स्वार्थे कन्। जो वस्तुतः अनन्त हैं वे ही इस सारे प्रातीतिक संसार को फैलाते हैं। माया या मिथ्या का यही भाव है कि वास्तविक अजातता रहते हुए ही प्रातीतिक विश्वविस्तार और तदपेक्षया तारक है। तारक रूप से समझने पर भी शिव हैं अनन्त। अतएव बादरायणाचार्य ने निर्विशेष परमात्मतत्त्व की जिज्ञासा की प्रतिज्ञा कर उसी का लक्षण, जिससे जगत् का जन्मादि होता है वह ब्रह्म है, बताया। इसी तरह यहां भी अनन्त के साथ ही तारक कह दिया। अनन्त रूप से अवस्थिति के लिये तारक से ही प्रारंभ करना आवश्यक है। कर्म, उपासना व ज्ञान–तीनों तारक को मानकर ही हैं। तारक स्वयं अनन्त होने से वस्तुतः सत्य है, केवल तारक रूप से सापेक्ष है। है तारकता अनन्तता के लिये ही। 'उपायः सोऽवताराय' (मां. का. ३.१५) यह गौडपादाचार्य की स्पष्टोक्ति है। किं च तारक कहकर आरम्भवाद का निषेध कर दिया, क्योंकि सिमटे कपड़े को फैलाने की तरह ही जगद्विस्तार है। यह भी परमर्षि ने तदनन्यत्वाधिकरण में 'पटवच्च' (ब्र. सू. २.८.१९) कहकर स्थापित किया है। एवं इससे मायिकता और दृढ होती है। इस प्रकार 'तारकः कर्णधारके' (हैम.) आदि कोषानुकूल निमित्तकारणता तारक से कही है। तार्यत इति–यह भी व्युत्पत्ति है। इससे उपादानता समझ लेनी चाहिये। 'वहु स्याम्' (छां. ६.२.३) आदि अनुकूल श्रुतियाँ भी याद कर लेनी चाहिये। उपासक प्रपंच विस्तारक रूप से शिव का ध्यान करे व मुमुक्षु तत्पदार्थ का स्पष्ट वोध करे यह इस नाम के उपदेश का प्रयोजन है।

तॄ प्लवनतरणयोः (भ्वा. प. से.) धातु से णिच्पूर्वक ण्वुल्प्रत्यय कर तारयतीति व्युत्पत्ति से संसारसागर से तार देने वाले महादेव तारक हैं, इस अभिप्राय से भास्करीय अर्थ है–

तव पदकमले भजन्तो जनास्तारिता यत्त्वया भवजलनिधितो महादेव ! ताराख्यवर्णात्मकः ।
प्रणवमुपदिशन् द्विजान् काशिकायां परेतानपि श्रुतिषु निगदितस्तदन्वर्थनामा भवांस्तारकः ॥११३॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हे महादेव ! क्योंकि आपके द्वारा आपके चरणकमलों का भजन करते हुए लोग भवसागर से तार दिये गये इसलिये आप तारक हैं। तार नामक अक्षर–ॐकार–आपका स्वरूप होने से भी आप तारक हैं। काशी में मरे द्विजों को भी प्रणव का उपदेश देते हैं अतः आप तारक हैं। (चाहे जैसे समझें) श्रुतियों में बताये आप अपने नाम के अनुरूप स्वरूप वाले तारक हैं।

द्वितीय व्याख्या में तार एव तारकः व्युत्पत्ति है। 'य ओङ्कारः······तत्तारम्' (अथर्वशिरः २.३) आदि उपनिषत् तारशब्द की प्रणवार्थता में प्रमाण है। 'परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः' (प्रश्न. ५.२) 'प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः' (मां. का. १.२६) आदि श्रुति स्मृति तार की शिवरूपता में प्रमाण है। 'मरे' का अर्थ है 'मरते हुए'। जाबालोपनिषत् में कहा है 'प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृतीभूत्वा मोक्षीभवति'। 'द्विजों को' इसलिये कहा कि अन्यों को प्रणवाधिकार न होने से अन्य तारक मंत्र के उपदेश से मुक्त करते हैं। मुक्तिकोपनिषदादि में प्रणवेतर तारकमंत्र भी वर्णित हैं। श्रुति में 'नमस्ताराय' (तै. रुद्र. ८) आदि से शिव तार नाम से कहे गये हैं।

छन्द का नाम है लालसा। 'दशवसुविरतिर्ननौरैश्चतुर्भिर्युता लालसा'–प्रतिचरण दो नगण और चार रगण होने पर व दसवें और अठारहवें अक्षरों पर यति होने पर लालसा छन्द होता है।

(१०८) परमेश्वरः –सबसे परे ईश्वर। उनसे बड़ा या भिन्न कोई ईश्वर न होने से वे परमेश्वर कहे जाते हैं।

समस्त नामों से व अनुपद अनन्त और तारक से फलीभूत अर्थ परमेश्वर कहकर प्रकट किया है। जितने प्रकार की परमतायें समझी जा सकती हैं, सब शिव में हैं। संसार से परे होने से वे स्वरूपतः परम हैं। सांसारिक सीमायें उनमें समाप्त होने से वे लोकदृष्ट्या भी परम है। शास्त्र भी उन्हीं को पर कहता ही है। प्रत्यगात्मा होने से वे ही परम अन्तरंग भी हैं। और ईश्वर, सृष्टि, बन्धन, मोक्ष आदि में स्वतन्त्र वे ही हैं। महेश्वर (नाम २), अनीश्वर (नाम ४५) और विश्वेश्वर (नाम ५४) में कही बातों का यहाँ निगमन है। परम कह कर शिव ही सत्य बता दिये। ईश्वर ही परम अर्थात् सत्य है कहकर प्रपंच को मिथ्या घोषित कर दिया। और ईश्वर के अतिरिक्त कोई परम अंतरंग नहीं यह कहने से जीव ईश्वर की एकता बता दी। आत्मा–इस मध्यम पद का लोप भी समझा जा सकता है। एवं च समस्त वेदान्त रहस्य प्रकट करने वाला यह अन्तिम नाम है। कर्म करने वाले उसे शासक समझ परमेश्वर वशवर्ती रहें। भक्त उनकी परमता के चिन्तन में मग्न रहे। मुमुक्षु उनकी परम अन्तरंगता समझ कर मुक्त होवे। इन तीनों अभिप्राय से समाप्ति में यह नाम दिया है। शिव से मंगलानन्तर, महेश्वर से उपक्रम कर, परमेश्वर में उपसंहार संगत है। महेश्वरादि अभ्यास है। सूक्ष्मतनु (नाम ७२), अव्यक्त (नाम १०२) आदि से अपूर्वता बतायी। अपवर्गप्रद (नाम १०५), तारक (नाम १०७) आदि फल का कथन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है । अन्धकासुरसूदन (नाम २६), गंगाधर (नाम २७), कृपानिधि (नाम ३०) आदि अर्थवाद हैं । शम्भु (नाम ३), कवची (नाम. ३६), अनन्त (नाम १०६) आदि उपपत्तियाँ हैं । इस प्रकार सारे स्तोत्र का तात्पर्य अद्वितीय महादेव में है यह निःसन्दिग्ध है । इसका जप पुण्यप्रद व चित्तशोधक है, तथा अर्थज्ञान मोक्ष का अमोघ उपाय है ।

भास्करराय परमेश्वरता को यों समझाते हैं–

ग्रामाणां पतयोऽपि सोपपदेश्वरा भुवि भूरिश-
स्तेऽपि स्वाश्रितमात्रपोषपरास्तथैव दिवौकसः ।
ईशानामपि चेशितासि निजाश्रिताश्रिततच्छ्रितान्
सर्वानप्यवसीशतापरमावधिः परमेश्वरः ॥ ११४ ॥

संसार में प्रचुरतया उपलब्ध गांव आदि के राजा भी सावधिक ईश्वर हैं । और वे भी केवल उन्हीं के पोषण में तत्पर रहते हैं जो उनके आश्रित हैं । इसी तरह देवता भी सावधिक ऐश्वर्य वाले और स्वाश्रितों के ही पोषक हैं । आप तो संसार में प्रसिद्ध सभी शासकों के शासक हैं और सभी की–अपने पर आश्रितों की, उन पर आश्रितों की, व आगे उन पर आश्रितों की भी रक्षा करते हैं । अतः ईशता की आप चरमसीमा हैं । इसलिये आप ही परमेश्वर हैं ।

ईश्वरशब्द अलौकिक नहीं । लोक में यदि कोई ईश्वर न हो तो शिव को ईश्वरशब्द से समझना ही असंभव हो जाये । ईश्वर का कोई अर्थ लोक प्रसिद्ध हो तभी उसके सहारे परमेश्वर को समझा जा सकता है । अतः राजा व देवताओं में ईश्वर पद की प्रवृत्ति दिखायी । किन्तु लौकिक ईश्वर सभी स्वयं किसी अन्य से शासित ही पाये जाते हैं । यह उनकी सावधिकता है । परिस्थिति, काल, परेच्छा आदि का नियमन सार्वभौम पर भी रहता है । देवता भी इन्हीं से नियंत्रित हैं । अतः सांसारिक ईश्वरों से परमेश्वर का एक वैलक्षण्य है कि उनकी ईश्वरता निरवधिक है, निरंकुश है । दूसरी बात लौकिक ईश्वरों में मिलती है कि ये उन्हीं की रक्षा व पुष्टि कर पाते हैं जो उन पर आश्रित हैं । भारत का राजा पाकिस्तान के लोगों की रक्षा या पुष्टि नहीं कर सकता । इसके विपरीत शिव सबकी रक्षा व सबका पोषण करते हैं । जो शिव पर आश्रित उनके भक्त हैं उनका, जो उन भक्तों पर आश्रित भक्तों के पुत्रादि हैं उनका तथा उन पुत्रादि पर आश्रित जो वध्वादि हैं उनका भी सर्व प्रकार से पालन शिव ही करते हैं । इस प्रकार निर्धारित होता है कि शिव की ईश्वरता परम है–सबसे अधिक है, उससे अधिक और कोई ईश्वरता नहीं । 'उमासहायं परमेश्वरम्' (कैव. १.७) आदि श्रुतियों में शिववाचक यह नाम प्रसिद्ध है ।

हरिणप्लुता छंद है । 'मात्सो जौ च भरौ च दन्तिशरेषुभिर्हरिणप्लुता'–प्रतिपाद मगण, सगण, दो जगण, भगण और रगण हों एवं आठवें, तेरहवें और अठारहवें वर्णों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पर यति हो तो हरिणप्लुता छन्द होता है। अन्यत्र प्रसिद्ध समान नाम वाले अर्धसमवृत्त से यह भिन्न है। उस मत में इस छन्द को हरिणप्लुत कहते हैं –'मात्सो जौ भरसंयुतौ करिबाणकै र्हरिणप्लुतम्'।

इस प्रकार अष्टोत्तर शतनामों का पद्यमय व्याख्यान कर, जो शिव के नामादि के माहात्म्य को जानते हैं उनकी प्रशंसा कर, अर्थतः शिवप्रताप दिखाने के लिये भास्करराय कहते हैं–

जानाति साम्ब ! तव नामरुचिं दधीचि- र्जानाति ते पदनखाग्रबलं दशास्यः ।
जानाति दोर्बलपराक्रममेष मेरु र्जानन्त्यमोघपटुबाणगतिं पुराणि ॥ ११५ ॥

हे साम्ब ! आपको अपने नाम कितने प्रिय लगते हैं यह दधीचि महर्षि जानते हैं (जिन्हें आपका नाम भजने से अमोघ बल मिला)। आपके पैर के नाखून की नोंक का बल दस मुखों वाला रावण जानता है (जो उस नोंक से दबाया जाने पर बहुत समय तक रोता रहा)। यह मेरुपर्वत आपके भुजवल के पराक्रम को जानता है (जो आपका धनुष बन चुका है)। विद्युन्माली आदि के कांचनमायादि पुर आपके अचूक कुशल बाण की गति को जानते हैं।

शिवपुराण-सतीखण्ड में (अध्य. ३८-३९) दधीचि और क्षुव की कथा आयी है। क्षुव एक वहुत तेजस्वी और विष्णुभक्त राजा था। उसकी दधीचि से मैत्री थी। एक बार विवाद हुआ कि ब्राह्मण श्रेष्ठ है या क्षत्रिय। क्षुव ने क्षत्रिय को श्रेष्ठ बताया तो दधीचि ने बायें हाथ से उसके सिर पर घूँसा मारा। राजा ने सक्रोध दधीचि पर वज्र प्रहार किया जिससे दधीचि गिर पड़े। तब शुक्र ने आकर उन्हें स्वस्थ किया और मृत्युंजयमंत्र का उपदेश दिया जिसकी उपासना से दधीचि ने शिव से वज्र के समान हड्डियाँ, सवसे अवध्यता और सर्वथा अदीनता पायी। तदनन्तर उन्होंने जाकर सभा के मध्य स्थित क्षुव को लात मारी। क्षुव अपने बल से उनका कुछ न विगाड़ पाया। उसने विष्णु की आराधना की। विष्णु ने दर्शन दिया और कहा कि यद्यपि सामान्यतः सभी ब्राह्मणों को और विशेषतः शिवभक्तों को किसी से भी भय नहीं होता, तथापि वे प्रयास करेंगे कि क्षुव दधीचि पर विजय पाये। विष्णु ब्राह्मण रूप से दधीचि के पास गये और उनसे एक वर मांगा, किंतु दधीचि ने उन्हें पहचान कर यह कहने से मना कर दिया कि वे क्षुव से डरते हैं। यही वर विष्णु ने माँगा था कि दधीचि एक बार क्षुव के संमुख यों कह भर दें। इस पर क्रुद्ध हो विष्णु ने देवताओं व स्वगणों सहित दधीचि पर आक्रमण कर दिया। दधीचि ने शिवस्मरण पूर्वक कुशप्रहार से ही सवको परास्त कर दिया–

कुशमुष्टिमथादाय दधीचिः संस्मरन् शिवम्। ससर्ज सर्वदेवेभ्यो वज्रास्थिः सर्वतो वशी ॥
शङ्करस्य प्रभावात्तु कुशमुष्टि र्मुने र्हि सा। दिव्यं त्रिशूलमभवत् कालाग्निसदृशं मुने ! ॥
(३९.२३-२४)॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तदनन्तर विष्णु ने विश्वरूप दिखाकर दधीचि को अभिभूत करना चाहा, किन्तु दधीचि ने स्वयं उन्हें विश्व रूप दिखाकर बता दिया कि इस क्षेत्र में भी वे दबने वाले नहीं। इस पर पुनः युद्ध प्रारंभ होने को था पर तब क्षुव ने विष्णु भगवान् को लड़ने से रोका और जाकर दधीचि की स्तुति की। श्रीहरि ने भी मुनि को प्रणाम किया। इस प्रकार मृत्युंजयमंत्र से बल प्राप्त कर और शिवनाम युक्त कुशों से ही देवताओं को पराजित करने वाले दधीचि ही भगवान् के नाम की महिमा-दीप्ति–जान सकते हैं, हम लोगों में इतनी सामर्थ्य कहाँ ? शिव को अपने नाम रुचते हैं तभी तो नामजप करने वालों पर इतने अधिक प्रसन्न हो गये। रावण की कथा रामायण में (उत्तर. अध्य. १६) आयी है। इसका वर्णन पूर्व में (श्लो. ६५) किया जा चुका है। एक ही बाण से तीन पुरों को नष्ट करने की त्रिपुरदाहलीला पुराणादि में बहुत जगह आयी है। इसका भी विस्तार पहले (नाम. ३८) किया जा चुका है।

नामकल्पलता के इस पद्यात्मक विवरण का वैशिष्ट्य बताते हैं–

इयं शम्भोरष्टोत्तरशतकनामार्थविवृति-
र्विजातीयैरष्टोत्तरशतकवृत्तै र्विरचिता।
फलं नामस्वार्थावगतिषु च भूम्नैव विदितं
बहूनां वृत्तानां प्रमितिरधिकाप्यत्र फलति ॥११६॥

शम्भु के एक सौ आठ नामों का यह विवरण विभिन्न एक सौ आठ छन्दों में रचा गया है। इसके अध्ययन से नामों के अर्थ समझ आयेंगे जिसका बहुत फल शास्त्रों में बताया है। (अर्थबोध अन्य प्रकार से संभव होने पर भी इसे पढ़ने से) बहुत छंदों का सही ज्ञानरूप फल अधिक होता है।

यद्यपि भाराक्रान्ता छन्द दो बार (श्लो. ४४, १०७) आया है तथापि प्रथम श्लोक के शार्दूलविक्रीडित को जोड़ने से एक सौ आठ की संख्या है। नामों का अर्थ तो नामी शिव ही है जिसे समझने का फल मोक्ष प्रसिद्ध है। अर्थज्ञान सहित जप का अधिक माहात्म्य भी पुराणों में वर्णित है। यास्कमुनि ने भी अर्थज्ञान से ही साफल्य बताया है, अन्यथा केवल भार ढोने की तरह मंत्रों का अध्ययन हो जाता है–

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत् अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥ निरुक्त. १.६.१८

अंत में अपने नाम का उल्लेख कर विवरण रचना का पूर्वोक्त (श्लो. ५) प्रयोजन पुनः स्मरण कराते हैं–

इति काशिनिवासिसाग्निचित्यक्रतुकृद् भास्कररायभारती।
जनुषः सफलत्वसिद्धये शिवनामाष्टशतं व्यवर्वरीत् ॥११७॥

अग्निचित्य सहित क्रतुओं को करने वाले काशीनिवासी 'भारती' उपनामक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भास्करराय ने अपना जन्म सफल करने के लिये शिव के अष्टाधिक शत नामों का विवरण किया ।

'छन्दोव्याकरणयो र्विरोधे छन्दो बलीयः', 'अपि माषं मषं कुर्यात् छन्दोभंगं न कारयेत्' इत्यादि न्याय से अथवा 'ङ्यापोः संज्ञाच्छन्दसो र्बहुलम्' (अष्टा. ६.३.६३) से काशीशब्द का ह्रस्वान्त प्रयोग है । 'भारती' यह भास्करराय का उपनाम था । अथवा भास्करराय की भारती अर्थात् वाणी ने यह विवरण किया यह अर्थ है । वि-उपसर्ग पूर्वक वृञ् वरणे (स्व. उ. से.) धातु का यङ्लुक् में लुङ्लकार का रूप है–'व्यवर्वरीत्' । प्रथम पाद औपच्छन्दसिक का व बाकी तीनों वैतालीय के हैं । सत्रहवें तथा उन्नीसवें श्लोकों में इनका लक्षण किया जा चुका है । इस प्रकार आलवाल नामक पद्य व्याख्या सहित नामकल्पलतास्तोत्र पूरा हुआ ।

यों भगवती को नामस्तोत्र बताकर विष्णु भगवान् बोले–

इमानि दिव्यनामानि जप्यन्ते सर्वदा मया । नामकल्पलतेयं मे सर्वाभीष्टप्रदायिनी ॥

इन दिव्य नामों को मैं सदा जपता हूँ । यह नामकल्पलता मुझे सब इष्टवस्तुओं की प्राप्ति कराती है ।

नामान्येतानि सुभगे ! शिवदानि न संशयः । वेदसर्वस्वभूतानि नामान्येतानि वस्तुतः ॥

हे भगवति ! इसमें संशय नहीं कि ये नाम शिवप्राप्ति में साधन बनते हैं । ये वास्तव में वेद का सार हैं ।

एतानि यानि नामानि तानि सर्वार्थदान्यतः । जप्यन्ते सादरं नित्यं मया नियमपूर्वकम् ॥

ये जो नाम है वे सब वस्तुओं के प्रदाता हैं । इसलिये मैं श्रद्धा-सहित नियमपूर्वक प्रतिदिन इनका जप करता हूँ ।

वेदेषु शिवनामानि श्रेष्ठान्यघहराणि च । सन्त्यनन्तानि सुभगे ! वेदेषु विविधेष्वपि ॥

विविध शाखात्मक वेद में शिव के श्रेष्ठ व पापहारी अनन्त नाम बताये गये हैं ।

तेभ्यो नामानि संगृह्य कुमाराय महेश्वरः । अष्टोत्तरसहस्रं तु नाम्नामुपदिशत् पुरा ॥

उन वेदोक्त नामों में से चुनकर एक हज़ार आठ नाम कार्तिकेय को स्वयं महेश्वर ने पहले बताये थे ।

ततोऽपि सारमुद्धृत्याब्रवीदष्टोत्तरं शतम् ॥

उन अष्टोत्तरसहस्र नामों में से भी सार निकाल कर एक सौ आठ नाम बताये ।

तानि नामानि जप्यन्ते मया प्रत्यहमादरात् । इत्युक्त्वा प्रणिपत्याम्बां सम्पूज्य च जनार्दनः ॥

ततो जगाम वैकुण्ठं प्रेषितो ज़गदम्बया ॥

वे ये एक सौ आठ नाम मैं रोज श्रद्धापूर्वक जपता हूँ । इतना कहकर माता शिवानी को प्रणाम कर उनसे आज्ञा पा वैकुण्ठ को चले गये ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शिवमाराधयन्ती सा गिरिजापि ततः शिवम् । सम्प्राप्ता शिवरूपं सा भूयः प्राप्तशिवाऽपि सा ॥

वह गिरिजा भी (इन नामों के सहारे) शिव की आराधना करती हुई शिवरूप को प्राप्त हुई । यद्यपि वह पहले भी शिवरूपिणी ही थी तथापि तपोमहिमा दिखाते हुए मानो पुनः शिवरूप हो गयी । इस प्रकार शिवरहस्य के सप्तम अंश के त्रयोदश अध्याय में उपदिष्ट 'शिवनामकल्पलतास्तोत्र' सम्पूर्ण हुआ ।

● ●

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अथ नामावलिः

ॐ शिवाय नमः
ॐ महेश्वराय नमः
ॐ शम्भवे नमः
ॐ पिनाकिने नमः
ॐ शशिशेखराय नमः
ॐ वामदेवाय नमः
ॐ विरूपाक्षाय नमः
ॐ कपर्दिने नमः
ॐ नीललोहिताय नमः
ॐ शङ्कराय नमः १०
ॐ शूलपाणये नमः
ॐ खट्वाङ्गिने नमः
ॐ विष्णुवल्लभाय नमः
ॐ शिपिविष्टाय नमः
ॐ अम्बिकानाथाय नमः
ॐ श्रीकण्ठाय नमः
ॐ भक्तवत्सलाय नमः
ॐ भवाय नमः
ॐ शर्वाय नमः
ॐ त्रिलोकेशाय नमः २०
ॐ शितिकण्ठाय नमः
ॐ शिवाप्रियाय नमः
ॐ उग्राय नमः
ॐ कपालिने नमः
ॐ कामारये नमः
ॐ अन्धकासुरसूदनाय नमः
ॐ गङ्गाधराय नमः
ॐ ललाटाक्षाय नमः
ॐ कालकालाय नमः
ॐ कृपानिधये नमः ३०
ॐ भीमाय नमः
ॐ परशुहस्ताय नमः
ॐ मृगपाणये नमः
ॐ जटाधराय नमः
ॐ कैलासवासिने नमः
ॐ कवचिने नमः
ॐ कठोराय नमः
ॐ त्रिपुरान्तकाय नमः
ॐ वृषाङ्काय नमः
ॐ वृषभारूढाय नमः ४०
ॐ भस्मोद्धूलितविग्रहाय नमः
ॐ सामप्रियाय नमः
ॐ स्वरमयाय नमः
ॐ त्रयीमूर्तये नमः
ॐ अनीश्वराय नमः
ॐ सर्वज्ञाय नमः
ॐ परमात्मने नमः
ॐ सोमसूर्याग्निलोचनाय नमः
ॐ हविषे नमः
ॐ यज्ञमयाय नमः ५०
ॐ सोमाय नमः
ॐ पञ्चवक्त्राय नमः
ॐ सदाशिवाय नमः
ॐ विश्वेश्वराय नमः
ॐ वीरभद्राय नमः
ॐ गणनाथाय नमः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ प्रजापतये नमः
ॐ हिरण्यरेतसे नमः
ॐ दुर्धर्षाय नमः
ॐ गिरीशाय नमः ६०
ॐ गिरिशाय नमः
ॐ अनघाय नमः
ॐ भुजङ्गभूषणाय नमः
ॐ भर्गाय नमः
ॐ गिरिधन्वने नमः
ॐ गिरिप्रियाय नमः
ॐ कृत्तिवाससे नमः
ॐ पुरारातये नमः
ॐ भगवते नमः
ॐ प्रमथाधिपाय नमः ७०
ॐ मृत्युञ्जयाय नमः
ॐ सूक्ष्मतनवे नमः
ॐ जगद्व्यापिने नमः
ॐ जगद्गुरवे नमः
ॐ व्योमकेशाय नमः
ॐ महासेनजनकाय नमः
ॐ चारुविक्रमाय नमः
ॐ रुद्राय नमः
ॐ भूतपतये नमः
ॐ स्थाणवे नमः ८०
ॐ अहये बुध्न्याय नमः
ॐ दिगम्बराय नमः
ॐ अष्टमूर्तये नमः
ॐ अनेकात्मने नमः
ॐ सात्त्विकाय नमः
ॐ शुद्धविग्रहाय नमः
ॐ शाश्वताय नमः
ॐ खण्डपरशवे नमः
ॐ अजाय नमः
ॐ पाशविमोचनाय नमः ९०
ॐ मृडाय नमः
ॐ पशुपतये नमः
ॐ देवाय नमः
ॐ महादेवाय नमः
ॐ अव्ययाय नमः
ॐ हरये नमः
ॐ पूषदन्तभिदे नमः
ॐ अव्यग्राय नमः
ॐ दक्षाध्वरहराय नमः
ॐ हराय नमः १००
ॐ भगनेत्रभिदे नमः
ॐ अव्यक्ताय नमः
ॐ सहस्राक्षाय नमः
ॐ सहस्रपदे नमः
ॐ अपवर्गप्रदाय नमः
ॐ अनन्ताय नमः
ॐ तारकाय नमः
ॐ परमेश्वराय नमः १०८

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आलवालीयच्छन्दसां सूची

छन्दः	श्लोकः
अनघः	६८
अपरवक्त्रम्	९१
अपराजिता	८०
अपरान्तिका	६९
अर्धाङ्गी	२६
अलोला	८४
असम्बाधा	८६
—	
आनन्दम्	१०९
आन्दोलिका	८९
आर्या	६, २१
आर्यागीतिः	२६
—	
इन्द्रवज्रा	६४
इन्द्रवंशा	२३
—	
उज्ज्वला	९६
उद्गीतिः	२४
उपगीतिः	९
उपस्थिता	७६
उपेन्द्रवज्रा	२५
—	
औपच्छन्दसिकं	१७
—	
कर्पूरम्	३१
कलहंसी	१००

छन्दः	श्लोकः
कलातन्त्रम्	१०५
कामदा	८३
कुटिलकम्	१०८
कुमारललिता	३८
कुसुमलतावेल्लिता	८७
—	
गीतिः	१३
गुणांगी	३५
गोवृषः	४६
—	
चन्द्रलेखा	७३
चित्रपदा	६६
चूडामणिः	७८
—	
जलधरमाला	७९
जलोद्धता	७५
जविपुला	९३
तनुमध्या	५३
तन्वी	७१
तोटकम्	२०
त्रयी	५०
—	
दुग्धम्	५५
द्रुतविलम्बितम्	११
—	
पणवः	६५
पथ्यावक्त्रम्	१६

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

छन्दः	श्लोकः
पञ्चचामरः	८८
पादाकुलकम्	४७
पारन्ती	९७
पुष्पिताग्रा	९२
पृथ्वी	१११
प्रभद्रकम्	११०
प्रमाणिका	२८
प्रमिताक्षरा	८५
प्रमुदितवदना	१०२
प्रियंवदा	१०३
भाराक्रान्ता	४४, १०७
भुजङ्गप्रयातम्	४१
भुजङ्गविजृम्भितम्	५६
भुजङ्गशिशुसृता	३४
भ्रमरविलसितम्	४२
मणिगणनिकरः	१०६
मणिमाला	११२
मत्तमयूरा	५७
मत्ता	२९
मदलेखा	७०
मन्दाकिनी	७४
मन्दाक्रान्ता	८१
महासेना	८२
मालाधरः	३३
मालिनी	३०
मृत्युञ्जयः	७७

छन्दः	श्लोकः
मेघविस्फूर्जिता	१४
मोदः	१९
रथोद्धता	५९
रमणम्	९५
रुक्मवती	३९
रुचिरा	१०१
ललिता	१५
लालसा	११३
लोचनम्	५४
वसन्ततिलका	१०, ११५
वंशस्थम्	८
वातोर्मी	४३
विद्युन्माला	२२
विपरीतचपला	९४
विबुधप्रिया	३२
विमोहा	५१
विश्वम्	६०
वृत्ता	६२
वैतालीयम्	१९
वैश्वदेवी	६१
शम्भुः	१८
शार्दूलललितम्	४९
शार्दूलविक्रीडितम्	१, ५
शालिनी	१२
शिखरिणी	४, ७, १०६

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

छन्दः	श्लोकः
शुद्धविराट्	३६
शेषः	९०
शोभा	३७
श्येनी	६३
–	
समानी	७२
सर्वज्ञः	५२
सुवदना	९८
स्रग्धरा	२, ३, ५८
स्रग्विणी	४८
स्वागता	४५
–	
हरिणप्लुता	११४
हरिणी	४०
हलमुखी	६७
हंसश्येनी	१०४
–	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi